Yog-Vashishta

विषय-सूची

(प्रथम खण्ड)

१. वैराग्य प्रकरण

३. उत्पत्ति प्रकरण

४. स्थिति प्रकरण

५. उपशम प्रकरण

(द्वितीय खण्ड)

६. निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्द्ध)

७. निर्वाण प्रकरण (उत्तरार्द्ध)

इस ग्रन्थ की विशेषताएँ

१. "यह शास्त्र अज्ञान तिमिर के नाश करने को ज्ञान रूपी शलाका है।"

२. "नाना प्रकार के दृष्टान्तों सहित जैसे आत्म-बोध का कारण यह शास्त्र है, वैसा कोई शास्त्र त्रिलोकी में नहीं। इसे जब विचारोगे तब परमानन्द को पाओगे।"

३. "जो सिद्धान्त इस ग्रन्थ में हैं वे और ग्रन्थों में भी मिलेंगे। जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगे। विद्वान लोग इसको सब विज्ञान शास्त्रों का कोश समझते हैं।"

४. "जो मनुष्य इसका बारम्बार विचार करेगा, वह यदि महामूर्ख हो तो भी शान्त पद को प्राप्त होगा।"

५. "मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती।"

– योग वाशिष्ठ

मोक्ष का उपाय

१. "हे राम! मोक्ष आकाश में नहीं, और न पाताल में है, न भूमि लोक में है। चित्त का निर्मल होना ही मोक्ष है।"

२. "तप और तीर्थ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं।"

३. "हे राम! मोक्ष किसी देश में नहीं कि वहाँ जाकर पाओ, न किसी काल में ही है कि अमुक काल आएगा तब मुक्त होगा। केवल अहंकार के त्याग से मोक्ष होता है।"

४. "शम, सन्तोष, साधु-संग और विचार ये मोक्ष के चार द्वारपाल हैं, जिनके सेवन से ये मोक्षरूपी राजमहल का दरवाजा खोल देते हैं।"

५. "जब जीव सब प्राणियों में आत्मा को, और आत्मा में सब प्राणियों को देखता है, और किसी प्रकार का भेद नहीं समझता, तब वह 'मुक्त' होता है।"

– योग वाशिष्ठ

सब कुछ ब्रह्म ही है

१. ''वह संसार की पराकाष्ठा है, वह सब दृष्टियों की सर्वोत्तम दृष्टि है वह सब महिमाओं की महिमा है, और सब गुरुओं का गुरु है।''

२. ''जैसे 'हवा' और उसका 'स्पन्दन' दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, केवल नाम मात्र का भेद है, वैसी ही 'आत्मा' और 'प्रकृति' दो भिन्न सत्ताएँ नहीं है।''

३. ''सोने से पृथक कड़ा, और जल से पृथक तरंग का अस्तित्व नहीं हो सकता, वैसे ही जगत् ईश्वर से पृथक नहीं हो सकता।''

४. ''हे राम! जगत् उसने उत्पन्न किया है, उससे उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार की बातें शास्त्र और व्यवहार के लिए ही हैं। वास्तविक नहीं हैं।''

५. ''ब्रह्म की वर्द्धन शक्ति ही जगत है, और जगत ब्रह्म का वृहण है।''

६. ''जो अज्ञानी को 'सब कुछ ब्रह्म है' इस सिद्धान्त का उपदेश देता है, वह उसे नरक की ओर प्रवृत्त करता है।''

– योग वाशिष्ठ

योग वाशिष्ठ

[प्रथम खण्ड]

१. वैराग्य प्रकरण
२. मुमुक्षु प्रकरण
३. उत्पत्ति प्रकरण
४. स्थिति प्रकरण
५. उपशम प्रकरण

[द्वितीय खण्ड]

६. निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्द्ध)
७. निर्वाण प्रकरण (उत्तरार्द्ध)

श्री नन्दलाल दशोरा की अन्य पुस्तकें

१. अष्टावक्र गीता
२. पातंजल योगसूत्र (योग दर्शन)
३. आत्मज्ञान की साधना
४. कर्मफल और पुनर्जन्म
५. महापुरुषों के अनमोल वचन
६. ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन)
७. तीन उपनिषद (ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वर)
८. विवेक चूड़ामणि
९. आत्म बोध
१०. धर्म का मर्म
११. अवधूत गीता
१२. मृत्यु और परलोक यात्रा
१३. योग साधना और उसके लाभ
१४. अध्यात्म, धर्म और विज्ञान
१५. धारणा, ध्यान और समाधि
१६. मन की अद्भुत शक्तियाँ
१७. ध्यान योग चिकित्सा (सचित्र)

□ □
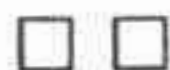
(अ) ग्रन्थ परिचय

योग वाशिष्ठ [महारामायण]

(क) योग वाशिष्ठ का महत्त्व

भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में योग-वाशिष्ठ का सर्वोपरि स्थान है। यह ग्रन्थ अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का सुविस्तृत विवेचन करने वाला एक अनुपम, महान् तथा अद्वितीय ग्रन्थ है जिसकी अन्य ग्रन्थों से तुलना नहीं की जा सकती। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला ऐसा अनूठा, अद्वितीय ग्रन्थ दूसरा नहीं है जिसमें भारतीय दर्शन एवं मान्यताओं का समस्त सार समाहित है। यह भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसके अध्ययन, चिन्तन एवं मनन से समस्त भ्रांतिपूर्ण धारणाएं निर्मूल होकर सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। ज्ञानियों के शिरोमणि महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होंने भगवान् राम को दिया जिससे वे जीवन्मुक्त होकर रहे। इस वशिष्ठ और राम संवाद ने ज्ञान का संग्रह महर्षि वाल्मीकि ने जन-कल्याण के लिए किया।

उस ग्रन्थ में केवल तात्त्विक विवेचन ही नहीं है अपितु मोक्ष साधना विधि को भी इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि हर पाठक इस विधि का घर बैठे प्रयोग कर सकता है। इसमें न हठयोग जैसी कठिन क्रियायें करनी हैं, न मन्त्र-जाप, न पूजा और प्रार्थना करनी है जिसमें किसी दक्ष गुरु की

आवश्यकता पड़े। यदि कोई साधक इसको पूर्णतया समझ कर स्वयं इन विधियों का प्रयोग करे तो निश्चित ही उसे मोक्ष-लाभ मिल सकता है जैसा कि इस ग्रन्थ में भी कई स्थानों पर स्पष्ट किया गया है।

भारतीय अध्यात्म जगत् में इसका सर्वाधिक महत्त्व है। भारतीय दर्शन के अन्य सभी ग्रन्थ इससे प्रभावित एवं अनुप्राणित हैं। अन्य ग्रन्थ यदि शिरायें हैं तो यह उन सबका हृदय है जिससे समस्त रक्त का प्रवाह होता है। इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से भारतीय चिन्तन का समस्त सार पाठक के मानस-पटल पर अंकित हो जाता है। इस ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् किसी ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। इस ग्रन्थ के विषय में ग्रन्थकार स्वयं कहता है-

''जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे अन्य ग्रन्थों में भी मिलेंगी। जो इसमें नहीं है, वे कहीं नहीं मिलेगी। विद्वान लोग इसको विज्ञान-शास्त्रों का कोश कहते हैं।''

यह ग्रन्थ इतना महान् एवं पूर्ण होते हुए भी इसमें कहीं भी धार्मिक कट्टरता, संकीर्णता एवं असहिष्णुता नहीं है। अपने मत को ही मानने का इसमें कहीं आग्रह नहीं है। यह मनुष्य की स्वतन्त्रता एवं मान्यता का पूर्ण सम्मान करता है। यह सभी धर्म के मार्गों को उचित सम्मान देता है। साम्प्रदायिक द्वेष, विवाद एवं घृणा का कारण यह अज्ञान को मानता है। इसमें अन्य किसी मत अथवा मान्यता का विरोध नहीं किया गया है न उनका खण्डन ही किया गया है, बल्कि सहिष्णुतापूर्वक उनको भी स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ में युक्तियुक्त बात को ही मान लेने की बात कही गई है चाहे वह किसी बालक द्वारा ही क्यों न कही गई हो, किन्तु जो

युक्तियुक्त बात नहीं कहता उस ग्रन्थ को फेंक देना चाहिए, चाहे वह किसी ऋषि का ही लिखा हुआ क्यों न हो। इतनी निर्भीकतापूर्वक सत्य को ही स्वीकार करने का आग्रह अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलेगा। ग्रन्थकार स्वयं कहता है–

१. ''जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है, उस मार्ग से चले बिना उसकी गति न शोभा देती है, न सुख देती है, न उसके हित के लिए है, और न शुभ फल देने वाली है।'' (नि. उ. १३०/२)

२. ''जिस प्रकार बहुत से मुसाफिर नाना देशों से चले आते हुए मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं, उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ-पद को नाना देश और काल में ज्ञात हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं।'' (उ. ९६/५१)

३. ''युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिए, लेकिन युक्ति से च्युत को तृण के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वह ब्रह्मा ने ही क्यों न कही हो।'' (मु. १८/३)

(ख) सर्वमान्य एवं प्रामाणिक गन्थ है

यह ग्रन्थ अद्वैत का सर्वमान्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। वेदान्त की अद्वैत धारणा को प्रतिपादित करने वाले अन्य ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, षट्दर्शन, गीता, अष्टाचक्र गीता, ब्रह्मसूत्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामचरित मानस, अठारह पुराण आदि अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं किन्तु इन सबके सार-रूप सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला यह ग्रन्थ अनूठा ही है जिसमें इस अद्वैत भावना का पूर्ण समायोजन हुआ है। इसलिए

भारत के वेदान्त साहित्य में यह ग्रन्थ सबका शिरोमणि माना जाता है। इस ग्रंथ की प्रामाणिकता इसी बात से सिद्ध होती है कि कई उपनिषदों के सूत्र इसी से लिये गये हैं। गीता में भी इसके सूत्र पाये जाते हैं, आदिशंकराचार्य ने भी इसके सिद्धांतों का उपयोग किया है। इसमें अन्य ग्रन्थों की युक्तियों का सहारा नहीं लिया गया है। यह सारा ग्रन्थ प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित है तथा समस्त मानव जाति के लिए सत्य एवं कल्याणकारी है।

(ग) आध्यात्मिक पक्षों का समावेश है

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें सभी आध्यात्मिक पक्षों का समावेश किया गया है जिनमें परब्रह्म, ब्रह्मा, जगत्, जीव, मन, बुद्धि, अहंकार, शरीर, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि का तात्विक विवेचन है तथा साथ ही बन्धन, मोक्ष, जीवन्मुक्ति, कर्म-बन्धन, कर्त्तव्य, ज्ञानी और अज्ञानी तथा ज्ञान-बन्धु के लक्षण, 'मैं' का स्वरूप, दुःखों का कारण, दुःख निवृत्ति के उपाय, आत्म-ज्ञान, मोक्ष, प्राप्ति के उपाय, योग की सिद्धियाँ, प्राणों की गति, मन का निग्रह, कुण्डलिनी शक्ति, आदि का समावेश कर साधक एवं मुमुक्षु के लिए ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग खोल दिया है। इतना ही नहीं इसका एक वैज्ञानिक की भांति राम पर प्रयोग करके उनको आत्मबोध कराकर यह प्रमाणित कर दिया है कि इस ग्रन्थ के श्रवण मात्र से पात्रता होने पर मुमुक्षु आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो सकता है। ऐसे प्रयोग के और भी उदाहरण इस ग्रन्थ में दिय गये हैं जिनको सुन कर ही आत्म-बोध हो जाता है जैसे भरद्वाज, अरिष्टनेमि, शुकदेव आदि को हो गया। यह अद्‌भुत

ग्रन्थ भारत की समस्त दार्शनिक मान्यताओं का सार (निचोड़) है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद अन्य किसी ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। भक्तों के लिए जिस प्रकार भागवत् पुराण, कर्म योगियों के लिए गीता, योगियों के लिए पातंजल योगसूत्र, जीवन्मुक्ति के लिए अष्टावक्र गीता का जो स्थान है वही स्थान ज्ञानियों के लिए योगवाशिष्ठ का है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। यह ग्रंथ ज्ञान-प्राप्ति कराकार मुक्ति दिलाने वाला होने के कारण सब दर्शनों एवं मान्यताओं का उत्कृष्ठ एवं शिरोमणि ग्रन्थ माना जा सकता है।

(घ) भाषा एवं शैली रोचक है

इस ग्रन्थ की भाषा सरल एवं शैली रोचक तथा काव्यात्मक है। शुष्क एवं क्लिष्ट योगसूत्रों को भी दृष्टान्तों के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि वे सामान्य पाठक को भी आसानी से समझ में आ जाते हैं। सभी योगसूत्रों का युक्तियुक्त ढंग से विवेचन किया गया है तथा गूढ़ तत्त्वों को भी सरल एवं प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया गया है। ग्रन्थकार स्वयं कहता है-

> ''यह शास्त्र सुबोध है, अलंकारों से विभूषित है। सुन्दर और रसपूर्ण काव्य है। इसके सूत्र दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।'' (मु. १८/३३)

(ङ) यह एक विशाल ग्रन्थ है

यह मूल ग्रन्थ एक विशाल ग्रन्थ है जिसमें बत्तीस हजार श्लोक बताये जाते हैं किन्तु मूल रूप में यह उपलब्ध नहीं है।

इसका एक संस्करण निर्णय सागर, बम्बई से प्रकाशित हुआ है जिसे वर्तमान में प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसके अन्य कई संस्करण अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित किये गये हैं जिनमें सर्गों एवं श्लोकों की संख्या में काफी भिन्नता पाई जाती है। योग्य-वाशिष्ठ के मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण के सर्ग संख्या 17 (अध्याय 10) में इसकी प्रकरण, सर्ग एवं श्लोक-संख्या निम्न प्रकार से दी गई है-

	प्रकरण	सर्ग	श्लोक-संख्या
1.	वैराग्य	33	1,500
2.	मुमुक्षु व्यवहार	20	1,000
3.	उत्पत्ति	122	7,000
4.	स्थिति	62	3,000
5.	उपशम	93	5,000
6.	निर्वाण (पूर्वार्द्ध)	128	14,500
7.	निर्वाण (उत्तरार्द्ध)	216	
		674	32,000

किन्तु पूर्ण श्लोक-संख्या किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित संस्करण में श्लोक एवं सर्ग संख्यानिम्न प्रकार है-

	प्रकरण	सर्ग	श्लोक-संख्या
1.	वैराग्य	33	1,145
2.	मुमुक्षु व्यवहार	20	807
3.	उत्पत्ति	122	5,404
4.	स्थिति	62	2,404
5.	उपशम	93	4,277
6.	निर्वाण (पूर्वार्द्ध)	128	14,275
7.	निर्वाण (उत्तरार्द्ध)	216	
		674	28,312

इस ग्रन्थ के अन्य भी कई प्रकाशन हो चुके हैं किन्तु यह सम्पूर्ण ग्रन्थ इतना विशाल है कि इसके सम्पूर्ण भाग का रसास्वादन करना कठिन है तथा उपलब्ध भी नहीं है।

इस ग्रन्थ में एक दोष भी है कि इसमें पुनरुक्ति अधिक है। एक ही तथ्य को बार-बार कई स्थानों पर कहा गया है तथा इसमें कोई विषय क्रम भी नहीं जिससे एक विषय की सामग्री एक साथ नहीं मिलती। प्रकरण विभाजन नाममात्र का है।

(च) ग्रन्थ का रचना काल और लेखक

योग-वाशिष्ठ के अनुसार महर्षि वशिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र थे। उनको यह ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था। भारतीय दर्शन की मान्यतानुसार ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता माना जाता है तथा उन्हें ज्ञान के भी आदिगुरु कहा गया है। ब्रह्मा से ही दो प्रकार की शक्तियों का आविर्भाव होता है- 'ज्ञान-शक्ति' तथा 'क्रिया शक्ति'। सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण इन्हीं दो शक्तियों से होता है। इस प्रकार ब्रह्मा ही ज्ञान के आदिस्रोत हुए। इसका यदि प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाय तो यह ज्ञान अनादि, शाश्वत तथा सनातन है जो गुरु-शिष्य परंपरानुसार आदि काल से चला आ रहा है। इस ज्ञान का उपदेश महर्षि वशिष्ठ ने श्रीराम को दिया जिससे वे जीवन्मुक्त होकर रहे। महर्षि वाल्मीकि ने इस ज्ञान का संग्रह किया जैसा वे स्वयं कहते हैं कि-

''मैंने इसकी रचना ब्रह्मा जी के आदेशानुसार महर्षि भरद्वाज को ज्ञान देने हेतु की थी।''

इस प्रकार इस ग्रन्थ का रचयिता महर्षि वाल्मीकि को ही

माना जाता है।

किन्तु इसमें कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके आधार पर विद्वान् एवं इतिहासकार इसे वाल्मीकि की रचना न मानकर बहुत बाद की रचना मानते हैं। उदाहरणार्थ, इसमें महाभारत के संग्राम एवं गीता के उपदेश का वर्णन है। इसमें बौद्धमत के विज्ञानवाद, शून्यवाद तथा मध्यमार्ग का भी उल्लेख है तथा उसका समन्वय भी किया गया है। इस्लाम धर्म एवं ईसाई धर्म का भी उल्लेख है। इस आधार पर कुछ विद्वान इसे 13वीं और 14वीं शताब्दी का ग्रन्थ मानते हैं। कुछ की राय में यह आदि-शंकराचार्य से पूर्व का माना जाता है। कुछ इसे पाँचवीं और छठी शताब्दी का मानते हैं।

कुछ की राय में इसका समय भर्तृहरि से पूर्व का तथा कालिदास के बाद का है।

किन्तु ऐसे ग्रन्थों का रचना काल निश्चित करना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि ऐसा ज्ञान शाश्वत होता है, जो सनातन भी है और अनादि भी। ऐसे ज्ञान पर कोई स्वयं के होने का दावा भी नहीं कर सकता। भारतीय दर्शन एवं मान्यताओं के सभी सिद्धांत, सभी उपनिषद्, गीता, अष्टावक्र गीता, रामायण, महाभारत सभी पुराण आदि मेंज्यों के त्यों उपलब्ध हैं। इन सिद्धांतों का निर्माण किसी व्यक्ति ने नहीं किया बल्कि वैदिक मान्यता ही इन सबका आधार है। ऐसी स्थिति में किसी भी ग्रंथ के सिद्धांतों को मौलिक नहीं कहा जा सकता। इनका लेखक भी किसी को निश्चित नहीं किया जा सकता। इन सिद्धांतों का संग्रहकर्ता हो सकता है जिसे लेखक मानना उचित नहीं है। इसीलिये ऐसे सिद्धांत ग्रंथों का कोई लेखक या रचयिता नहीं है क्योंकि कोई भी सिद्धांत

उनके मौलिक नहीं है। महर्षि वाल्मीकि ने भी कहा है कि मैंने इनका संग्रह किया है। परम्परा से आने के कारण इसे ईश्वरीय ज्ञान भी कहा जाता है। इसीलिये वशिष्ठ जी ने कहा-''यह ज्ञान मुझे ब्रह्मा से प्राप्त हुआ है जो युक्तिसंगत ही है।

दूसरा कारण यह भी है कि इस ग्रन्थ में बत्तीस हजार श्लोक बताये गये हैं। ऐसे विशाल ग्रन्थ का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी खास समय में किया गया हो यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। यह वशिष्ट-राम संवाद बहुत ही छोटा रहा होगा। जो गुरु-शिष्य परम्परानुसार मौखिक रूप से चलता रहा होगा। हो सकता है कुछ शिष्यों ने अपने सीमित साधनों से उसे लिपिबद्ध भी कर लिया हो। ऐसा ज्ञान प्रत्येक आचार्य के शिष्यों के पास संग्रहीत रहा होगा। उस समय विभिन्न सम्प्रदाय एवं मत-मतान्तर जैसी भी बात नहीं रही थी जो बाद में जाकर सिद्धांत-भेदों व मान्यताओं के कारण विकसित हुई। जब ऐसा साहित्य अधिक बढ़ गया तो कुछ आचार्यों ने इसे संकलित करने की बात सोची होगी एवं विभिन्न आचार्यों और शिष्यों के पास जो-जो सामग्री उपलब्ध हुई होगी उसका सकलन कर विस्तृत ग्रन्थ बनाने के लिए परवर्ती दार्शनिकों ने कुछ स्थल बाद में जोड़ दिये हो क्योंकि उस समय तक यह प्रकाशित नहीं हुआ था। सकलन और सम्पादन के समय भी इसको अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए कई प्रसग बाद में जोडे गये हों। मूल उपदेश जो वशिष्ठ ने राम को उनका विषाद दूर करने एव उन्हें आत्मबोध कराने हेतु दिया था वह निश्चित ही बहुत छोटा रहा होगा। बौद्धवाद का उपदेश, गीता का उपदेश, अरिष्टनेमि का उपदेश, शुकदेव

का उपदेश आदि का राम को उपदेश देना युक्तिसंगत ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार इसे पूर्ण अध्यात्मिक ग्रंथ बनाने की दृष्टि से ही ये स्थल इसमें जोड़े गये हैं।

कुछ भी कारण रहा हो ज्ञानार्थी का सम्बन्ध ज्ञान से ही होता है। भारतीय दर्शन की मान्यताओं का सार निचोड़ इस ग्रन्थ में समाहित है। यह कब लिखा गया, किसने लिखा आदि बातें शाश्वत मूल्य के ग्रन्थों में लागू ही नहीं होतीं। अतः ये महत्त्वहीन है। हमारी समस्त आध्यात्मिक मान्यताएँ ही उपनिषदों, गीता, पुराण आदि में व्यक्त हुई है जो भारतीय दर्शन का सार है। इनको लेखक और समय की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। आध्यात्मिक ज्ञान के जिज्ञासु व्यक्तियों तथा साधकों को जो सामग्री चाहिए वह इसमें पर्याप्त मात्रा में है जिससे इस मार्ग पर चलकर वे आत्म-कल्याण कर सकते हैं। अतः ज्ञान के इच्छुक व्यक्तियों का यह सच्चा साथी एवं मार्ग-दर्शक है। सनातन एवं शाश्वत ज्ञान देश, काल, और परिस्थिति की सीमा से बद्ध नहीं किया जा सकता। जो अनादि सत्य है वह आज भी सत्य है एवं आगे भी रहेगा। यह विज्ञान की तकनीक जैसा नहीं है जो समय और परिस्थिति के अनुसार बदल जाय। इस प्रकार इसका लेखक और लेखन-काल का निर्धारण इसे सीमित बना देता है जो न्याय संगत नहीं है। अतः इसके रचयिता वाल्मीकि को मानना उचित है।

(छ) शिक्षा की अनूठी विधि का प्रयोग

यदि इस ग्रन्थ की शिक्षा-विधि पर विचार किया जाय तो वशिष्ठ ने जिस विधि का प्रयोग करके राम को ज्ञानोपदेश करके उनके अज्ञान एवं भ्रान्ति का निराकरण कर आत्मानन्द से आलोकित कर दिया, वह एक अनूठा ही प्रयोग था। ऐसा

ही प्रयोग अष्टावक्र ने राजा जनक पर किया जो श्रवणमात्र से ही जीवन्मुक्त हो गये।

योग-वाशिष्ठ में अपनायी गई शिक्षण-विधि सार्थक, उपयोगी एवं शीघ्र स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने वाली है। इस विधि के निम्न पक्ष हैं-

(1) राम की ज्ञान पिपासा

शिक्षा का प्रभाव उसी पर होता है जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की प्यास है। जो ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक नहीं है उसे ज्ञान देने का प्रयत्न करना वैसा ही है जैसे सूअर के आगे हीरे बिखेर देना जो उन्हें पाँवों तले कुचल मात्र देगा। जो ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक ही नहीं है उसे कभी भी उच्च-कोटि का ज्ञान नहीं दिया जा सकता चाहे ज्ञानदाता स्वयं ब्रह्मा या बृहस्पति ही क्यों न हों। इसके विपरीत ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति जीवन की हर परिस्थिति एवं घटना से तथा हर व्यक्ति से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र पिपासा होने पर उसे सद्गुरु कहीं ढूँढना नहीं पड़ता, बल्कि वह सद्गुरु स्वयं उसके पास आता है। गुरु भी योग्य शिष्य की सदा तलाश में रहता है जैसे विवेकानन्द को रामकृष्ण, जनक को अष्टावक्र, और राम को वशिष्ठ मिले। ऐसा मिलन संयोग मात्र नहीं है बल्कि प्रकृति का शाश्वत नियम है। राम की ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा ही उनकी जीवन्मुक्ति का कारण है। जब ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से पूर्व जन्म के सुसंस्कारों के फलस्वरूप अनायास ही जाग्रत होती है तो सुफल देने वाली होती है। विवेकानन्द, भर्तृहरि, शुकदेव, जनक, राम, रामकृष्ण आदि की ज्ञान-पिपासा ने ही उन्हें उच्च

ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनाया। राम में भी सर्वप्रथम ऐसी ही ज्ञान-पिपासा जाग्रत हुई तभी वशिष्ठ ने उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार करके ज्ञानोपदेश दिया।

(2) शिष्य की पात्रता

ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा का होना ही ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है। गुरु उस शिष्य की पात्रता की परीक्षा लेकर ही उसे ज्ञानोपदेश देता है। जिस शिष्य में पात्रता है वही उस ज्ञान का लाभ उठा सकता है अन्यथा वह इस उच्च ज्ञान का दुरुपयोग कर स्वयं का तथा समाज का अहित कर सकता है। योग-वाशिष्ठ में कहा है-

''जिसमें अभी बुद्धि का पूरा प्रकाश नहीं हुआ है, उसको इस प्रकार के सिद्धांत का उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि वह सिद्धांत को भोग की दृष्टि से काम में लाकर नाश की ओर प्रवृत्त होगा।'' (४/३९/२१)

''पहले शिष्य को शम, दम आदि अच्छे गुणों द्वारा शुद्ध करना चाहिए, तब उसको 'सब कुछ ब्रह्म है' इस प्रकार का उपदेश करना चाहिए।'' (४/३९/२३)

''जो अज्ञानी को, 'सब कुछ ब्रह्म है' इस सिद्धांत का उपदेश देता है, वह उसे नरक की ओर प्रवृत्त करता है।'' (४/३९/२४)

इस प्रकार सर्वप्रथम गुरु उस शिष्य की पात्रता की परीक्षा करता है। इस परीक्षा में खरा उतरने पर ही उसे अपने पास बिठा कर ऐसा ज्ञान देता है। यदि उसकी जिज्ञासा तो है किन्तु पात्रता नहीं है तो वह सर्वप्रथम शम, दम आदि नियमों का पालन करने को कहता है। उसकी पूर्ण चित्त-शुद्धि होने पर

ही वह उच्च ज्ञान का उपदेश देता है। राम की विषाद् की स्थिति तथा चित्त की निर्मलता को देखकर ही वशिष्ठ ने समझ लिया कि वे आत्मज्ञान के अधिकारी थे तथा उनको ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा थी तभी उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार किया। ऐसी ही पात्र्ता की शर्त पूरी करवा कर ही अष्टावक्र ने राजा जनक को, राजा जनक ने शुकदेव को ज्ञान का उपदेश दिया। ये जप, तप, ध्यान, यज्ञ, पूजा आदि साधन चित्त-शुद्धि के ही उपाय हैं जिनसे ज्ञान की पात्रता आती है।

(3) सैद्धान्तिक विवेचन

पात्रता की शर्त पूरी होने पर गुरु शिष्य के सामने पहले सृष्टि रचना का सैद्धान्तिक विवेचन करता है जिससे शिष्य इस सम्पूर्ण सृष्टि-रहस्य को हृदयंगम कर ले। इसके बाद वह साधना के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालता है। इससे शिष्य की रुचि जाग्रत होकर वह ध्यानस्थ हो जाता है। ध्यान द्वारा जब वह पूर्ण ग्राहक की स्थिति में आ जाता है तब गुरु उसे अन्तिम एवं सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य को उसके सामने प्रकट करता है जिसे वह तत्काल ग्रहण कर लेता है जिससे उसका समस्त अज्ञान एवं भ्रान्ति दूर होकर वह आत्मज्ञान के आलोक से आलोकित हो जाता है। शिष्य को इस स्थिति मेंपहुँचा देना ही गुरु का उद्देश्य होता है। इसमें शिष्य के साथ गुरु भी अपनी सफलता मानता है। जिस गुरु के शिष्य तो हज़ारों हों किन्तु वह एक को भी आत्म-ज्ञान करा कर जीवन्मुक्त न करा सके तो वह असफल गुरु है। वह अपने गुरु पद का अधिकारी भी नहीं है।

(4) *प्रयोग विधि*

जिस प्रकार एक विज्ञान का अध्यापक अपने छात्रों को सैद्धान्तिक विवेचन करने के बाद उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए प्रयोगशाला में विद्यार्थी से विभिन्न प्रयोग करवाता है जिससे छात्र उसकी सत्यता को स्वयं देख सके, उसी प्रकार इस ग्रन्थ में हर सिद्धान्त का गुरु ने प्रयोगात्मक पक्ष भी राम के सामने विभिन्न उपाख्यानों द्वारा रख कर यह सिद्ध किया कि ये सिद्धांत विभिन्न व्यक्तियों पर किस प्रकार घटित हुए। इस प्रकार शिष्य के सम्मुख यह ज्ञान कोरा सैद्धान्तिक ज्ञान न होकर प्रयोग सिद्ध होने से पूरी तरह हृदयंगम हो जाय।

(5) *आत्मज्ञान की साधना*

अध्यात्म के अनुसार आत्म-ज्ञान तो गुरु के उपदेश से एक ही क्षण में होता है किन्तु उसके लिए पात्रता प्राप्त करने में समय लगता है। पात्रता पूर्ण होने पर ही गुरु ज्ञान का उपदेश देता है अन्यथा वह पात्रता की तैयारी के लिए साधना करवाता है। लम्बे समय की साधना केवल चित्त-शुद्धि के लिए ही होती है अन्यथा साधना का कोई प्रयोजन नहीं है। साधना से उपलब्धि नहीं होती बल्कि पात्रता आती है। साधना से चित्त-शुद्धि होकर साधक पूर्ण ग्राहकता की स्थिति में आ जाता है। यही उसकी पात्रता है तथा इसी स्थिति में गुरु उसे ज्ञानामृत का पान कराता है तभी उसका प्रभाव शिष्य पर होता है अन्यथा वह जहर भरे पात्र में अमृत उडेलने के समान होता है जिससे अमृत भी जहर बन जाता है और जहर मिश्रित अमृत स्वयं के एवं समाज के लिए हानिकारक ही सिद्ध होता है। जनक, शुकदेव, राम आदि की पात्रता पूर्ण होने से ही गुरु के

उपदेश से वे एक ही क्षण में सुनते-सुनते ही आत्म-बोध को उपलब्ध हो गये अन्यथा सम्पूर्ण जीवन तक भी उपलब्धि नहीं होती।

(6) *शिष्य की परीक्षा*

आत्म-बोध के बाद गुरु, शिष्य की परीक्षा भी लेता है कि उसे जो ज्ञान हुआ है वह वास्तविक है या भ्रान्ति मात्र है। ऐसे ज्ञान में भ्रान्ति की अधिक गुंजायश रहती है। कोई भी अज्ञानी शिष्य 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं शिव हूँ', 'यह सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म ही है' आदि बातें कह कर गुरु को भी धोखा दे सकता है अथवा उसकी स्वयं को भ्रान्ति भी हो सकती है जिसमें वह स्वयं को आत्मा, ब्रह्म आदि मान बैठता है। इसलिए गुरु उस शिष्य की पूर्ण परीक्षा लेकर ज्ञात करता है कि उसे जो ज्ञान हुआ है वह सत्य हुआ है या भ्रान्ति मात्र है। अष्टावक्र ने ऐसे ही जनक की परीक्षा ली, वशिष्ठ ने राम की परीक्षा ली। ऐसी परीक्षा के बाद ही गुरु शिष्य को ज्ञानी या जीवन्मुक्त घोषित करता है।

(7) *अन्तिम उपदेश*

ऐसी परीक्षा में खरा उतरने पर गुरु शिष्य को आशीर्बचन के रूप में अपना अन्तिम उपदेश देता है जो उसका दीक्षान्त प्रवचन होता है तथा साथ ही उसके जीवन की मंगल-कामना करता हुआ उसे ज्ञान के सदुपयोग करने का निर्देश देता हुआ विदाई देता है।

अध्यात्मिक ज्ञान के लिए यह विधि अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, मनोवैज्ञानिक, प्रयोग एवं परीक्षण पर आधारित, सुरुचिपूर्ण एवं सारगर्भित है जिससे अपेक्षित परिणाम ही सामने आते है।

तथा इस ज्ञान का दुरुपयोग नहीं हो पाता।

(ज) कथा प्रसंग

योग-वाशिष्ठ की कथा एवं उपदेशों का आरम्भ राम के वैराग्य से होता है। जब रामचन्द्र जी शैशवावस्था को पार करके युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे तो उनके मन में संसार, जीवन, सम्पत्ति, स्त्री आदि सभी सांसारिक पदार्थों एवं भोगों के प्रति वैराग्य भावना का उदय हो गया। उन्हें संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखाई देने लगा तथा संसार एवं भोगों की क्षण-भंगुरता का आभास हुआ। वे शाश्वत सुख एवं शांति प्राप्त करने के इच्छुक हो गये। उन्हें यह अनुभव होने लगा कि "इस संसार में कुछ भी सार नहीं है। यह मृग-मरीचिका के समान वासना ग्रस्त मनुष्य को ही प्रभावित करता है जो दुखों का कारण है क्योंकि उस मृग-तृष्णा के जल से किसी की प्यास बुझती नहीं तथा वह इस अज्ञान एवं झूठे भ्रम में तड़प-तड़प कर अपने प्राण गँवा देता है। इस जीवन का अन्तिम परिणाम मृत्यु ही है जिससे कोई नहीं बच पाया है तथा इस सम्पूर्ण जीवन के भोगों को भोगकर भी वह अतृप्त रहकर खाली ही लौट जाता है। इसलिए ये भोग सारहीन ही हैं। इस जीवन का कोई लक्ष्य ही नहीं है। यहाँ लोग मरने के लिए ही पैदा होते हैं और पैदा होने के लिए मरते हैं। यह संसार अस्थिर एवं नित्य परिवर्तनशील है। इसका विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके सभी भोग अन्त में दुःखों का ही कारण बनते हैं। इस संसार में कहीं सुख दिखाई नहीं देता है, न शांति है। यहाँ मूढ़ लोग जी लेते हैं किन्तु विचार करने पर ये दुःखरूप प्रतीत होते हैं। इस संसार में भोगों का आनन्द

मूढ़ों का ही आनन्द है, आदि।''

इस प्रकार की वैराग्य भावना के कारण उनकी संसार एवं भोगों के प्रति रुचि नहीं रही। वे आशाहीन, निराशावादी और खिन्नमना हो गये। वे इनसे मुक्ति का उपाय सोचने लगे। यहां तक कि वे अन्न-जल का भी परित्याग कर शरीर छोड़ने को भो तैयार हो गये। वे किसी प्रकार इस संसार से बाहर होना तथा सत्य एवं शाश्वत पद को प्राप्त करना चाहते थे जिससे उन्हें परमानन्द की प्राप्ति हो।

उनकी इस शोचनीय दशा का हाल जब राजा दशरथ को ज्ञात हुआ तो उस समय विश्वामित्र भी उपस्थित थे जो अपनी यज्ञ-रक्षा के लिए राम तथा लक्ष्मण को लेने आये थे। विश्वामित्र ने जह राम की इस दशा को सुना तो उन्होंने राम को बुलवाया तथा महर्षि वशिष्ठ से उन्हें ज्ञान का उपदेश देने को कहा जिससे उनका सब शोक दूर हो, तथा वे जीवन्मुक्त होकर आदर्श पुरुष की भाँति अपना जीवन बिता सकें।

जब राम को वहाँ बुलाया गया तो राम ने अपनी सारी व्यथा विस्तारपूर्वक कह सुनाई। राम की तत्त्व-ज्ञान की जिज्ञासा को देखकर मुनि विश्वामित्र ने उन्हें ज्ञान का का उत्तम अधिकारी समझकर शुकदेव मुनि की कथा कह कर उनकी ज्ञान-पिपासा को और जाग्रत कर दिया। इसके बाद महर्षि वशिष्ठ से उनको ज्ञान का उपदेश देने का का आग्रह किया। वशिष्ठ ने भी योग्य पात्र समझकर उन्हें सृष्टि के रहस्य एवं तत्त्व-ज्ञान का उपदेश दिया जिसके सुनने से ही वे आत्म-बोध को प्राप्त जीवन्मुक्त होकर रहे।

महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से उन्हें जो ज्ञान दिया वही 'योग-वाशिष्ठ' महारामायण नाम से विख्यात

हुआ। वेदान्त पर ऐसा सारभूत उपदेश अन्यत्र नहीं मिलता इसलिए इस ग्रन्थ को ज्ञान-प्राप्ति के लिए शिरोमणि ग्रन्थ माना गया है।

यह उपदेश महर्षि वशिष्ठ को उनके पिता ब्रह्मा द्वारा प्राप्त हुआ था जिसका संग्रह महर्षि वाल्मीकि ने किया तथा भरद्वाज को इसका उपदेश दिया। इसके बाद राजा अरिष्टनेमि को दिया। वे भी इसको सुनकर आत्म-ज्ञान को प्राप्त हुए। अत: इसका सर्वाधिक महत्त्व है।

(झ) आध्यात्मिक रहस्य

योग-वाशिष्ठ मूलत: एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें न तो शुष्क दार्शनिक सिद्धान्त है न कोरा सैद्धान्तिक विवेचन ही है, बल्कि यह एक साधना-ग्रन्थ भी है जो व्यक्ति को आत्मनुभूति द्वारा इस संसार चक्र से मुक्त कराकर कैवल्य अवस्था की प्राप्ति कराने वाला विज्ञान है। कैवल्य प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विज्ञान में अनेक साधनों का वर्णन है जिनका इसमें समावेश कियां गया है। व्यक्ति अपनी रुचि, स्वभाव एवं सुविधा के अनुसार विभिन्न साधन अपनाकर मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है किन्तु ये सब साधन ज्ञान-प्राप्ति के साधन मात्र है जिनकी अन्तिम उपलब्धि 'ज्ञान' ही है। सृष्टि, जगत्, जीव, ब्रह्म आदि का स्पष्ट अनुभव आत्मानुभूति द्वारा ही होता है जिससे वह असत्य, भ्रम, माया, अज्ञान, प्रकृति आदि से मुक्त होकर यह अनुभव करता है कि मैं शुद्ध चेतन तत्त्व ब्रह्म ही हूँ। अज्ञानवश ही अथवा माया के भ्रम में पड़कर मैं अपने को क्षुद्र जीव समझ बैठा था। यह अज्ञान ग्रंथि जब खुल जाती है तो जीव 'शिव' हो जाता है,

'**ब्रह्म**' हो जाता है। वेदान्त के अनुसार जीव ईश्वर बनता नहीं बल्कि वह ईश्वर का ही अंश होने से स्वयं ईश्वर ही है। अज्ञान अथवा अविद्या के कारण वह अपने को उससे भिन्न क्षुद्र जीव समझ बैठा था। इस भ्रान्ति का निवारण आत्मानुभूति के बिना नहीं होता तथा आत्मानुभूति के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। यह ग्रन्थ सृष्टि की रचना से लेकर जीव को आत्मानुभूति तक के स्तर तक पहुँचा कर उसे मोक्ष-प्राप्ति कराने वाला एक अद्भूत ग्रन्थ है।

संसार में अनेक प्रकार के दुःख है, अशांति है, राग, द्वेष, घृणा, आसक्ति, मोह, वासना, प्रेम, संघर्ष आदि सब कुछ है जिसकी चक्की में मनुष्य पिसता जा रहा है। उसे जीवन में न शांति का अनुभव होता न आनन्द का। पैदा होकर जीवन भर इन संघर्षों में उलझकर अपने प्राण गँवा देता है तथा फिर दोबारा भोगने के लिए पैदा हो जाता है। उसके हाथ कुछ नहीं आता। यही उसकी नियति बन गई है, तथा यही उसका भाग्य। इसके आगे जीवन में कुछ पाने योग्य भी है जो उसे शाश्वत सुख व शांति दे सकता है, इसका उसे ज्ञान ही नहीं हो पाता। इसका कारण है, उसके चारों ओर एक अज्ञान का परदा पड़ा है, एक झूठी माया का आवरण है जिससे वह इस सत्य एवं शाश्वत ज्ञान से वंचित है। इस असत्य आवरण को ही सत्य मानने की भ्रान्ति में जी रहा है तथा इसी में रहकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसा अनेक जन्मों से होता आ रहा है किन्तु मनुष्य की मूढ़ता की कोई सीमा ही नहीं है कि इतने जन्मों के अनुभव के बाद भी कुछ नहीं सीख पाया है कि इसका अन्त भी किया जा सकता है। जिस क्षण उसे संसार की अनित्यता, असारता, अस्थिरता तथा इसके मिथ्यात्व का

बोध हो जाता है। वहीं उसके ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा खुल जाते हैं, उसकी उस शाश्वत पद को प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होती है जो एक शुभ संकेत हैं। यह शाश्वत पद, जहाँ सभी सुख-दुःख शान्त होकर जीव परमानन्द का अनुभव करता है, तथा संसार का यह पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिए शान्त हो जाता है उसे ज्ञानी लोग कैवल्य-धाम, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है-

''यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम।''

(गीता १५/६)

परमधाम की प्राप्ति के लिए भारतीय दर्शन ग्रन्थों में अनेक मार्ग बताये गये हैं। कोई किसी मार्ग से चले सब वहीं पहुँचते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग-मार्ग का प्रतिपादन किया जो मूलतः पुरुषार्थ का मार्ग है। इसमें अष्टांग-योग द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। इसी निरोध से योग सिद्ध होता है जिसका अन्तिम फल निर्बीज समाधि है जहाँ पहुँचकर इस वासना के बीज के सर्वथा नष्ट हो जाने पर वह संसार-चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यह योग मार्ग निरापद है किन्तु इसमें हर स्तर पर विभूतियों (सिद्धियों) का सामना करना पड़ता है जिससे प्रभावित होकर साधक भटक सकता है अथवा उनका दुरुपयोग करके पुनः नये कर्म संग्रहीत कर लेता है जिससे वह अनेक जन्मों में भी मुक्त नहीं हो सकता। जो यम नियमों का पूर्णतया पालन किये बिना इस योग-मार्ग में उतर जाता है, उसके भटकने के अवसर बढ़ जाते हैं। हठयोग, तन्त्र आदि की क्रियाएँ अधिक कष्ट-साध्य हैं तथा बिना गुरु के समीप्य के वे सम्पन्न नहीं

की जा सकतीं। इसलिए सर्वसाधारण के लिए वे उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकतीं।

इन सबसे विपरीत योग-वाशिष्ठ में वर्णित ज्ञान-मार्ग एक ऐसा सरल मार्ग है जिसमें न अष्टांग योग साधना है, न हठयोग की क्रियाएँ आवश्यक है, न कुण्डलिनी जाग्रत करना है, न तांत्रिक क्रियाएँ करनी है। यहाँ तक कि मन्त्र, जप, पूजा, पाठ, यज्ञ, देवोपासना, कठिन तपस्या, भक्ति आदि कुछ भी आवश्यक नहीं है। महर्षि वशिष्ठ तो यहाँ तक कहते हैं कि इनसे ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। ये सभी साधन, मुक्ति-प्राप्ति के साधन नहीं है।

महर्षि वशिष्ठ का उपदेश है कि "आत्म-ज्ञान केवल विचार से होता है, वह न तप से सिद्ध होता है, न अध्ययन से, न गुरु से होता है, न पुस्तकों से।" वे कहते हैं आत्म ज्ञान हुए बिना स्थाई सुख नहीं मिलता तथा स्थाई सुख के बिना शान्ति नहीं मिलती। अज्ञानी (जिन्हें आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है) अपने कर्म फल का भोग करने के लिए संसार में आते हैं तथा भोग समाप्ति कर ही उनकी ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है। तभी उनके मन में विषाद् की स्थिति आती है जिससे उन्हें समस्त संसार की असारता का ज्ञान होता है, उन्हें जीवन में दुःख ही दुःख दिखाई देता है एवं निराशा आ जाती है। ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होने पर उनका ज्ञान द्वार खुलता है। बुद्ध को भी ऐसी ही स्थिति का अनुभव हुआ है, राम को भी ऐसा ही अनुभव हुआ तथा अन्य सभी मुमुक्षुजनों को ऐसा ही अनुभव होता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए यही पात्रता है। गुरु को ढूँढा नहीं जाता। जब व्यक्ति में इस प्रकार की पात्रता आ जाती है तो गुरु अपने आप किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरणा से

स्वयं उपस्थित हो जाता है, यह सृष्टि का नियम है। जीवन एवं संसार के प्रति ऐसी निराशा का होना, उसकी असारता का ज्ञान हो जाना पूर्व के कई जन्मों के अनुभवों का फल है कि अनेक जन्मों में मैंने ये सब कार्य बार-बार किये हैं तथा अभी कर रहा हूँ, आखिर इन सबका सार क्या है? क्या उद्देश्य है इनका? अनेक जन्मों से दौड़ रहा हूँ व पहुँचा कहीं भी नहीं हूँ। क्या दौड़ना व मर जाना और फिर पैदा होकर दौड़ना ही सृष्टि का नियम है अथवा पहुँचने का कोई स्थान भी है जहाँ पहुँच कर सारी दौड़ समाप्त हो जाती है? इस प्रकार के विचार का उत्पन्न होना ही अध्यात्म में प्रवेश द्वार खोलता है। दौड़ तो सभी रहे हैं, किन्तु ऐसा अनुभव कुछ ही लोगों को होता है जिनकी बुद्धि अति तीव्र है, तथा जो सर्वाधिक संवेदनशील है। यह संवेदनशीलता भी अनेक जन्मों के अनुभवों के आधार पर आती है। मूढ़ों में सब कुछ भोगते हुए भी ऐसी संवेदनशीलता नहीं आ पाती इसीलिए उनके द्वार खुलते नहीं। वह मूढ़ता में ही पैदा होता है, मूढ़ता में ही सब कुछ सहन कर जी लेता है तथा मूढ़ता में ही मर जाता है। यही उसकी नियति है।

इस मूढ़ता का अन्त न होने का एक मूल कारण है उसके कर्म-संस्कार। अज्ञानी का जीवन कर्म-संस्कार की प्रेरणा से ही चलता है। ये कर्म-संस्कार मनुष्य में वासना पैदा करते हैं जिससे वह भोगों की ओर ही प्रवृत्त होता है। जब तक भोगों की प्रति वासना का क्षय नहीं होता तब तक उसकी ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा ही जाग्रत नहीं होती। ऐसा व्यक्ति जिसकी भोगों में ही रुचि है, वह ज्ञान-प्राप्ति के लिए योग्य पात्र भी नहीं है तथा उसको ज्ञान का उपदेश देना उसे और नरक में

ढकेलना है क्योंकि वह इस ज्ञान का उपदेश भी भोग एवम् वासना-पूर्ति हेतु ही करेगा जिससे उसका पतन होगा। अष्टावक्र गीता में अष्टावक्र कहते हैं-

''भोग की इच्छा रखने वालों के लिए यह तत्त्व-बोध त्यक्त है।''

ऐसा ही वशिष्ठ कहते हैं-

''जिसमें अभी बुद्धि का पूरा प्रकाश नहीं हुआ है, उसको इस प्रकार के सिद्धान्त का उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि वह सिद्धान्त को भोग की दृष्टि से काम में लाकर नाश की ओर प्रवृत्त होगा।'' (४/३९/२१)

''जो अज्ञानी को 'सब कुछ ब्रह्म है' इस सिद्धान्त का उपदेश देता है, वह उसे नरक की ओर प्रवृत्त करता है।'' (योग-वाशिष्ठ)

संसार की असारता का ज्ञान कर्म-संस्कारों के क्षीण हुए बिना नहीं होता। इससे पूर्व कोई कितना जी जप, तप, व्रत, नियम, भक्ति, योग, यज्ञ आदि का साधन करे, उसे ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए सर्वप्रथम इन संस्कारों के क्षय करने का उपाय करना चाहिए। इन संस्कारों के क्षय होने से ही चित्त शुद्ध होता है तथा शुद्ध-चित्त में ही आत्मा के प्रकाश का अनुभव होता है। अतः चित्त-शुद्धि प्रथम आवश्यकता है। इस ग्रन्थ में चित्त-शुद्धि के भी अनेक उपाय बताये गये हैं। वशिष्ठ कहते हैं-

''हे राम! सबसे पहले शास्त्रों के श्रवण से, सज्जनों के सत्संग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो।''

''शास्त्राध्ययन, सज्जनों के संग और शुभ कर्मों के करने से जिनके पाप दूर हो गये हैं, उनकी बुद्धि दीपक के

समान चमकने वाली होकर सार वस्तु को पहचानने योग्य हो जाती है।" (५/५/५)

इसलिए चित्त-शुद्धि से ही बुद्धि निर्मल होती है तथा निर्मल बुद्धि ही उस उच्च ज्ञान को ग्रहण करने योग्य होती है जिसे ग्रहण करके उसे आत्मानुभव होता है। यही ज्ञान जीव की मुक्ति का कारण है। अन्य कोई उपाय नहीं है। जिसकी भोगों में ही रुचि है उसे ज़बर्दस्ती अध्यात्म में प्रवेश कराने के प्रयत्न के दुष्परिणाम अधिक होते हैं। ऐसा प्रयत्न कच्चा फल तोड़ने के समान ही है। परिपक्वता पर पहुँचने पर ही जब उसको संसार से स्वाभाविक रूप से विरक्ति का अनुभव होने लगे तभी कोई शिक्षा शुभ फल देने वाली होती है। जबर्दस्ती थोपा गया संन्यास, वैराग्य, शास्त्रज्ञान, सत्संग आदि से उपलब्धि तो होती नहीं, जीवन और विकृत हो जाता है। अतः इसे स्वाभाविक रूप से ही विकसित होने देना चाहिए। कई लोग मुक्ति की महत्वाकांक्षा में पड़कर घरबार छोड़कर संन्यासी हो जाते हैं, कर्म छोड़ देते हैं, वेश बदल लेते हैं, शरीर पर राख लगा कर, नग्न होकर त्यागी, तपस्वी होने का दंभ करते हैं। किन्तु इसका त्याग, वैराग्य, चित्त-शुद्धि एवं आत्म-ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। न यह मोक्ष का मार्ग है न ज्ञान-प्राप्ति का। यदि स्वभाविक रूप से किसी में ऐसी स्थिति आती है तो वही शुभ संकेत है। अतः साधक को अपनी स्वाभाविक स्थिति को पहचानकर कार्य करना चाहिए। अस्वाभाविक कार्य उसे पथभ्रष्ट कर विनाश की ओर ही ले जाता है। जिनको त्यागी, संन्यासी, आत्मज्ञानी होने का झूठा भ्रम हो गया है कि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, मैं त्यागी हूँ, तपस्वी हूँ, संन्यासी हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ आदि, ऐसे व्यक्ति

महाअन्धकार में भटकते रहते हैं। अपने स्वभाव के अनुकूल व्यवहार करने से पाखंड नहीं होता तथा उसकी दुर्गति भी नहीं होती। गीता में कहा है-

"स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।"

(गीता ३/५)

अपने धर्म (स्वभाव) के अनुकूल कार्य करना तथा उसमें रहकर मर जाना भी श्रेयस्कर है। उसमें सद्‌गति होती है जबकि स्वभाव के विपरीत कार्य करना खतरनाक है।

वृक्ष उगने पर समय पर ही फल लगते हैं। जैसा प्रकृति का नियम है उसी के अनुसार कार्य करने से उचित परिणाम सामने आते हैं। मनुष्य प्रकृति को कभी भी नहीं बदल सकता। वह उसको कार्य करने का अवसर मात्र देता है। मनुष्य का कार्य प्रकृति की शक्तियों का समुचित उपयोग करना तथा उसके बीच में आई बाधाओं को हटाना मात्र है। डाक्टर बीमारी का इलाज नहीं करता। वह स्वास्थ्य में आई बाधाओं को दूर करता है। वैज्ञानिक प्रकृति की शक्तियों का निर्माण नहीं करता। वह तो इनको ज्ञात करके इनका उपयोग मात्र करता है। माली पौधों के बढ़ने एवम् उनके स्वस्थ विकास का अवसर मात्र देता है तथा बाधाओं को हटाता है। इसी प्रकार ज्ञान भी स्वाभाविक रूप से प्रकृति के नियमों के अनुसार कार्य करने पर प्राप्त होता है। मनुष्य ने अज्ञानवश उस ज्ञान-प्राप्ति में अनेक अवरोध खड़े कर दिये हैं। मनुष्य अपने विवेक एवं साधना द्वारा केवल इन अवरोधों को हटाता मात्र है। ये अवरोध स्वयं के पुरुषार्थ से ही हटते हैं। गुरु, शास्त्र आदि इसमें सहायक होते हैं। इसलिए साधक को स्वाभाविक गति का ही अनुसरण करना चाहिए।

किन्तु स्वाभाविक रूप से विकास क्रम के आधार पर यदि मनुष्य निर्भर रहे जो उसे ज्ञान-प्राप्ति में अनेक जन्म व्यतीत करने पड़ेंगे तब कहीं उन समस्त जन्मों में अनुभव किये गये संस्कारों के कारण उसे स्व-चेतना की अनुभूति होगी। यह समय इतना लम्बा है कि उसमें निरन्तर सुख-दुःखों, जन्म-मृत्यु आदि के चक्र से गुजरना ही पड़ेगा। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति इसको कम समय में ही प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। जिस प्रकार अनेक वैज्ञानिक विधियों से वृक्ष छोटी उम्र में ही फल देने लगते हैं, उसी प्रकार तीव्र जिज्ञासा एवं संकल्प से स्वाभाविक समय से पूर्व ही आत्मानुभव संभव है किन्तु इसके लिए दक्ष माली (गुरु) की आवश्यकता अनिवार्य है अन्यथा प्रकृति के नियमों से विपरीत कार्य करने पर कष्ट ही होगा एवं फल प्राप्ति संभव ही नहीं है। इस ग्रन्थ में ऐसी ही सरल एवं स्वाभाविक साधना की बात कही गई है जिसका प्रयोग करके कम अवधि में ही ज्ञान-प्राप्ति का लाभ लिया जा सकता है। स्वाभाविक प्रक्रिया से व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन बना रहता है। अस्वाभाविक क्रियायों से कई शारीरिक एवं मानसिक विकृतियाँ आने तथा मानसिक संतुलन बिगड़ने की सम्भावना बढ़ जाती है।

महर्षि वशिष्ठ आत्मानुभूति के लिए घर छोड़कर जंगल में जाने को नहीं कहते। वे कहते हैं–आत्मनुभूति एक अवस्था है जो मन के स्थिर होने पर कहीं भी प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए वे तीन अभ्यास मुख्य रूप से बताते हैं–

(1) तत्त्व का अभ्यास, (2) प्राणों की गति का निरोध तथा (3) मन का निग्रह। इनमें से किसी एक के अभ्यास से तीनों सिद्ध हो जाते हैं। ये अभ्सास कहीं भी किये जा सकते

हैं। जंगल में जाना आवश्यक नहीं है।

महर्षि वशिष्ठ वैराग्य का अर्थ वासना त्याग से लेते हैं। घर छोड़कर जाना वैराग्य नहीं है। गीता, अष्टावक्र गीता, पतंजलि आदि का यही उपदेश है कि ज्ञान-प्राप्ति में विवेक और वैराग्य परम आवश्यक है। जे॰ कृष्णमूर्ति ने भी 'श्री गुरुदेव चरणेषु' में विवेक, वैराग्य, सदाचार और प्रेम इन चारों योग्यताओं की अध्यात्म-पथ पर चलाने के लिए परम आवश्यकता बताई है। जगद् गुरु शंकराचार्य ने भी विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान) और मुमुक्षुत्व ये ज्ञान के चार साधन बताये हैं। जिनके सम्पन होने पर ही मुमुक्षु तत्त्व-विवेक (यथार्थ ज्ञान) के अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार वैराग्य एक योग्यता है जिससे साधक इस मार्ग पर चलने का अधिकारी बनता है। वैराग्य का अर्थ संसारिक कामनाओं का त्याग है। ऐसा वैराग्य लिया नहीं जाता बल्कि पूर्व जन्मों की अनुभूतियों के आधार पर संवेदनशील व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से घटित होता है। ऐसा वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। पढ़कर, सुनकर, क्षणिक आवेश में आकर, किसी विपत्ति के कारण घर छोड़ कर चले जाना वैराग्य नहीं है किन्तु जब स्वाभाविक रूप से संसार की असारता का ज्ञान होने लगे तो वह वैराग्य की स्थिति है। इसे पहचानने के लिए तीव्र संवेदनशीलता आवश्यक है अन्यथा वह अवसर हाथ से निकल जाता है। संवेदनशीलता का सम्बन्ध बुद्धि से कम तथा भावना से अधिक है। इसलिए भावना प्रधान व्यक्ति इस मार्ग से अधिक सफल होते हैं। कोरी बुद्धि का प्रयोग करने वाला व्यक्ति तर्क-वितर्क, अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य आदि में ही उलझा रहता है जो

बुद्धि का गुण है। इस प्रकार वैराग्य भावना पूर्व-संस्कारों का ही फल है। गुरु, शास्त्र, सत्संग आदि निमित्त मात्र होते हैं। अध्यात्म-मार्ग में चलने की जिज्ञासा अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों के फलस्वरूप आती है जिसमें उपलब्धि तक कई जन्म और लग जाते हैं। इस समय को साधना द्वारा गति को बढ़ाकर कम किया जा सकता है। यह ग्रन्थ एक ऐसा रसायन है जिसका श्रद्धापूर्वक नियमित सेवन से हर स्तर का व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है इसमें कोई संशय नहीं है।

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी एक विकास क्रम से गुजर रहा है। मनुष्य इस जीव-जगत् का सबसे विकसित प्राणी है किन्तु अभी पूर्ण मानव बनने की प्रक्रिया में वह आरंभ में ही है। पूर्ण मानव बनने की सभी क्षमतायें एवं संभावनायें उसमें विद्यमान है। आवश्यकता है उनके विकास की। सुप्त प्रतिभा का विकास एक ओर संसार से सम्बन्ध स्थापित कराता है तो दूसरी ओर अध्यात्म के द्वार भी खोलता है। जब मनुष्य उस परम चेतन तत्त्व ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करता है तो उसे 'योग' कहते हैं। इसी को 'ज्ञान' कहा जाता है। यदि यह प्रतिभा उसे संसार में भोगों की ओर ले जाती है तो उसे 'अज्ञान' अथवा 'अविद्या' कहा जाता है। शक्ति वही है जिसका प्रवाह दो भिन्न दिशाओं में होता है-विवेक, वैराग्य द्वारा इसका संसार की ओर से मार्ग परिवर्तन कर यदि उसे आत्मानुभूति में लगाया जाय तो वही 'ज्ञान' प्राप्ति का हेतु बन जाता है। यदि संसार की ओर उसका उपयोग किया जाय तो वह 'विज्ञान' कहलाता है। सदाचार, धर्म-पालन, कर्त्तव्य-पालन, सेवा, सहायता, प्रेम, भक्ति, दया, करुणा, अहिंसा आदि मानवीय गुणों के जीवन में पालन से उसकी अध्यात्म की

ओर गति तीव्र होती है तथा घृणा, द्वेष, हिंसा, छल, कपट, स्वार्थ, बदले की भावना आदि से व्यक्ति का इस मार्ग से पतन होता है जिससे लक्ष्य प्राप्ति में अनेक जन्म और लग जाते हैं। इसलिए विवेकी पुरुष को उच्च मार्ग की ओर बढ़ने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इन दोनों मार्गों को ही अध्यात्म में 'विद्या' और 'अविद्या' कहा गया है अविद्या का मूल कारण अज्ञान है जो आत्मानुभूति के बाद ही नष्ट होता है। आत्मानुभूति का अर्थ है सम्यक् ज्ञान, यथार्थ ज्ञान। जिससे सत् और असत् का, सत्य और भ्रम का, सत्य और मिथ्या का, पुरुष और प्रकृति का, ईश्वर और माया का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है, जिससे भ्रान्ति का निवारण हो जाता है। इसी को मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण कहा जाता है जिसे प्राप्त कर व्यक्ति आवागमन से मुक्त होकर परमानन्द का अनुभव करता है। इसलिए आत्मानुभूति, स्वानुभूति का प्रयत्न करना ही प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है।

योग-वाशिष्ठ में ज्ञान की सात भूमिकायें बतलाई गई हैं जिनमें प्रत्येक भूमिका में क्रम से ही गुजरना पड़ता है। इन भूमिकाओं में बिना आयास से ही गुजरकर सर्वसाधारण को भी मुक्त-लाभ हो सकता है।

इस ग्रन्थ में जहाँ साधना पक्ष का विस्तृत विवेचन है वहाँ पर-ब्रह्म, ब्रह्मा, जगत्, जीव, मन, बुद्धि, अहंकार, पुरुषार्थ, शरीर, कर्म, कर्म-बन्धन, इनसे मुक्ति, मृत्यु आदि का भी पूर्ण एवम् प्रामाणिक तात्त्विक विवेचन है। दोनों दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ है। ऐसे अद्‌भुत ग्रन्थ की रचना करके महर्षि ने जगत् का महान् कल्याण किया है।

इस ग्रन्थ की इतनी विशेषताएँ है तथा विषय-सामग्री का

चयन इस प्रकार किया गया है कि हर पाठक इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इसके बारे में अधिक कहना उचित प्रतीत नहीं होता। पाठक इसे पढ़कर स्वयं इसका आनन्द-लाभ कर तथा इसके बताये मार्ग पर चलकर अपना कल्याण स्वयं कर सकते हैं। यही इसकी विशेषता है।

(ब) योग वाशिष्ठ के सिद्धान्त [वाशिष्ठ गीता]

1. योग-वाशिष्ठ की विशेषतायें

1. जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे और ग्रन्थों में भी मिलेंगी। जो इसमें नहीं है वे कहीं नहीं मिलेंगी। विद्वान लोग इसको सब विज्ञान-शास्त्रों का कोश कहते हैं।
2. मोक्ष-प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती।
3. यह ग्रन्थ सब दुःखों का क्षय करने वाला, बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देने वाला और महा आनन्द-प्राप्ति का एकमात्र साधन है।
4. जो इसका नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धि वाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।
5. युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिए, लेकिन युक्ति से च्युत बात को तृण के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वह ब्रह्मा ने ही क्यों न कही हो।

2. वैराग्य भावना

6. संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है। सभी अनित्य है।
7. विषयों की भावना ही संसार से सब को बाँधती है।
8. यहाँ पर प्राणी मरने के लिए उत्पन्न होता है, और उत्पन्न

होने के लिए ही मरता है।

9. सभी भोग विनाशशील है एवं दुःखदायी है।
10. सुख केवल दुःख के लिए है, और जीवन मरण के लिए है।
11. स्त्री के सौन्दर्य का एक मात्र कारण मोह है।

3. दुःखों का कारण अज्ञान है

12. यह संसाररूपी प्रवाह अज्ञानी की ही मूर्खता से चल रहा है। अज्ञानी को ही घोर सुख-दुःख होते हैं।
13. हमारी इच्छा ही वस्तु से सुख का आभास उत्पन्न कराती है।
14. सुख और दुःख न देह को होते हैं, न आत्मा को होते हैं अज्ञान से ही इनका अनुभव होता है। उसके नष्ट होने पर इनका अनुभव किसी को नहीं होता।

4. ज्ञान से ही दुःखों का नाश होता है

15. संसार से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान है। तप, दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं है।
16. सब दुःखों का नाश आत्मानुभव से होता है।
17. ज्ञानरूपी नौंका द्वारा बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार समुद्र से निमेष मात्र में ही पार हो जाते हैं।
18. 'निर्वाण' नाम वाला परमानन्द ज्ञान से ही प्राप्त होता है।
19. जिसने कुछ समय के लिए भी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली, उसका मन भोगों में नहीं लग सकता।
20. आत्मानुभव में विश्राम पाकर फिर हमको भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता।

21. आत्मज्ञान के बिना शांति प्राप्त नहीं हो सकती।

5. दुःखों का क्षय पुरुषार्थ से होता है

22. सब दुःखों का क्षय करने के लिए पुरुषार्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।
23. दुःखों का क्षय पुरुषार्थ से होता है।
24. जो उद्योग को छोड़कर भाग्य पर भरोसा करते हैं वे अपने ही दुश्मन है।
25. जो कुबुद्धि लोग यह समझते है कि सब कुछ भाग्य के अधीन है, वे नाश को प्राप्त होते हैं।
26. दैव कभी कुछ नहीं करता। यह केवल कल्पना मात्र है कि दैव ही सब कुछ करता है।
27. दैव मूर्ख लोगों की कल्पना है। बद्धिमान् लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके अच्छे पद प्राप्त करते हैं।
28. दैव की कल्पना कम बुद्धि वालों को दुःख के समय आश्वासन देने के लिए है।
29. पूर्वकृत पुरुषार्थ ही का नाम 'दैव' है।
30. मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे पूर्व के अशुभ कर्म शान्त हो जायें।
31. यदि संसार में आलस्यरूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता।
32. अपने ही प्रयत्न के सिवा कभी और कोई हमको सिद्धि देने वाला नहीं है।
33. तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके।

6. आत्म-ज्ञान की विधि

34. आत्म-ज्ञान केवल विचार से होता है। वह न तप से सिद्ध होता है न अध्ययन से, न गुरु से होता है, न पुस्तकों से।
35. सबसे पहले शास्त्रों के श्रवण से, सज्जनों के सत्संग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो।
36. शास्त्राध्ययन, सज्जनों के संग और शुभ-कर्मों के करमे से जिसके पाप दूर हो गये हैं, उसकी बुद्धि दीपक के समान चमकने वाली होकर सार वस्तु को पहचानने योग्य हो जाती है।
37. आत्म-ज्ञान केवल स्वयं विचार करने से होता है।
38. आत्म दर्शन न शास्त्र द्वारा होता है और न गुरु द्वारा। आत्मा ही के द्वारा शुद्ध बुद्धि से आत्मा देखी जाती है।
39. शम, सन्तोष, साधु-संग और विचार ये मोक्ष के चार द्वारपाल हैं जो मोक्षरूपी राजमहल का दरवाजा खोल देते हैं।
40. सज्जनों का संग इस लोक में सन्मार्ग का दिखाने वाला और हृदय के अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है।
41. जिस प्रकार अपने अनुभव बिना खांड क्या वस्तु है, यह नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार स्वानुभूति बिना आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता।
42. शास्त्र और गुरु आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते। उसका दर्शन तो केवल अपने आप ही अपनी स्वस्थ बुद्धि द्वारा होता है।

43. ज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं–(1) शास्त्रों व सज्जनों की संगति, (2) विचारणा, (3) असंग भावना, (4) विलापनी, (5) आनन्दरूपा, (6) स्वसंवेदनरूपा, (7) परिप्रौढ़ा।

7. बन्धन और मोक्ष

44. बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानियों की मिथ्या कल्पनाएं हैं। बन्धन और मोक्ष दोनों अज्ञान और भूल के कारण हैं।
45. वास्तव में न बन्धन है न मोक्ष। बन्धन और मोक्ष का मोह अज्ञानियों के लिए ही है। ज्ञानियों के लिए नहीं है।
46. जगत् के पदार्थों की वासना के दृढ़ होने का नाम 'बन्धन' है।
47. वासना का होना और न होना ही बन्धन और मोक्ष के कारण हैं।
48. सब इच्छाओं से अलग होकर जो चित्त का क्षीण हो जाना है, उसे आत्मदर्शी तत्त्वज्ञानी 'मोक्ष' कहते हैं।
49. वासना रहित होकर स्थित होने का नाम 'निर्वाण' है।
50. आत्मा में मन की क्रिया के ऐसे शान्त हो जाने को, जैसे कि दीपक बुझ जाता है, 'निर्वाण' है।
51. संकल्प रहित मन की स्थिति का नाम 'मोक्ष' है।
52. ज्ञानी लोग इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों का तिरस्कार नहीं करते, और अप्राप्त विषयों को पाने का यत्न नहीं करते।
53. जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने बालकपन के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते हैं।
54. चित्त की शान्ति और समता तो योग से प्राप्त होती है, न

कि कर्मेन्द्रियों को स्थगित कर देने से।

55. स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता।
56. व्यवहार में जैसा अज्ञानी है वैसा ही ज्ञानी है। भेद केवल वासना का है, जो कि बन्धन और मोक्ष का कारण है।
57. जो मन से मुक्त है वही मुक्त है। जो मन से बद्ध है वही बद्ध है।

8. कर्म बन्धन

58. कोई भी कर्म फल लाये बिना कभी नहीं रहता।
59. कर्म का प्रथम स्वरूप मानसिक है। मन का स्पन्दन और कर्म एक ही है।
60. कर्मों का बीज वासनात्मक है। इसी का फल प्राप्त होता है।
61. कर्म और मन में कोई भेद नहीं है दोनों अभिन्न हैं।
62. कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। ये दोनों इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे बर्फ और उसकी शीतलता।
63. अज्ञानी को अपने सब कर्मो का फल इसलिए भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मों का सार वासना है। वासना के क्षीण हो जाने से ज्ञानी को अपनी किसी क्रिया का फल नहीं भोगना पड़ता ।
64. वासना रहित क्रिया फल नहीं लाती।
65. सम, शुद्ध और विकार रहित बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है वह कभी दोष नहीं लाता।
66. जिस मूर्ख ने मन से त्याग नहीं किया। वह शुभ या अशुभ क्रियाओं को न करता हुआ भी सदा संसार समुद्र

में डूबता ही रहता है।

67. कार्य का कर्त्ता होने के कारण ही जीव उसका फल भोगने वाला होता है, यह सिद्धान्त है।
68. चाहे कोई क्रिया करे या न करे तो भी जैसी-जैसी वासनाएँ होती है, स्वर्ग और नरक में वैसा-वैसा ही फल उसका मन अनुभव करता है।
69. ज्ञानी वासनाओं के क्षीण हो जाने से कर्म को करके भी उसका फल नहीं भोगता।
70. कर्म का कर्त्ता मन ही है, शरीर नहीं।
71. मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का, सब लोकों का, सब गतियों का बीज है। उसके त्याग देने से सब कर्मों का त्याग हो जाता है, सब दु:ख क्षीण हो जाते हैं।
72. जिसको ज्ञान की दृष्टि प्राप्त नहीं है, उसे कर्म पर निर्भर रहना चाहिए।
73. बाहर से सब काम करते हुए मन के भीतर आशा, राग और वासना से रहित होकर संसार से विचरण करो।
74. बुद्धिमान लोगों में जैसे कर्म करने की कामना नहीं होती, वैसे ही कर्म त्यागने की भी कामना नहीं होती।
75. चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, जब तक शरीर में चित्त है तब तक कर्म का त्याग असंभव है।
76. मुक्त पुरुषों को भी स्वाभाविक कर्म का त्याग करना उचित नहीं है।

9. मोक्ष प्राप्ति का उपाय

77. जो मनुष्य, यह जानकर भी कि संसार में जितने भोग्य

पदार्थ हैं वे सब अन्त में दुःखदायी होते हैं; जो पदार्थों के पीछे दौड़ता है, वह मनुष्य नहीं है, पशु है।

78. जो मनुष्य अपने हृदय के भीतर वर्तमान ईश्वर को छोड़कर और दूसरे बाह्य देवताओं की उपासना के चक्कर में पड़ते हैं और बाहर ईश्वर को तलाश करते हैं, वे ऐसे मूढ़ हैं जैसे कि वह मनुष्य जो हाथ में मौजूद मणि को फेंक कर काँच के पीछे भागता है।
79. परम कारण भगवान् शिव प्रत्येक जीव के आत्मा है और उनके पूजने का तरीका केवल आत्म-बोध है।
80. तप और तीर्थ आदि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं।
81. मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान ही एक अनुष्ठान है, दूसरा कोई नहीं है।
82. ज्ञानी ही सुखी, ज्ञानी ही बलवान् होता है, ज्ञानी ही जीता है। इसलिए ज्ञानी बनो।
83. जो गति अभ्यास, वैराग्य और इन्द्रिय निग्रह द्वारा आत्मा से प्राप्त होती है, वह तीनों लोकों में और किसी से भी नहीं मिलती।
84. यदि विष्णु आदि देवताओं को प्रसन्न करने का यत्न कर सकते हो, तो अपने मन ही को शुद्ध करने का यत्न क्यों नहीं करते?
85. वह ईश्वर कहीं दूर नहीं है। चिन्मात्र रूप से शरीर के भीतर ही सदा रहता है।
86. जिनकी बुद्धि चेतन नहीं हुई है और जिनका चित्त चंचल है, केवल उन्हीं लोगों के लिए बाहरी और बनावटी देव-पूजा की विधि है।

87. यही बड़ा भारी ध्यान है और यही बड़ी भारी पूजा है कि शरीर में स्थित परम शिव आत्मा का ध्यान किया जाय।
88. देह द्वारा की जाने वाली सब क्रियाओं से आत्मा की पूजा होती है।
89. आकार वाले जितने संसार के पदार्थ हैं वे सब आत्मा ही हैं।
90. आत्मा अपने आप ही अपनी सात्विक बुद्धि द्वारा जाना जाता है।
91. आपत्तियों के नाश करने के लिए वैराग्य, शास्त्र और उत्तम गुणों द्वारा यत्नपूर्वक मन को ऊँचा उठाना चाहिए।
92. शास्त्र के अनुसार अभ्यास और योग करने से चित्त शुद्ध होता है, और शुद्ध होने पर चित्त आपसे आप ही परम पद का अनुभव करने लगता है।
93. वास्तव में आत्मा शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता, न गुरुवचन के द्वारा। वह तो अनुभव द्वारा ही जाना जाता है।
94. गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन से भी आत्म ज्ञान नहीं होता। अधिकारी, शास्त्र और गुरु तीनों का संयोग होने पर ही आत्मानुभव का प्रकाश होता है।
95. 'मोक्ष' और 'सत्य का ज्ञान' ये पर्यायवाची शब्द हैं। जिसको सत्य का ज्ञान हो गया, वह जीव फिर जन्म नहीं लेता।

10. ज्ञानी के लक्षण

96. जिसका चित्त अचित्त हो जाय, और कर्म-फल की भी चिन्ता न रहे, वह 'ज्ञानी' है।

97. जो जानने योग्य वस्तु को जानकर कर्म करने में वासना रहित हो जाय, वही 'ज्ञानी' है।
98. जिसके मन की इच्छाएँ शान्त हो गई हैं और जिसकी शीतलता बनावटी नहीं है, वास्तविक है, उसे 'ज्ञानी' कहते हैं।
99. जिसका ज्ञान ऐसा है जिससे पुनर्जन्म होने की संभावना नहीं है, वही 'ज्ञानी' है।

11. मोक्ष साधना

100. सैंकड़ों जन्मों में अनुभूत होने के कारण बहुत दृढ़ हुई संसार भावना का क्षय बिना बहुत समय तक (ज्ञान का) अभ्यास और योग किये नहीं होता।
101. बिना अभ्यास के आत्म-भावना का उदय नहीं होता।
102. उसी का चिन्तन करना, उसी का वर्णन करना, एक-दूसरे को उसी का ज्ञान कराना, उसी एक के विचार में तत्पर रहना (ब्रह्म ज्ञान का) 'अभ्यास' कहलाता है।
103. अभ्यास करते रहने से समय पाकर अवश्य शान्ति का अनुभव होता है।
104. संसार से पार उतरने की युक्ति का नाम 'योग' है।
105. किसी के लिए योग-मार्ग कठिन है, किसी के लिए ज्ञान मार्ग कठिन है। मेरी राय में तो ज्ञान निश्चय का अभ्यास ज्यादा सुगम है।
106. चित्त को शान्त करने के दो उपाय हैं। एक 'योग' और दूसरा 'ज्ञान'। योग का अर्थ है 'चित्त की वृत्तियों का निरोध करना' और ज्ञान का अर्थ है 'यथास्थिति वस्तु को जानना'।

107. चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है, दूसरा उसका गुण है।
108. परम ज्ञान, बिना मन के अस्त हुए असंभव है।
109. एक तत्त्व के गहरे अभ्यास से मन सहज में शान्त हो जाता है।
110. आत्म-तत्त्व में मन को स्थिर करने से प्राणों सहित मन लीन हो जाता है।
111. प्राण और अपान के बीच की अवस्था, जिसमें दोनों की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है। इसमें स्थित होना ही योगी का ध्येय है।
112. प्राणों को वश में कर लेने पर प्रत्येक मनुष्य राज्य-प्राप्ति से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक सब ही प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकता है।
113. प्राणों की गति रुक जाने से मन शांत हो जाता है।
114. मन के शान्त होने पर अवश्य ही यह संसार विलीन हो जाता है।
115. शास्त्र और सज्जनों का सम्पर्क, वैराग्य का अभ्यास, संसार की वस्तुओं में आस्था का त्याग, ध्यान द्वारा प्राप्त एकता का अनुभव, एक तत्त्व का गूढ़ अभ्यास से प्राणों के स्पन्दन का निरोध होता है।
116. एकान्त में बैठकर ध्यान लगाने से भी प्राणों के स्पन्दन का निरोध होता है।
117. अभ्यास द्वारा प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और निर्वाण ही शेष रह जाता है।
118. इस माया-चक्र की नाभि मन है। यदि इसे जोर से

पकड़ कर स्थिर कर दिया जाय तो फिर संसार दुःख नहीं देता।

119. मन के स्पन्दन (गति) के शान्त हो जाने पर प्राणों की गति रुक जाती है।
120. संसार रूपी खेती के खेत को 'चित्त' कहते हैं। जब खेत ही न रहेगा तो खेती पैदा होने की सम्भावना कहाँ है?
121. इन सब उपद्रवों के पैदा करने वाले संसाररूपी दुःख के छूटने का एक ही उपाय है। वह है अपने 'मन का निग्रह'।
122. परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासना रहित और शुद्ध हो जाता है तब वह आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है।
123. मन के लय होने पर ही कल्याण होता है।
124. मन के क्षीण होने पर प्राणी 'जीवन्मुक्त' हो जाता है। फिर दूसरा जन्म नहीं होता।
125. ज्ञानियों का मन 'ब्रह्म' ही है।
126. जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता।
127. जो उचित युक्ति को छोड़कर बलपूर्वक मन को जीतने का प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्ति के समान हैं जो कि उन्मत्त हाथी को कमल के तंतुओं से बाँधना चाहते हैं।
128. चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियाँ हैं–आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का

सत्संग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध।

129. अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तप से, न तीर्थ से, न विद्या से, न यज्ञ से और न किसी विशेष अनुष्ठान से हो सकता है।

130. इच्छित वस्तु का त्याग करके जो विकार रहित स्थित हो जाता है वह मन को इस प्रकार जीत लेता है जैसे हाथी को अंकुश।

131. मन की वासना नाम वाली चंचलता, जो अविद्या है, उसको विचार द्वारा नष्ट कर देना चाहिए।

132. मन को जीतने की एक युक्ति यह है कि सब विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाय।

133. मन के निग्रह की छः युक्तियाँ है–(1) ज्ञान युक्ति, (2) भोगों से विरक्ति, (3) इन्द्रियों का निग्रह, (4) वासना का त्याग (5) तृष्णा का त्याग, (6) अहंकार का त्याग।

134. बिना अभ्यास किये मूर्ख किसी सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही क्यों न चाहे।

135. जो कुछ भी नहीं लेता, उसी को सब कुछ दिया जाता है।

12. आत्मानुभव की स्थिति

136. चित्त के एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होने के मध्य की जो मानसिक क्रियारहित स्थिति है वह 'आत्मस्वरूप' की स्थिति है।

137. अहंभाव के शान्त हो जाने पर, भेद का अनुभव न रहने

पर, और स्पन्दनहीन हो जाने पर जो अजड़ (चेतना) अनुभव होता है वह अपने स्वरूप का अनुभव है।

138. वह परिपूर्ण अवस्था शब्दों द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती, न उसका कोई वर्णन हो सकता है और न उसकी कोई उपमा ही दी जा सकती।

139. जैसे बिना अनुभव किये मिठाई का स्वाद नहीं मालूम होता, उसी प्रकार बिना अनुभव के आत्मा का स्वरूप नहीं मालूम पड़ता।

140. आत्मा का अनुभव जिनको हो गया है वे ज्ञानी जिस गति को प्राप्त होते हैं उसके सामने इन्द्र का ऐश्वर्य भी तृण के समान तुच्छ है।

141. पाताल, भूतल और स्वर्ग में कहीं भी वह सुख और ऐश्वर्य दिखाई नहीं पड़ता जो आत्मानुभव से बढ़कर हो।

142. ज्ञानी के आत्मभाव में जाग्रत हो जाने पर मन मर जाता है, तृष्णा भाग जाती है, मोह क्षीण हो जाता है और अहंकार विलीन हो जाता है।

143. जैसे एक बार वृक्ष से गिरा हुआ फल यत्न से भी उस पर नहीं लगाया जा सकता, वैसे ही एक बार हृदय की गाँठ खुल जाने पर फिर गुणों के बन्धन में मन नहीं पड़ सकता।

144. धीर पुरुष जब परम शुद्ध तत्त्व में विश्राम पा लेता है तब इन्द्र सहित सब देवता भी उसे उस पद से नहीं डिगा सकते।

13. परम ब्रह्म का स्वरूप

145. जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित है, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उय सत्य-स्वरूप तत्त्व को नमस्कार हो।
146. जिससे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का; दृष्टा, दर्शन, दृश्य का और कर्त्ता, हेतु और क्रिया का उदय होता है, उस ज्ञान-स्वरूप तत्त्व को नमस्कार हो।
147. ब्रह्म का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते। जिसका अनुभव केवल मुक्त पुरुषों को ही होता है।
148. सांख्य दर्शन वाले उसको 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म', विज्ञानवादी 'विज्ञान मात्र' कहते हैं।
149. वह ऐसा प्रकाश है जिससे सूर्य का प्रकाश उदय होता है।
150. उससे विष्णु आदि देवता ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि सूर्य से उसकी किरणें।
151. उससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि समुद्र से बुलबुले।
152. वह सब पदार्थों को और आत्मा को दीपक की भाँति प्रकाशित करता है।
153. उस अक्षय और पूर्ण अमृत से नाना प्रकार के असार संसारों के दृश्य उदय होते हैं।
154. वह हर-एक शरीर रूपी पिटारी में चित्त रूपी मणि के रूप में मौजूद है।
155. उसी सत्ता के कारण ही नियति, देश, काल, गति, स्पन्दन और क्रिया की सत्ता है।

156. वह सदा और सब जगह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना जिह्वा के स्वाद लेता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूँघता है।
157. जगत् उसका ऐसा कार्य है जैसे कि तरंगे जल का।
158. ब्रह्म में जब स्पन्दन होता है तो संसार की शोभा उदय हो जाती है।
159. जब स्पन्दन की शांति होती है तो जगत् की प्रलय हो जाती है।
160. जब वह स्पन्दन से रहित होता है तो शान्त शिव होता है।
161. वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, स्थूल से भी स्थूल, भारी से भी भारी अच्छे से भी अच्छा है।
162. ब्रह्म में एकता और जगत् में अनेकता रहती है।
163. न व सत् है, न असत्, न दोनों के बीच की स्थिति है। न शून्य है और न अशून्य है।
164. आकाश में परमाणु के हजारवें भाग के भीतर भी जो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता वर्तमान है वही परमार्थ संवित् (ज्ञान) है।
165. ब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव द्वारा होता है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। वादविवाद से नहीं जाना जा सकता।

14. ब्रह्म शक्ति का विकास

166. जब शुद्ध संवित् में जड़ शक्ति का उदय हो जाता है। तभी संसार की विचित्रता उत्पन्न होती है।
167. जैसे चेतन मकड़ी से जड़ जाले की उत्पत्ति हो जाती है

वैसे ही नित्य और चेतन ब्रह्म से 'प्रकृति' की उत्पत्ति हो जाती है।

168. नित्य पूर्ण और आश्रय ब्रह्म में सब शक्तियाँ मौजूद है। कोई वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जो उस सर्वत्र स्थित ब्रह्म में मौजूद न हो।

169. सब का ईश्वर (नियन्ता) ब्रह्म सब शक्तियों से सम्पन्न है।

170. जैसे जड़, तने, शाखा, पत्ते, बेल, फूल, फल और फलों वाला वृक्ष अपने बीज के भीतर मौजूद रहता है, वेसे ही यह जगत् ब्रह्म में मौजूद है।

171. जैसे सूर्य दिन के कामों का कारण है वैसे ही ब्रह्म कुछ न करता हुआ भी सब कुछ करता है।

172. जैसे रत्न के मौजूद होने पर बिना उसकी इच्छा के प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा की सत्ता मात्र से ही संसार की उत्पत्ति होती रहती है।

173. ब्रह्म की 'वर्द्धन शक्ति' ही जगत् है और जगत् ब्रह्म का 'वृंहण' है।

174. इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को 'अविद्या' भी कहते हैं। इस अविद्या से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इससे परे परम ब्रह्म है। अविद्या ही सब दृश्य पदार्थों का उपादान कारण है।

175. चुम्बक मणि के मौजूद होते ही जड़ लोहा चलने लगता है, वैसे ही ब्रह्म अकर्ता होते हुए भी जगत् का कर्ता हो जाता है।

176. आत्मा 'परमात्मा' सब शक्तियों से युक्त है।

177. मनोमयी स्पन्दन शक्ति ब्रह्म से अलग नहीं है।

15. ब्रह्मा-ब्रह्म का प्रथम व्यक्त रूप
(प्रथम रचना)

178. परमात्मा सृष्टा नहीं है, वह सजृन की ऊर्जा मात्र है। उससे प्रतिपल सृजन हो रहा है।
179. सब शक्ति वाले महान् और अनन्त आत्म तत्त्व 'ब्रह्म' की संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुए रूप को 'मन' (ब्रह्मा) कहते हैं।
180. वह आदि प्रजापति जैसा-जैसा संकल्प करता है वैसी-वैसी सृष्टि उत्पन्न होती है। यह सारा जगत् उसी की कल्पना है।
181. मन ही ब्रह्मा का रूप धारण करता है। ब्रह्मा संकल्प करने वाला मन है।
182. मन का रूप धारण करके ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है।
183. ब्रह्मा उदय होकर सृष्टि के कार्य-कारण के नियम की स्थापना करता है।
184. आदि प्रजापति (ब्रह्मा) अपने आप ही बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है।
185. जिस मन को 'ब्रह्मा' कहते हैं, वह संकल्प मात्र है। उसमें कोई स्थूल तत्व नहीं है।
186. जैसे चित्रकार के मन के भीतर रहने वाली प्रतिमा स्थूल शरीर से रहित होती है, वैसे ही ब्रह्मा भी बिना किसी प्रकार की स्थूलता के शुद्ध चिदाकाश रूप में रहता है।
187. ब्रह्मा का सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर होता है।
188. सब प्राणियों का एक कारण ब्रह्मा है, उसका कोई

कारण नहीं है।

189. यह जगत् ब्रह्मा का आकार धारण करने वाले मन नामक जीव (ब्रह्मा) का मनोराज्य (कल्पना) है किन्तु सत्य प्रतीत होता है।

190. अहं युक्त ब्रह्मा रूपी भावना संकल्पों द्वारा सृष्टि की रचना करती है।

191. जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है वह उसी प्रकार की होती है। इसलिए ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ जगत् मन मात्र है, क्योंकि ब्रह्मा स्वयं मन मात्र है।

16. जगत् की उत्पत्ति

192. 'मैं', 'तुम' आदि की मिथ्या भावना जगत् और दृश्य कहलाती है। जब तक इसका अनुभव होता है तब तक मोक्ष नहीं होता है।

193. इस ब्रह्म रूपी महाकाश में अनन्त प्रकार के अनन्त जगत् इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं जैसे कि समुद्र में लहरें।

194. परम तत्त्व से जीवगण उत्पन्न होते हैं और कुछ समय स्थिर रह कर उसी में लीन हो जाया करते हैं।

195. सुषुप्ति में प्रवेश करते समय सारा का सारा स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही यह सारा दृश्य जगत् (प्रलय काल में) नष्ट हो जाता है।

196. ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि का भी, जो कि कारणों के भी कारण हैं, कल्प के अन्त में नाम तक नहीं रहता।

197. प्रलय के समय अत्यन्त गहन शान्ति रहती है, न तेज रहता है न अँधेरा। जो कुछ भाव पदार्थ रहता है वह

अव्यक्त है। उसका कोई भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

198. वह शान्त, अजर, अनन्त, शून्य, निरुपाधि, सदा प्रकाशमान केवल परमात्म ब्रह्म है।
199. जब परमात्मा वायु स्पन्दन की भाँति अपनी संकल्प शक्ति को आप ही उत्तेजित करता है तो वह स्वयं ही चेत्यता अर्थात् विषय रूपता को प्राप्त हो जाता है।
200. तब उससे शून्य आकाश का जो कि शब्द आदि गुणों का बीज है, उदय होता है।
201. तब काल और अहंकार का उदय होता है। अहंकार जगत् का मुख्य बीज है।
202. आकाश और शब्द घना होकर शब्द तन्मात्रा हो जाता है।
203. शब्द तन्मात्रा से सारे जगत् की सृष्टि होती है।
204. वही शब्द तन्मात्रा स्पर्श तन्मात्रा का रूप धारण कर लेती है।
205. स्पर्श तन्मात्रा से सब प्रकार के वायु उदय होते हैं।
206. उसमें चित्त की क्रिया होने से प्रकाश का अनुभव होकर रूप तन्मात्रा का उदय होता है।
207. रूप तन्मात्रा के रूप से अनेक भेद होकर जगत् का उदय होता है।
208. पतलेपन की भावना से रस तन्मात्रा का उदय होता है।
209. रस तन्मात्रा से गन्ध तन्मात्रा का उदय होता है।
210. ये सब तन्मात्राएँ शुद्ध रूप में प्रलय से पूर्व कहीं दिखाई नहीं देतीं।
211. सृष्टि के आदि में जो रचना जिस नियम से होने लगती

है वह सदा ही, आज पर्यन्त, उसी नियम के अनुसार चल रही है।

212. महाशिव तक इस नियम से नियंत्रित होते हैं। इसका नाम इसी कारण से 'नियति' है।

213. नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् का नियंत्रण करती है।

214. वह जीव अपने पुरुषार्थ के कारण ही 'पुरुष' कहलाता है।

17. जीवों की उत्पत्ति

215. परम ब्रह्म में स्वयं ही इस प्रकार की एक कल्पना का उदय होता है कि मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ। इस केन्द्र का नाम 'जीव' है।

216. जीव दृष्टा होते हुए भी दृष्य भाव को प्राप्त हो जाता है।

217. एक बी जीव द्विरूपता को धारण करता है।

218. अपनी वासनाओं के द्वारा जीव नाना प्रकार के बन्धनों में बँधा हुआ है।

219. अपने ही संकल्पों द्वारा रचे हुए विषयों की अग्नि में पड़कर जीव ऐसा विवश हो रहा है कि जैसे ज़जीर से बँधा हुआ सिंह।

220. नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त चित्त घनीभूत अहंकार को प्राप्त होकर अपनी इच्छा से ही इस प्रकार बन्धन को प्राप्त होता है जैसे कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुए जाल में फँस जाता है।

221. संसार रूपी वृक्ष का बीज यह 'शरीर' है, शरीर का

बीज 'चित्त' है।

222. चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं–एक 'प्राण का स्पन्दन' और दूसरा 'दृढ़ भावना'।
223. वासना और प्राण-स्पन्दन दो अलग वस्तुएँ नहीं है। दोनों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है जैसे कि सुगन्ध और फूल का, और तेल और तिल का।
224. वासना बिना प्राण स्पंदन के और प्राण स्पंदन बिना वासना के नहीं रह सकती।
225. वासना और प्राण स्पन्दन दोनों का बीज 'विषय ज्ञान' है जिसके होने पर ही इन दोनों का उदय होता है।
226. इस जन्म-मरण रूपी विस्तार का बीज 'चित्ति' हो जाती है जब उसमें शरीर का भान होने लगता है।
227. चित्ति का बीज 'सत्ता मात्र' है। सत्ता संवित् से चित्ति इस प्रकार उदय होती है जैसे कि अग्नि में चमक।
228. सत्ता का बीज 'सत्ता सामान्य' है। इससे ही सत्ता का उदय होता है।
229. 'सत्ता सामान्य' का न कोई आदि है न अन्त, न उसका कोई बीज है, न उसे किसी नाम से पुकार सकते हैं।
230. न सत् है न असत्, न वह दृश्य है न अदृश्य, न अहंकार युक्त है न अहंकार रहित।
231. जैसे जल के ऊपर सदा ही अनेक बुलबुले उठा करते हैं और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सब देश, और काल में अनन्त जीव उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं।
232. जिस प्रकार ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार कीड़े की होती है, और ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब जीवों का लय केवल सद्ज्ञान द्वारा ही होता है।

18. मन का स्वरूप व शक्तियाँ

233. संकल्प करने का नाम 'मन' है। मन संकल्प से भिन्न किसी प्रकार नहीं है।

234. 'परम पुरुष' (आत्मा) के संकल्पमय होने का नाम ही 'चित्त' मन है।

235. यह मन न सर्वथा जड़ ही है न चेतन। यह कभी जड़ और कभी चेतन हो जाता है। यह ब्रह्म रूप से चेतन है और दृश्य रूप से जड़ है।

236. मन भावना मात्र है। अपने शाश्वत एक रूप को भूलकर जो चित्ति की स्थिति है उसका नाम 'चित्त' 'मन' है। उससे ही इस जगत् की उत्पत्ति होती है।

237. भिन्न-भिन्न कामों को करते समय मन भी अनेक नाम और रूपों को धारण कर लेता है।

238. जब यह विषय से गर्भित होता है, तब वह 'मन' कहलाता है। जब यह निश्चय को धारण करता है तो 'बुद्धि' कहलाता है 'मैं हूँ' इस भावना के होने पर वह 'अहंकार' कहलाता है। जब यह विषय का चिन्तन करता है तब वह 'चित्त' कहलाता।

239. स्पन्दन (क्रिया) ही उसका एकमात्र स्वभाव है। जब यह क्रिया फल-प्राप्ति की ओर दौड़ती है तो वह 'कर्म' कहलाता है।

240. जब यह अप्राप्त इच्छित विषयों की कल्पना करने लगता है तब उसका नाम ' कल्पना' होता है।

241. पूर्व काल में अनुभूत वस्तु का ध्यान आने पर वह 'स्मृति' कहलाता है।

242. जब किसी वस्तु को प्राप्त करने की दृढ़ भावना होती है तो उसे 'वासना' कहते हैं।

243. जब इसे आत्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का भान होने लगे तब उसका नाम 'अविद्या' है।

244. आत्मा को भुलाकर उसकी हानि करने के कारण इसका नाम 'मल' होता है।

245. सत्ता को असत्ता तथा सद्सत्ता (सत् और असत् दोनों) बनाने की सामर्थ्य होने से इसको 'माया' कहते हैं।

246. परमात्मा का ज्ञान होने पर इस दृश्य संसार के सब भावों का कारण होने के कारण यह 'प्रकृति' कहलाता है।

247. सृष्टि करने में लगा हुआ मन कभी 'ब्रह्मा' कहलाता है, कभी 'विराट्', कभी 'सनातन', कभी 'नारायण', कभी 'ईश्वर' और कभी 'प्रजापति'।

248. जीने और चेतन होने के कारण ही यह 'जीव' कहलाता है।

249. शरीर की भावना होने पर यह 'शरीर' बन जाता है।

250. ये सब स्पन्दन युक्त चित्ति के अनेक नाम है।

251. संसार की सब वस्तुओं के भीतर चित्त (मन) वर्तमान है।

252. जड़ पदार्थ के भीतर भी वासना ऐसे मौजूद है जैसे कि बीज के भीतर पुष्प आदि।

253. मन में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं, और मन सब कुछ कर सकता है।

254. 'अहंभाव' को ही मन का बीज समझना चाहिए।

255. मन के दृढ़ निश्चय को मिटाने या रोकने की किसी में

भी शक्ति नहीं है।

256. हमारा 'बन्धन' और 'मुक्ति' भी चित्त के हाथ में है।
257. मनुष्य मनोमय है, अर्थात् जैसा किसी का मन, वैसा ही मनुष्य होता है।
258. शुभ या अशुभ कर्मों का करने वाला मन ही है। इसलिए सुख-दु:ख का भोगने वाला मनुष्य-मन ही है।
259. मन ने ही यह शरीर अपने वासनाओं की पूर्ति करने के लिए बनाया है।
260. शरीर मन की कल्पना द्वारा की हुई रचना है।
261. विचारों को शुद्ध और पवित्र रखने से शरीर सुन्दर सुडौल न निरोग रहता है। शरीर के सब रोग मन की अशुद्धि के कारण होते हैं।
262. चित्त के गड़बड़ होने से अवश्य ही शरीर में गड़बड़ होती है।
263. चित्त के शुद्ध होने पर शरीर में आनन्द का संचार होने लगता है।
264. यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अटल धैर्य को धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दु:ख नहीं फटक सकते। उसे मानसिक रोग, शाप और कुदृष्टि आदि कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते।

19. मृत्यु का अनुभव

265. सर्वनाश करने वाली मौत कभी नहीं होती।
266. एक शरीर को छोड़कर जीव अपने वासनाओं के आधार पर दूसरे देश और काल में अपने को पाता है।
267. वासना के कारण ही जीव इधर-उधर भ्रमण करता

रहता है।

268. यहाँ से मर कर जीव दूसरे जगत् में जाग जाता है। वहाँ पर जागने पर लोक उसको स्वप्न-सा मालूम पड़ने लगता है।

269. धारणा का अभ्यास करने वाला युक्ति (ज्ञान) युक्त पुरुष धारणा करके शरीर को सुखपूर्वक त्याग देता है।

270. लेकिन मूर्ख (अज्ञानी) को, जिसके वश में अपना मन नहीं है, मरते समय बहुत दुःख होता है। वह टूटे हुए कमल की भाँति दीन हो जाता है।

271. पुण्यवान् प्रेतों को अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त स्वर्ग के अच्छे-अच्छे बाग और विमान दिखाई देते हैं।

272. पापियों को उनके बुरे कर्मों द्वारा उत्पन्न बर्फ की चट्टानें, कांटे, गड्ढे, शस्त्र, पत्ते और वन दिखाई पड़ते हैं।

273. कर्मों के अनुसार उसका फल मिलता है। शुभ कर्मों के कारण वह स्वर्ग और अशुभ कर्मों के कारण वह नरक में जा रहा है। वह स्वर्ग अथवा नरक में अपने कर्मों के अनुसार फल भोग रहा है और फिर उसी जगत् में (जहाँ कि वह मरा था) उत्पन्न हो रहा है।

274. जब तक जीव को इस जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति नहीं मिलती तब तक बार-बार एक जन्म से दूसरे जन्म में आने-जाने का अनुभव होता ही रहता है।

275. जीवन्मुक्ति जिसको प्राप्त हो गई है वह मरने के पीछे दूसरा जन्म प्राप्त नहीं करता। जीवन्मुक्त मर कर विदेह-युक्त हो जाता है। उसे फिर दृश्य जगत् का अनुभव नहीं करना पड़ता।

276. मनुष्य की आयु के अधिक और कम होने में देश, काल, क्रिया और द्रव्यों की तथा उनके किये हुए कर्मों की शुद्धि और अशुद्धि ही कारण होते हैं।
277. आयु का घटना, बढ़ना और सम रहना मनुष्यों के धर्म और कर्मों के ऊपर निर्भर है।
278. जो शास्त्रों के अनुसार धर्म और कर्मों को करता है उसको शास्त्र में बतलाई हुई आयु की प्राप्ति होती है।

20. जगत् स्वप्नवत् एवं कल्पना मात्र है

279. आदि और अन्त में जो नित्य है वही 'सत्य' है। दूसरा नहीं।
280. जो सत्य है उसका नाश कभी नहीं हो सकता।
281. यह दृश्य जगत् न सत्य है, और न असत्य। रस्सी में साँप के भ्रम की भाँति न वह सत्य है और न सर्वथा असत्य ही।
282. 'स्वप्न जगत्' की भाँति वह उत्पन्न हुआ है। न वह सत्य है न मिथ्या। केवल भ्रान्ति मात्र है। केवल दिखाई पड़ता है।
283. जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है, जैसे कि मृग तृष्णा की बहती हुई नदी।
284. जगत् सदा स्थिर न रहने के कारण 'असत्य' कहलाता है और प्रतीत होने कारण 'सत्य' कहलाता है। स्वप्न की भाँति जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है।
285. यह भ्रमवश असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होता है।
286. जैसे बालक को वास्तव में न होता हुआ भूत मौत तक का दु:ख देता है, वैसे ही मूढ़ बुद्धि वाले के लिए यह

जगत् दुःख देने वाला है।

287. जैसे स्वप्न की झूठी मौत, सत्य-सी अनुभव में आकर दुःख देती है, वैसे ही मूर्खों के लिए यह जगत् है।
288. जिसको ज्ञान हो गया है उसके लिए तो वह जगत् आकाश से भी शून्य है और जो अज्ञानी है उसके लिए यह वज्र और पहाड़ के समान कठोर है।
289. सत्वगुण वाले पुरुष इस माया को सहज में ही त्याग देते हैं।
290. देह में जब तक अहंभाव है, दृश्य जगत् के साथ जब तक आत्मभाव है, जब तक इस प्रकार की भावना है कि 'यह मेरा है' तब तक भ्रम रहता है।
291. यह सारा संसार कल्पना मात्र है। तीनों जगत् मन के मनन से ही निर्मित हैं।
292. चित्त अपने भीतर इस सारे संसार को संकल्प के रूप में रचता और समेटता है जैसे कि स्वप्न के संसार को।
293. सारे भौतिक पदार्थों का असली रूप मानसिक ही है। भौतिकता रूपी भूत तो भ्रम मात्र है।
294. जाग्रत और स्वप्न में इसके सिवाय कि एक स्थिर अनुभव का नाम है और दूसरा अस्थिर का। और कोई भेद नहीं है।
295. जिस प्रकार एक जीवन में अनेक स्वप्नों का अनुभव होता है उसी प्रकार जब तक जीव को निर्वाण नहीं प्राप्त होता तब तक अनेक जाग्रत अवस्थाओं का अनुभव होता है।
296. जिस प्रकार हम लोग उत्पन्न होकर नष्ट हुए स्वप्नों को याद कर लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी सिद्ध लोग भी

अनेक जन्मों को याद कर सकते हैं।

297. जैसे स्वप्न में मनुष्य के लड़ाई, झगड़े, शोर और आना–जाना वास्तव में न होते हुए भी अनुभव में आते हैं, वैसे ही संसार का हाल है।

298. यह अहंतादि से युक्त विश्व एक बहुत बड़ा स्वप्न ही समझना चाहिए।

21. सब कुछ ब्रह्म ही है।

299. ब्रह्म जगत् का न कर्ता है, न कारण है, न बीज है, न उसका आधार। यह भ्रम मात्र है। जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न नाश होती है, और न है ही।

300. ब्रह्माकाश ही जगत् रूप में प्रकट हो जाता है। इसलिए जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है? सब कुछ नित्य ब्रह्म ही है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

301. जिसमें बुद्धि का पूरा प्रकाश नहीं हुआ है उसे 'सब कुछ ब्रह्म है' का उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि वह भोग की दृष्टि से इसे काम में लाकर नाश की ओर प्रवृत्त होगा।

[सम्पूर्ण योग वाशिष्ठ की सिद्धान्त रूप से जानकारी के लिए लेखक की 'योग-वाशिष्ठ के सिद्धान्त' पुस्तक का अवलोकन करें।]

[''यह संसार प्रवाह क्या सुखदायक है? यहाँ पर प्राणी मरने के लिए उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के लिए ही मरता है।'']

अध्याय : 1

1. वैराग्य प्रकरण

(कथा प्रसंग)

(सर्ग 1)

(क) ईश-वन्दना

''सृष्टि के आरम्भ में सम्पूर्ण भूत जिनसे प्रकट होकर प्रतीति के विषय होते हैं, स्थिति काल में जिनमें स्थित होते हैं और प्रलय काल में जिनमें लीन हो जाते हैं, उन सत्य स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।''

''ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, दृष्टा, दर्शन और दृश्य तथा कर्ता कारण और क्रिया इन सबका जिनसे ही आविर्भाव होता है, उन ज्ञान-स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।''

''जिनसे स्वर्ग और भूतल आदि सभी लोकों में आनन्दरूपी जल के कण स्फुरित होते हैं, प्राणियों के अनुभव में आते हैं, तथा जो समस्त प्राणियों के जीवनाधार है, उन पूर्ण चिन्मय-आनन्द के महासागररूप परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।''

(ख) कथा-प्रसंग

पूर्व काल में एक समय सुतीक्ष्ण नाम ब्राह्मण के मन में

यह संशय उत्पन्न हुआ कि मोक्ष का साधन कर्म है या ज्ञान अथवा दोनों ही है? इस शंका के समाधन के लिए महर्षि अगस्ति (अगस्त्य) के आश्रम में गया और इसका समाधान पूछा।

अगस्ति ने कहा–ब्रह्मन्! जैसे दोनों ही पंखों से पक्षियों का आकाश में उड़ना सम्भव होता है उसी प्रकार ज्ञान और निष्काम कर्म दोनों से ही परम पद की प्राप्ति होती है?'' इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है जिसका मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ।

प्राचीन काल में कारुण्य नाम का एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था जो वेद-वेदांगों में पारंगत होने पर भी शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग करके चुपचाप बैठा रहता था। जब उसके पिता अग्निवेश्य ने इसका कारण पूछा तो कारुण्य ने कहा, पिता जी! एक ओर श्रुति और स्मृति ने आजीवन अग्निहोत्र और सन्ध्योपासना रूपी प्रवृत्ति रूप धर्म का विधान किया है तथा दूसरी श्रुति कहती है कि ''न धन से और न संतान के उत्पादन से ही मोक्ष सिद्ध होता है। मुख्य-मुख्य यतियों ने एक मात्र त्याग से ही अमृत रूप मोक्ष सुख का अनुभव किया है।'' इस संशय में पड़कर मैं कर्म की ओर से उदासीन हो गया हूँ।

यह सुनकर अग्निवेश्य बोले बेटा मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ उसे सुनो तथा उसका सम्पूर्ण तात्पर्य समझ लेने के पश्चात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करना।

देवलोक की सुरुचि नाम की एक प्रसिद्ध स्त्री हिमालय के शिखर पर बैठी थी। उसी समय उसने अन्तरिक्ष में इन्द्र के एक दूत को जाते देखा। उसने उस दूत के वहाँ आने का

कारण पूछा तो देवदूत ने कहा, ''धर्मात्मा राजा अरिष्टनेमि अपने पुत्र को राज्य देकर स्वयं वीतराग हो, तपस्या के लिए वन में चले गये हैं और गन्धमादन पर्वत पर वे तपस्या कर रहे हैं। देवराज इन्द्र ने यह विमान देकर मुझे भेजा है कि तुम राजा अरिष्टनेमि को इस विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग का सुख भोगने के लिए अमरावती नगरी ले आओ। देवराज इन्द्र की आज्ञा पाकर मैं अरिष्टनेमि के आश्रम पर गया और उन्हें इन्द्र की आज्ञा कह सुनाई। मेरी बात सुनकर अरिष्टनेमि ने पूछा कि 'स्वर्ग में कौन-कौन से गुण हैं और कौन-कौन से दोष हैं?' आप उनका स्पष्ट वर्णन कीजिये। फिर मेरी जैसी रुचि होगी वैसा करूँगा।''

मैंने कहा-''स्वर्ग में जीव अपने पुण्य कर्मों के अनुसार उत्तम सुख का भोग करता है। उत्तम गुण से उत्तम स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मध्यम पुण्य से मध्यम स्वर्ग मिलता है और निम्न श्रेणी के पुण्य से निम्न श्रेणी का स्वर्ग मिलता है। स्वर्ग में भी परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा, असहिष्णुता होती है। पुण्यों का क्षय हो जाने पर वे जीव पुनः इस मृर्त्यलोक में प्रवेश करते हैं और पार्थिव शरीर धारण करते रहते हैं।''

मेरी बात सुनकर राजा ने उत्तर दिया जहाँ ऐसा फल प्राप्त होता है उस स्वर्ग लोक में मैं जाना नहीं चाहता। आप अपना विमान लेकर देवराज इन्द्र के पास चले जाइये। आपको नमस्कार है।

उसका यह उत्तर सुनकर मैं देवराज इन्द्र के पास पुनः लौट गया और यह वृत्तान्त ज्यों का त्यों कह सुनाया। तब देवराज ने मुझे पुनः भेजा और कहा कि उस विरक्त राजा को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ले जाओ

तथा उन्हें मेरा यह सन्देश कह देना कि इस वीतराग तथा स्वर्ग की इच्छा न रखने वाले नरेश को आप तत्त्व-ज्ञान का उपदेश दीजिये। ये जन्म-मरण रूप संसार से पीड़ित है; अतः आपके दिये हुए तत्त्व-ज्ञान के उपदेश से इन्हें मोक्ष प्राप्त होगा''

देवराज की आज्ञा पाकर मैं पुनः राजा अरिष्टनेमि के पास गया तथा उन्हें वाल्मीकि आश्रम में ले गया। वहाँ उन्हें देवराज का सन्देश कह सुनाया।

वहाँ पहुँचकर वाल्मीकि द्वारा उनकी कुशलक्षेम पूछने के बाद राजा अरिष्टनेमि ने कहा ''भगवन्! आपको धर्म के तत्त्व का ज्ञान है। आप विद्वानों में श्रेष्ठ हैं। कृपा करके बताइये कि संसार बन्धन के दुःख से मुझे जो पीड़ा हो रही है उससे किस प्रकार मेरा छुटकारा होगा?''

वाल्मीकि ने कहा राजन्! मैं तूम्हें अखण्ड रामायण की कथा कहूँगा जिसे सुनकर हृदय में धारण कर लेने पर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। यह रामायण महर्षि वशिष्ठ और श्री राम के संवाद के रूप में वर्णित है। मैं तुम्हें अधिकारी मानकर यह कथा सुनाता हूँ।

(ग) राम का जन्म

राजा ने पूछा–तत्त्व-ज्ञानियों में श्रेष्ठ महामुने! ये श्री राम कौन हैं? उनका स्वरूप कैसा है? वे किसके वंशज है? वे बद्ध थे या मुक्त? पहले आप मुझे इसका ज्ञान प्रदान कीजिये।

वाल्मीकि ने कहा–स्वयं भगवान् श्री हरि ही शाप के पालन के बहाने राजा श्री राम के रूप में अवतीर्ण हुए थे। वे सर्वज्ञ होने पर भी शाप वश अज्ञान से युक्त हो गये थे।

एक बार भगवान् विष्णु वैकुण्ठ से ब्रह्मलोक गये जहाँ

ब्रह्मा जी के मानसपुत्र सनत्कुमार, जो सर्वथा निष्काम थे, भी उपस्थित थे। ब्रहमा जी तथा उस सत्यलोक में निवास करने वाले अन्य महात्माओं ने उनका पूजन किया किन्तु सनत्कुमार चुपचाप बैठे रहे। तब भगवान विष्णु ने उन्हें कहा- ''सनत्कुमार!'' तुम अपने को निष्काम समझकर अहंकारी हो गये हो। अतः तुम शरजन्मा कुमार के नाम से दूसरा शरीर धारण करो।'' यह सुनकर सनत्कुमार ने भी भगवान विष्णु को शाप दे दिया कि-''देवेश्वर! आप भी अपनी सर्वज्ञता को कुछ काल के लिए भूलकर अज्ञानी जीव के समान हो जायेंगे।'' साथ ही महर्षि भृगु ने भी शाप दे दिया कि- ''विष्णो! आपको भी कुछ काल के लिए अपनी पत्नी के वियोग का कष्ट सहन करना पड़ेगा क्योंकि मेरी पत्नी आपके चक्र से मारी गई थी।'' इस प्रकार सनत्कुमार और भृगु के शापवश भगवान् विष्णु मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुए।

अब तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूँ। सावधान होकर सुनो।

अध्याय : 2

वाल्मीकि का राजा अरिष्टनेमि को कथा सुनाना

(सर्ग 2-12)

(सर्ग-2)

वाल्मीकि कहते हैं-हे राजन्! जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है ओर न तत्त्व-ज्ञानी ही है, वही इस शास्त्र को पढ़ने, अथवा सुनने का अधिकारी है। जो मोक्ष के उपायरूप इन वैराग्यादि छः प्रकरणों का विचार (अनुशीलन) करता है वह विद्वान् पुरुष फिर संसार में जन्म नहीं लेता। यह रामायण पूर्व और उत्तर दो खण्डों में विभाजित है। मैंने इसकी रचना ब्रह्मा जी के आदेशानुसार महर्षि भारद्वाज को ज्ञान देने हेतु की थी। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। वाल्मीकि ने कहा-

(क) यह जगत् भ्रम मात्र है। (सर्ग 3-5)

हे भरद्वाज! जैसे रूप रहित आकाश में नील-पीत आदि वर्णों का भ्रम होता है, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म में अज्ञानवश जगत् की सत्ता का भ्रम होता है। इस भ्रम को इस तरह भुला दिया जाय कि फिर कभी इसका स्मरण ही न हो-इसी को मैं उत्तम ज्ञान मानता हूँ। इस दृश्य प्रपंच का अत्यन्त अभाव है। यह बिना हुए ही भासित हो रहा है। जब तक ऐसा बोध नहीं होता तब तक आत्म-ज्ञान का अनुभव नहीं

होता। यदि तुम श्रद्धा भक्ति से इस शास्त्र का श्रवण करोगे तो निश्चय ही तुम्हें आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा, अन्यथा उसकी प्राप्ति असंभव है।

निष्पाप भरद्वाज! यद्यपि यह जगत् रूपी भ्रम प्रत्यक्ष दिखाई देता है, तो भी इस शास्त्र के विचार से अनायास ही ऐसा अनुभव हो जाता है कि 'यह है ही नहीं'-ठीक उसी प्रकार जैसे आकाश में नील आदि वर्ण प्रत्यक्ष दीखने पर भी विचार करने से बिना परिश्रम के ही यह समझ में आ जाता है कि इनका अस्तित्व नहीं हैं। जब इस दृश्य प्रपंच का अभाव हो जाय, तब परम निर्वाण शान्ति का स्वत: अनुभव होने लगता है। ब्रह्मन्! सम्पूर्ण रूप से वासनाओं का जो परित्याग (अत्यन्त अभाव) है, वही उत्तम मोक्ष कहलाता है जिसे अविद्या रूपी मल से रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार शीत के नष्ट होने पर हिमकण तुरन्त गल जाते हैं, उसी प्रकार वासनाओं के क्षीण हो जाने पर चित्त भी शीघ्र ही गल जाता है (उसका अभाव-सा हो जाता है)।

(ख) जीवन्मुक्त के लक्षण

यह वासना दो प्रकार की होती है-शुद्ध और मलिन। शुद्ध वासना जन्म का नाश करने वाली (मोक्ष की हेतु) होती है। मलिन वासना जन्म की हेतु है। उसके कारण जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ता है। मलिन वासना ही पुनर्जन्म का कारण है। अज्ञान ही इसकी घनीभूत आकृति है। यह अहंकार से बढ़ती है। किन्तु जो वासना भुने हुए बीज के समान पुर्नजन्म रूपी अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति को त्याग कर केवल शरीर धारण मात्र के लिए स्थित रहती है, वह 'शुद्ध' कही

जाती है। ऐसे पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाते हैं।

(ग) विश्वामित्र का आगमन (सर्ग 6-10)

हे भरद्वाज! जब भगवान् श्री राम विद्याध्ययन के बाद घर लौटे तो उनके मन में तीर्थों तथा पुण्यशील आश्रमों के दर्शन की अत्यन्त उत्कंठा जागी। पिता की आज्ञा पाकर सभी तीर्थों एवं आश्रमों के दर्शन कर वे पुनः लौट आये।

जब राम सोलह वर्ष की अवस्था के करीब थे तो वे दिन-पर-दिन कृश होने लगे। राजा दशरथ ने जब ज्ञानियों में श्रेष्ठ महर्षि वशिष्ठ से इसका कारण पूछा तो महर्षि वशिष्ठ ने कहा-इसमें कुछ कारण हैं किन्तु इसके लिए तुम्हें दु:ख नहीं करना चाहिए।

उसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्या नरेश दशरथ के पास अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को लेने आ पहुँचे। महाराजा दशरथ ने उनको यथा योग्य आसन पर बिठाकर उनके आने का कारण पूछा तो विश्वामित्र ने कहा-हे नृप श्रेष्ठ! आप महान् कुल में उत्पन्न हुए हैं और महर्षि वशिष्ठ की आज्ञा के अधीन रहते हैं। मैं अपना हार्दिक अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ। जब-जब मैं यज्ञ के द्वारा देव समूहों का पूजन करता हूँ तब-तब निशाचर आकर मेरे उस यज्ञ को नष्ट कर देते हैं, यज्ञ-मण्डप की भूमि में रक्त और मांस बिखेर देते हैं। मेरे मन में यह विचार नहीं होता कि मैं क्रोध करके उन्हें शाप दे दूं। मैं आपके ज्येष्ठ पुत्र राम को अपने यज्ञ की रक्षा के लिए लेने आया हूँ। मैं श्री राम को अस्त्र-शस्त्र विद्या प्रदान करके अनेक प्रकार से अनन्त कल्याण का भागी बनाऊँगा। जिससे ये तीनों लोकों में पूजनीय

होंगे। कमलनयन राम कोई साधारण पुरुष नही, साक्षात् परमात्मा हैं। इन्हें मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वशिष्ठ जानते हैं तथा दूसरे दीर्घदर्शी महर्षि भी जानते हैं। यदि आपके हृदय में धर्म, महत्ता और यश के लिए विशेष स्थान है तो आप अपने प्रिय पुत्र श्री राम को मुझे दे दीजिये। ठीक समय किया गया थोड़ा-सा भी कार्य बहुत उपकारी होता है और समय बीतने पर किया हुआ महान् उपकार भी व्यर्थ हो जाता है।

विश्वामित्र जी की बात सुनकर राजा दशरथ थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहे क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया गया हो, वह बुद्धिमान् पुरुष युक्ति-संगत उत्तर पाये बिना संतुष्ट नहीं होता है। इसके बाद दशरथ ने कहा हे मुनीश्वर! श्री राम की अवस्था अभी सोलह वर्ष से भी कम है। ये राक्षसों से युद्ध कर सकें ऐसी योग्यता मैं इनमें नहीं देखता। इन्हें न तो उत्तम शस्त्रों का ज्ञान है और न ये युद्ध की कला में निपुण हुए हैं। इसलिए मेरे धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्र श्री राम को आप यहाँ से न ले जायें।

वाल्मीकि कहते हैं-हे भरद्वाज! राजा दशरथ की यह बात सुनकर विश्वामित्र कुपित हो उठे तथा उनसे कहने लगे- राजन्! 'मैं आपकी माँग पूरी करूँगा'-ऐसी प्रतिज्ञा करके आप उसे तोड़ रहे हैं। आप सिंह होकर सियार बनना चाहते हैं। रघुवंशियों के लिए यह व्यवहार अनुचित है। इससे तो इस कुल की मर्यादा ही उलट जायेगी।

विश्वामित्र के वचनों को सुनकर राजा दशरथ ने श्री राम को बुलाने हेतु द्वारपाल को भेजा। वह थोड़े ही समय में वापस आ गया और राजा दशरथ से बोला कि श्री राम अनमने होकर अपने भवन में बैठे हुए हैं। तब राजा दशरथ ने श्री राम

के सेवकों से राम के बारे में पूछा तो वे सेवक कहने लगे- देव! आपके पुत्र श्री राम का शरीर अत्यन्त कृश हो गया है। श्री राम जब ये तीर्थ यात्रा से लौट कर आये हैं तभी से उनका मन बहुत उदास रहता है। वे कहकर चुप हो जाते हैं कि "सम्पत्ति से, विपत्ति से, घर से अथवा विभिन्न चेष्टाओं से क्या होने वाला है? क्योंकि सब कुछ मिथ्या है।" वे अकेले बैठे रहते हैं। भोगों में उनकी आसक्ति नहीं है। सन्यासी व तपस्वी के आचरण का अनुसरण करते हैं। वे न हँसते हैं, न गाते हैं और न रोते ही हैं। सदा पद्मासन लगाये शून्य चित्त हो केवल बैठे रहते हैं। वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं। रोज-रोज पीले पड़ते जा रहे हैं। वे कहते रहते हैं "ये भोग वास्तव में नश्वर हैं। धन आपत्तियों का एकमात्र स्थान है आदि।"

राम का ऐसा वृतान्त सुनकर विश्वामित्र बोले-यदि ऐसी बात है तो आप लोग श्री राम को यहाँ बुला लाइये। श्री राम को यह मोह न तो किसी आपत्ति से हुआ है और न आसक्ति से ही। वे विवेक और वैराग्य से सम्पन्न है अत: उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है जो महान् अभ्युदयकारक है। हमारे उपदेश से वे सत्यता, मुदिता, प्रज्ञा को प्राप्त होकर विश्रान्ति सुख से सम्पन्न, संताप शून्य, शरीर से हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्ति से युक्त हो जायेंगे। वे महान् सत्व गुण से युक्त तथा लोकव्यापी निर्गुण-सगुण रूप परब्रह्म के ज्ञान से सम्पन्न हो जायेंगे।

(घ) राम की उदासीनता (सर्ग 11-12)

जब दशरथ जी के बुलाये जाने पर श्री राम राजसभा में उपस्थित हुए तथा पहले पिता के चरणों में मस्तक झुकाया। तदन्तर मुनि वशिष्ठ एवं विश्वामित्र को प्रणाम किया।

इसके बाद मुनि वशिष्ठ एवं विश्वामित्र जी ने उनसे उनकी उदासीनता का कारण पूछा तो श्री राम कहने लगे–तीर्थ यात्रा करने के बाद मेरा मन विवेक से पूर्ण हो गया है जिससे मेरी बुद्धि भोगों की ओर से विरक्त हो गई है। मैंने अब विचारना आरम्भ किया है–"यह जो संसार का विस्तार है, इसमें क्या सुख है? जितने भोग के साधन भूत पदार्थ हैं सब के सब क्षणभंगुर, विपत्तियों में डालने वाले तथा पाप स्वरूप हैं। मूढ़ बुद्धि हुए लोग संसार के पदार्थों में सुख न होने पर भी उनमें सुख मानते हैं और उसी के लोभ में आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। यद्यपि यहाँ लोग किसी के द्वारा बेचे नहीं गये हैं तथापि बिके हुए के समान परवश हो रहे हैं। इस बात को जानते हुए भी कि यह सब कुछ माया का खेल है, हम सब लोक मूढ़ बने बैठे हैं। यह कितने खेद की बाद है। मुझे राज्य से क्या लेना है और भोगों से भी क्या प्रयोजन है? सभी भोग्य पदार्थों से मेरी अरुचि हो गई है। संसार की सम्पदाएँ सदा सबकी वंचना करती रहती हैं। ये मनुष्यों की मनोवृत्ति को मोह लेती है, उनकी सद्‌गुण राशि का नाश कर देती है और तरह-तरह के दु:ख दिया करती है। ये धन-वैभव चिन्ताओं के चक्कर में डालने वाले हैं, इसलिए मुझे आनन्द नहीं देते। अज्ञान रूपी रात्रि में तीव्र मोह रूपी कुहरे से लोगों की ज्ञान-रूपी ज्योति के नष्ट हो जाने पर दूसरों को दु:ख देने में परम चतुर विषय रूपी सैकड़ों चोर हर समय और प्रत्येक दिशा में विवेक रूपी श्रेष्ठ रत्न का अपहरण करने के लिए जी जान से लगे हुए हैं। तत्वज्ञानी ही उनको नष्ट करने में समर्थ हैं दूसरे नहीं।

अध्याय : 3

राम का वैराग्य (1)

(सर्ग 13-20)

(क) लक्ष्मी की चंचलता (सर्ग-13)

श्री रामचन्द्र जी कहते हैं-मुने! यह लक्ष्मी न कभी स्थिर रहती है और न उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है क्योंकि वह सबको व्यामोह में डालती रहती है। वह निश्चय ही अनर्थ की प्राप्ति कराने वाली है। इस सम्पत्ति से बहुत-सी चिन्ता रूपिणी पुत्रियाँ उत्पन्न होती है और विविध दुश्चेष्टाओं द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं। यह सम्पत्ति शास्त्रोक्त सदाचार से रहित पुरुष को पाकर इधर-उधर दौड़ती रहती है, कहीं एक जगह पैर जमाकर नहीं रहती। यह सम्पत्ति राजाओं की प्रकृति के समान गुण-अवगुण का विचार किए बिना ही जो कोई भी अपने पास रहता है उसी का अवलम्बन कर लेती है। जैसे मुट्ठी भर धूल मणियों को मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति ने बड़े-बड़े विद्वान, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल स्वभाव वाले पुरुषों को भी मलिन कर दिया है। धन-सम्पत्ति सुख देने के लिए नहीं, दुःख देने के लिये बढ़ती है। जैसे विष की बेल सुरक्षित रखी जाय तो वह मौत ही देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्ति की रक्षा करने पर भी वह विनाश का ही कारण होती है।

जो धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी जनता की निन्दा का पात्र न हो, शूरवीर होकर भी अपने मुँह से बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा न करता हो तथा स्वामी होकर भी समस्त सेवकों अथवा प्रजा-जनों पर समान दृष्टि रखता हो ये तीन तरह के पुरुष संसार में दुर्लभ है। यह धन-सम्पत्ति दुःख रूपी सर्पों के रहने के लिये भयंकर और दुर्गम गुफा है। यह महान् दुःख देने वाली और महान् मोह से आवृत्त करने वाली है। सत्कर्म रूपी कमलों को संकुचित करने के लिए यह रात्रि के समान है तथा श्रेष्ठ बुद्धि रूपी विष को बढ़ाने वाली है। प्रायः जड़ (मूर्ख) ही इसके आश्रय हैं। यह पानी की लहर और दीपक की लौ के समान चंचल है। प्रायः अनर्थकारी कर्मों से इसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली है?

(ख) आयु की स्थिरता (सर्ग-14)

मुने! जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटकते हुए जल बिन्दु के समान अस्थिर है। तरंग को, जल आदि में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को, विद्युत पुँज को और आकाश कमल को हाथ से पकड़ने का तो मैं विश्वास रख सकता हूँ परन्तु इस अस्थिर आयु पर मेरा कोई भरोसा नहीं है। मूर्ख मनुष्य ही आयु का विस्तार चाहता है। मुझे अधिक काल तक जीना अच्छा नहीं लगता। संसार में उन्हीं जीवों का जन्म लेना सफल है जो फिर यहाँ जन्म नहीं लेते। शेष प्राणी तो बूढ़े गधों के समान हैं।

अविवेकी मनुष्य के लिए शास्त्रों का अध्ययन भार रूप है। रागी (विषयासक्त) पुरुष के लिए तत्त्वज्ञान भार रूप है।

अशान्त मनुष्य के लिए मन भार है तथा जो आत्म-ज्ञान से शून्य है उसके लिए शरीर भार है। जिसकी बुद्धि दूषित है उस पुरुष के लिए रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा ये सबके सब उसी प्रकार दुःखदायक हैं, जैसे बोझ ढोने वाले मनुष्यों के लिए उसके सिर का बोझ कष्टदायक होता है। आयु कठोर परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्ट को ही देने वाली है। इसमें श्रम की निवृत्ति कभी नहीं होती। कामनाओं की पूर्ति का भी अभाव ही रहता है। यह आपत्तियों का परम आश्रय और रोग रूपी पक्षियों का घोंसला है। जैसे बिल्ली चूहे को निगल जाने के लिए उत्कट अभिलाषा के साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयु को अपना ग्रास बनाने के लिए ही सदा उसकी ताक में बैठी रहती है।

(ग) अहंकार के दोष (सर्ग-15)

श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं-मुनि श्रेष्ठ! यह संसार अहंकार के वशीभूत होने के कारण ही निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषों को कोशरूप अनर्थ की प्राप्ति कराता रहता है। अहंकार के वश में होने से ही मनुष्य पर आपत्ति आती है-उसे शारीरिक कष्टभोगने पड़ते हैं। अहंकार से ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती हैं। अहंकार शान्ति रूपी चन्द्रमा को निगलने के लिए राहु का मुख है, पुण्य रूपी कमलों का विनाश करने के लिए हिमरूप वज्र है। ऐसे अहंकार का मैं त्याग करता हूँ। न मैं अमुक नाम वाला हूँ, न विषयों मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है। मैं शान्त होकर अपने आप में ही स्थिर रहना चाहता हूँ। यदि अहंकार नहीं रहता तो मैं निरन्तर सुख का अनुभव करता हूँ। इसलिए अहंकार रहित होना ही श्रेष्ठ है।

(घ) चित्त की चंचलता (सर्ग-16)

मुनीश्वर! जैसे वायु के प्रवाह से मोरपंख का अग्रभाग वेग से हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चंचल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल वस्तु प्राप्त नहीं होती। इसलिए यह दीनहीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धन का भण्डार प्राप्त हो जाय तो भी यह भीतर से तृप्त नहीं होता। धन से मनुष्य का जी नहीं भरता। समस्त साधनाओं से शून्य यह मन सदा दुर्वासनाओं के जाल में जकड़ा रहता है। इसलिए इसे कभी सुख और सन्तोष प्राप्त नहीं होता। विषयों के चिन्तन से क्षोभ को प्राप्त हुआ यह मन दसों दिशाओं में दौड़ता या भटकता रहता है किन्तु कभी भी शांति को नहीं पाता। यह मन नर्क के गर्त में गिरने की परवाह न करके भोग-लाभ की आशा से बड़ी दूर तक चक्कर लगाता रहता है। यह मन अपनी चंचल वृत्ति के कारण कहीं स्थिर नहीं रह पाता। यह मन रूपी ग्रह अग्नि से भी अधिक कठिन है तथा वह वज्र से भी अधिक कठोर है। उसे वश में लाना बहुत ही कठिन है। समुद्र को पी जाना, सुमेरु पर्वत को जड़ से उखाड़ फेंकना तथा अग्नि का ही आहार करना-ये महान् और दुष्कर कार्य हैं किन्तु चंचल चित्त को वश में कर लेना इनसे भी महान् एवं कठिन कार्य है।

सम्पूर्ण पदार्थों का कारण चित्त ही है। जब तक चित्त है, तभी तक तीनों लोकों की सत्ता है। उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता है। इसलिए इस चित्त रूपी रोग की यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए। इस मन से सैकड़ों सुख-दुःख पैदा

होते हैं–इसमें संशय नहीं है। आत्म–विषयक विवेक से जब यह मन दुर्बल हो जाता है तब ये सारे सुख–दु:ख निश्चय ही पूर्ण रूप से गल जाते हैं–ऐसा मेरा विश्वास है। इस शत्रु रूप चित्त को जीतने के लिए मैं सब प्रकार से उद्यत हुआ हूँ।

(ङ) तृष्णा–निन्दा (सर्ग–17)

मुनीश्वर! यह तृष्णा काली नागिन के समान है जो सहस्रों कुटिलताओं से भरी है। विषय–भोग सुख ही इसका कोमल स्पर्श है। यह विषमता रूपी विष ही उगलती है और तनिक–सा स्पर्श हो जाने पर भी डस लेती है। यह पुरुषों के हृदय का भेदन करने वाली तथा मायामय जगत् को रचने वाली है, दुर्भाग्य प्रदान करने वाली तथा दीनता की प्रतिमूर्ति है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। यह विष की बेल है। जरा–मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा उत्पात ही इसके फल हैं। जड़ पदार्थों में ही इसे अधिक आनन्द मिलता है। यह विवेकी और विरक्त पुरुष को छोड़कर विषयासक्त पुरुष के पास चली जाती है। तृष्णा और चंचल बंदरिया का स्वभाव एक जैसा है। यह तृप्त हो जाने पर भी नये–नये फल की इच्छा करती है और विषय रूप एक स्थान पर अधिक काल तक नहीं रहतीं। यह क्षण भर में पाताल को चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाश की सैर करने लगती है। संसार में जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकाल तक दु:ख देती रहती हैं। वह अन्त:पुर में रहने वाले मनुष्य को भी भीषण संकट में डाल देती है। यह ज्ञान रूपी प्रकाश को ढक लेती है और जगत् को केवल जड़ता (अज्ञान) ही प्रदान करती है। इसने सबके मन को बाँध रखा है। तृष्णा हरी–भरी खेती को

नष्ट करने के लिए वज्रपात के समान है।

तृष्णा इस संसार रूपी नाटक की नटी है, प्रवृत्ति रूप नीड़ में निवास करने वाली पक्षिणी है, मनोरथ रूपी महान् वन में विचरण करने वाली हरिणी है और काम रूपी संगीत को उद्‌बद्ध करने वाली वीणा है। यह किंचित विवेक का प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर मलिन रहती है। लोक विषयों का चिन्तन त्याग देने से अपने सम्पूर्ण दुःख को दूर कर सकते हैं। विषय चिन्तन का त्याग ही तृष्णा के निवारण का मन्त्र है।

(च) शरीर निन्दा (सर्ग-18)

महामुने! नाना प्रकार से विकारयुक्त तथा मरणधर्मा यह शरीर संसार में दुःख भोगने के लिए ही है। इस शरीर के समान अधम, गुणहीन और शोचनीय दूसरा कोई नहीं है। यह कर्म करने के लिए ही पंचभूतों के समूहों से संगठित हुआ है। इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है? यह शरीर रूपी वृक्ष मुझे सुखद प्रतीत नहीं होता। जो समस्त रोगों का घर है, झुर्रियें तथा पके बालों का नगर है और समस्त मानसिक चिन्ताओं का दुर्गम वन है, यह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। यह शरीर केवल रक्त और माँस का ही बना है। इसका एक ही धर्म है-विनाश। फिर इसके बाहरी और भीतरी स्वरूप पर विंचार करके बताइये कि इसमें कौन-सी रमणीयता है। कोई भोग-वैभव से सम्पन्न हो या विपन्न-दोनों का शरीर एक समान ही होता है, बुढ़ापे के समय बूढ़ा होता है और मृत्यु काल में मर जाता है। उसे अपने में किसी विशेषता का अनुभव नहीं होता। धन-सम्पत्ति का सेवन करने

के बाद भी न तो यह ऊँचा उठता है और न स्थिरता को ही प्राप्त होता है, फिर इस शरीर को किसलिए पावन किया जाय? जो लोग इस नाशवान शरीरों में आस्था रखते हैं-उन्हें नित्य स्थिर रहने वाला मानते हैं, तथा जो संसार की स्थिरता पर भी विश्वास करते हैं, वे मोह रूपी मदिरापान करके उन्मत्त हो गये हैं। उन्हें बारम्बार धिक्कार है?

मुने! मैं न तो इस शरीर का कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ। ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मा में विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषों में उत्तम है। कुछ ही दिनों में जीर्णता को प्राप्त होकर यह शरीर रूपी पल्लव झरने के जल की बूँदों के समान बिना किसी यत्न के अपने-आप गिर पड़ता है। समुद्र में उत्पन्न हुए पानी के बुलबुलों की तरह इस शरीर का बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। यह शरीर मिथ्या भूत अज्ञान का विकार है और स्वप्न रूपी भ्रान्तियों का भण्डार है। इसका विनाश स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए इसमें मेरा क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं है।

(छ) बाल्यावस्था के दोष (सर्ग-19)

मुनीश्वर! असमर्थता, आपत्तियां, तृष्णा, मूकता, मूढ़-बुद्धिता, खिलौने आदि की अभिलाषा, चंचलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यालस्था में ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्था में पशु-पक्षियों जैसी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगों द्वारा तिरस्कृत होता है। बाल्यावस्था में अज्ञान-वश जल, अग्नि और वायु से निरन्तर उत्पन्न होने वाले भय के कारण पग-पग पर जो दुःख प्राप्त होता है वह आपत्ति काल में भी

किसको होता होगा? बाल्यावस्था में बालक जिस किसी के भी कहने से निष्फल कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं। किसी प्रकार की प्रतिष्ठा की प्राप्ति उनके लिए दुर्लभ है। इस तरह मनुष्य का शैशवकाल केवल गुरुजनों का शासन स्वीकार करने के लिए ही है, सुख और शाँति प्रदान करने के लिए नहीं। जो 'लोग बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कल्पना करते हैं, उन सब की बुद्धि व्यर्थ है। उस हतचित्त मूढ़ बुद्धि लोगों को बारम्बार धिक्कार है। मन स्वभाव से ही चंचल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चंचल पदार्थों में सबसे बढ़कर है । बालक कुत्ते के समान थोड़ा-सा ही खाना देने या पुचकारने से वश में हो जाता है और थोड़ा-सा ही घुड़कने पर या छड़ी आदि दिखाने से बिगड़ जाता है या डर जाता है। वह सदा अपवित्र स्थान में ही रमता या खेलता है। वह सदा दीन रहता है और देखी और बिना देखी सभी वस्तुओं की इच्छा करता है। ऐसी बाल्यावस्था को मनुष्य केवल दुःख भोगने के लिए ही धारण करता है। जब तक बाल्यावस्था रहती है तब तक असत्य पदार्थों में ही सत्यता की बुद्धि बनी रहती है। बाल्यकाल अत्यन्त दीर्घ दुःख प्रदान करने के लिए ही होता है, सुख देने के लिए नहीं। बाल्यावस्था में गुरु से, माता-पिता से, अन्य लोगों से तथा अपनी अपेक्षा बड़े बालकों से भय होता है। अतः बाल्यावस्था भय का मंदिर ही है। यह बाल्यकाल अविवेक नामधारी विलासी का विलास भवन है इसलिए यह किसी के लिए भी संतोषदायक नहीं है।

(ज) युवावस्था के दोष (सर्ग-20)

महर्षे! मनुष्य बाल्यावस्था के बाद भोग भोगने के उत्साह,

भ्रान्ति अथवा कामरूप पिशाच से दूषित चित्त होकर नरक में गिरने के लिए ही यौवनारूढ़ होता है। युवावस्था में स्त्री, द्यूत और कलह आदि दुर्व्यसनों को उत्पन्न करने वाले वे राग, लोभ आदि प्रसिद्ध एवं दुष्ट दोष, वैसे अन्तःकरण वाले पुरुष को, जो काम आदि में तन्मय हो रहा है, यौवन के ही सहारे नष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरक का बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करने वाला है, उस यौवन के द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसी से नष्ट नहीं हो सकते। इस यौवनरूपा भूमि को जिसने पार कर लिया वही पुरुष धीर कहलाता है। जो क्षण भर के लिए प्रकाशमान, चंचल मेघों की गम्भीर गर्जना से व्याप्त और बिजली की तरह चमककर लुप्त हो जाने वाला है, वह अमंगलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोग के समय मधुर एवं स्वादिष्ट और अन्त में दुःखदायी होने के कारण तिक्त प्रतीत होता है, जिसमें दोष ही दोष भरे हैं तथा मदिरा के मद विलास के समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता। जो असत्य होकर भी सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देने वाला है, तथा स्वप्नावस्था में किये गये स्त्री सहवास के समान है, यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यह सारी आयु बीत जाने पर दिखाई देने वाले गन्धर्व नगर के समान है, अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता। यह यौवन ऊपर से तो रमणीय प्रतीत होता है, किन्तु भीतर से सद्‌भाव शून्य है, अतः वैश्या स्त्री के समागम के समान घृणित होने के कारण मुझे रुचिकर नहीं जान पड़ता। विशाल एवं शुद्ध-बुद्धि भी युवावस्था में कलुषित हो जाती है। मनुष्य के यौवन का उल्लास दोष समूहों को जगाता और सद्‌गुण समुदाय का मूलोच्छेद करता है। अतएव

उसे पाप विलास वैभव कहा गया है। जो महामुग्ध पुरुष मोहवश क्षण-भंगुर यौवन से हर्ष को प्राप्त होता है वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है। जो मनुष्य अभिमान या अज्ञान के कारण मदोन्मत्त यौवनावस्था की अभिलाषा करता है, उस दुर्बुद्धि को शीघ्र ही पश्चाताप का भागी होना पड़ता है।

साधो! इस भूतल पर वे ही लोग पूजनीय और महात्मा हैं, जो यौवन रूपी संकट से सुखपूर्वक पार हो गये हैं। बड़े-बड़े मगरों से भरे हुए महासागर को सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किन्तु विषय चिन्तन आदि महातरंगों के कारण उमड़े हुए और दुर्गुण, दुराचार रूप अनेक दोषों से भरे हुए इस निन्दनीय यौवन के पार जाना बहुत ही कठिन है।

अध्याय : 4

राम का वैराग्य (2)

(सर्ग 21-28)

(क) स्त्री शरीर निन्दा (सर्ग-21)

मुनीश्वर! इधर केश है, उधर रक्त और मांस है, यही तो युवती स्त्री का शरीर है। जिसका हृदय विवेक से विशाल हो गया है, उस ज्ञानी पुरुष को इस निन्दित नारी-शरीर से क्या काम? जैसे वन में चरने वाले गधे या ऊँट के अंग, रक्त, मांस और हड्डियों से सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियों के अंग भी उन्हीं उपकरणों से युक्त हैं। फिर नारी के प्रति ही लोगों का इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है? इसमें जो रमणीयता की प्रतीति होती है, उसका एक मात्र कारण मोह ही है। मन में विकार उत्पन्न करने वाली मदिरा में और स्त्री में क्या अन्तर है? एक जहाँ मद के द्वारा मनुष्य को उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी काम का भाव जगाकर पुरुष के लिए आनन्ददायिनी बनती है। केश और काजल धारण करने वाली तथा नेत्रों को प्रिय लगने वाली नारियाँ, जिनका स्पर्श परिणाम में दु:ख देने वाला है, पुरुष को वासना की आग से जलाती रहती है। कामरूपी किरात ने मूढ़-चित्त मानव रूपी पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्री रूपी जाल को फैला रखा है। पुरुष रूपी मत्स्यों को फँसाने के लिए नारी बंशी के काँटे में लगी

हुई आटे की गोली के समान है, और दुर्वासना ही उस बंशी की डोर है। जैसे हथिनी के लिए चंचल हुआ हाथी विंध्याचल पर्वत पर उसे फँसाने के लिए बनाये हुए गड्ढे में गिरकर बँध जाता है, वही दशा तरुणी स्त्री के मोह में फँसे हुए तरुण पुरुष की होती है।

(ख) वृद्धावस्था के दुःख (सर्ग-22)

महर्षे! जैसे हिम रूपी वज्र कमल को, आँधी ओस कण को, और नदी तटवर्ती वृक्ष को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर डालती है। जैसे लेशमात्र विष का भक्षण शरीर को शीघ्र ही कुरूप बना डालता है, उसी प्रकार जरावस्था मनुष्य के सारे अंगों को शीघ्र ही जर्जर करके कुरूप कर देती है। जिनके सारे अंग शिथिल होकर झुर्रियों से भर गए हैं और जरावस्था ने जिनके सारे अंगों को जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषों को कामिनियाँ ऊँट के समान समझती हैं। वृद्धावस्था के कारण जिसके अंग काँपते रहते हैं, ऐसे मनुष्य को नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बाँधव तथा सुहृदगण भी उन्मत्त के समान समझ कर उसकी हँसी उड़ाते हैं। वृद्धावस्था में मनुष्य अपनी शक्ति का संतुलन खो बैठता है। इस प्रकार शक्ति ह्रास के कारण भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, किन्तु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशा में निश्चय ही हृदय जलता रहता है। जैसे सायंकाल की संध्या के प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीर में जरावस्था को देखते ही मृत्यु दौड़ी चली आती है। जरा से जर्जर हुए शरीर की तनिक भी शोभा नहीं होती। वृद्धावस्था वातरोग और खाँसी को विकसित कर देती है।

मनुष्य का यह दुबला-पतला शरीर टेढ़ा हो जाता-कमान की तरह झुक जाता है। जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीव के लिए दुराग्रह रखने से क्या लाभ? यह जरावस्था किसी भी इच्छा को सफल नहीं होने देती।

(ग) काल का स्वरूप (सर्ग 23-25)

मुनीश्वर! जैसे बड़वाग्नि उमड़े हुए समुद्र को सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत् को अपना ग्रास बना लेता है। युग, वर्ष और कल्प के रूप में काल ही प्रकट है। इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता। यह सब संसार को अपने वश में करके बैठा है। संसार में अब तक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। यह काल धूर्तों का शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाय, टूटता नहीं। जलाने पर भी जलता नहीं और दृश्य होने पर भी दीखता नहीं। यह जगन्मंडल उस काल की नृत्यशाला है। जैसे सर्प वायु को पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करने वाला काल तरुण शरीर को बुढ़ापे में पहुँचाकर अपना ग्रास बनाता रहता है। काल निर्दयों का राजा है। वह किसी भी प्राणी के ऊपर दया नहीं करता।

(घ) जीवन की अनित्यता (सर्ग-26)

मुने! जगत् में जितनी भी प्राणियों की जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अल्प एवं तुच्छ है तथा जितने भी भोग के स्थान हैं वे सभी भयंकर और परिणाम में दुरन्त दु:ख की ही प्राप्ति कराने वाले हैं। प्राणियों की आयु अत्यन्त अस्थिर है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है। जवानी भी अधिक चंचल होती है, और

बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है। बन्धु-बान्धव संसार में बाँधने के लिए रस्सी के समान हैं। भोग इस जगत् में महान् रोग है तथा सुख आदि की तृष्णाएँ मृगतृष्णा के समान हैं। बिना जीती हुई इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। सत्य स्वरूप आत्मा-असत्य-सा हो गया है, जीवात्मा अज्ञान के कारण देह को ही अपना स्वरूप मानने लग गया है। बिना जीता हुआ मन बन्धन का हेतु होने से आत्मा का शत्रु है। अहंकार ही कलंक का कारण है। बुद्धियाँ आत्मनिष्ठा से रहित है। क्रियाएँ शास्त्र-विरुद्ध होने से दुःख रूप फल देने वाली हैं। शरीर और मन की चेष्टाएँ स्त्री की प्राप्ति में ही केन्द्रित है। इच्छाएँ भोगों की ओर ही दौड़ती हैं। रागरूपी रोग दिनों-दिन बढ़ रहा है और वैराग्य दुर्लभ हो गया है। केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिए तत्त्व अत्यन्त दूर है। जीव अस्थिर हो गया है, धैर्य शिथिल हो गया है और तुच्छ विषय-भोगों के प्रति लोगों की आसक्ति बढ़ रही है। बुद्धि मूढ़ता से मलिन हो गई है। जवानी यत्नपूर्वक भागी जा रही है। सत्संग दुर्लभ हो गया है। जीवों का काम केवल जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टों का संग पद-पद पर सुलभ है, परन्तु सत्पुरुषों का संग दुर्लभ हो गया है। देश भी विदेश-सा हो गया है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूट कर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं फिर मेरे जैसे मनुष्य की स्थिरता पर क्या आस्था हो सकती है?

(ङ) जगत् की क्षणभंगुरता (सर्ग-27)

मुनीश्वर! इस जगत् का स्वरूप अत्यन्त अरमणीय है, तो भी यह ऊपर से मनोरम प्रतीत होता है। बाल्यावस्था

क्रीड़ाकौतुक में ही व्यतीत हो जाती है। युवावस्था आने पर मनरूपी मृग स्त्री रूपिणी गुफाओं में ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है। फिर वृद्धावस्था प्राप्त होने पर यह शरीर जर्जर हो जाता है, उस समय जन-समुदाय दुःख ही दुःख भोगता रहता है। जब देह नष्ट हो जाती है तो प्राण इसे छोड़कर बहुत दूर चला जाता है। इस संसार में तृष्णा नाम की नदी निरन्तर बहती रहती है। यह संतोषरूपी वृक्ष की जड़ खोदने में बड़ी दक्ष है।

जहाँ दैववश बारम्बार जन्म लेकर अपने शरीर को धारण करके छाया, पत्र और पुष्प आदि के द्वारा निरन्तर प्राणियों का उपकार करने वाला वृक्ष भी कुल्हाड़ी से काट दिया जाता है, उस संसार में मनुष्य जैसा अपराधी और उपकार-शून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करने के लिए कौन-सा कारण है? विष का वृक्ष और विषयासक्त मनुष्य दोनों ऊपर से मनोहर लगते हैं, किन्तु उनके भीतर बड़ा भारी दोष भरा रहता है। इनके संग से मूर्छा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है।

संसार में ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है? वे कौन-सी दिशाएँ है, जहाँ दुःख और दाह नहीं है? वे कौन से जीव शरीर हैं, जो क्षणभंगुर नहीं हैं, और कौन सी लौकिक क्रियाएँ हैं जिनमें छल-कपट नहीं है?

(च) जगत् की परिवर्तनशीलता (सर्ग-28)

ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी स्थावर जंगम रूप दृश्य जगत् दिखाई दे रहा है, वह सब सपने में लगे हुए मेले के समान अस्थिर है। आज जिस शरीर को रेशमी वस्त्र व फूलों के हार और भाँति-भाँति के अनुलेपनों से सजाया गया है, वह कल

नंगा होकर ग्राम या नगर से बहुत दूर किसी गड्ढे में पड़ा-पड़ा सड़ जाएगा। जिस स्थान में आज चहल-पहल से भरा नगर देखा गया है, वहीं कुछ ही दिनों में सूने वनों का उदय हो जाएगा। जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलों पर शासन करता है, वही कुछ दिनों के अनन्तर राख का ढेर बन जाता है। जहाँ आज वन है वहाँ विशाल नगर बन जाता है। जहां आज वन श्रेणी है, वही कतिपय दिनों में मरुभूमि का स्थान ग्रहण कर लेती है। जल स्थल हो जाता है और स्थल जल। जवानी, बचपन, शरीर और द्रव्य संग्रह-ये सब के सब अनित्य है और तरंग की भाँति निरन्तर एक भाव से दूसरे भाव को प्राप्त होते रहते हैं। इस संसार में प्राणियों का जीवन हवा से भरे स्थान में रखे हुए दीपक की लौ के समान चंचल है और तीनों लोकों की शोभा बिजली की चमक के समान क्षणिक है। मुनीश्वर! जगत् में मनुष्य क्षण-भर में ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है और क्षण-भर में दरिद्र हो जाता है। क्षण में ही जन्म होता है और क्षण में ही मृत्यु। इस जगत् में कौन सी ऐसी वस्तु है जो क्षणिक न हो? यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकार का हो जाता है। यहाँ सदा एक रूप रहने वाली सुस्थिर वस्तु कोई नहीं है। यहाँ कायर के द्वारा शूरवीर मारा जाता है, साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्था में परिवर्तित होता रहता है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है, फिर यौवन की शोभा आ जाती है और कुछ दिनों में वह भी समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वृद्धावस्था का पदार्पण होता है। जब हमारे शरीर में ही एकरूपता नहीं है, तब बाह्य वस्तुओं में एकरूपता का

विश्वास क्या हो सकता है? संसारी पुरुषों की न आपत्तियाँ स्थिर रहती है और न सम्पत्तियाँ ही। यह काल सब लोगों की आपत्ति में ढकेल कर क्रीड़ा करता है।

अध्याय : 5

राम का दुःख निवृत्ति हेतु जिज्ञासा करना

(सर्ग 29-33)

(अ) राम की जिज्ञासा (सर्ग 29-33)

अपनी वैराग्य की स्थिति का वर्णन करके श्री रामचन्द्रजी अपने दु:खों की निवृत्ति हेतु जिज्ञासा करते हुए कहते हैं-

मुनीश्वर! विषय भोग दु:ख रूप और अनित्य है। इस प्रकार विषयों में दोष-दर्शन रूपी दावानल के द्वारा मेरा चित्त दग्ध हो निर्मल एवं महान् हो गया है। जैसे जलाशयों में मृगतृष्णा का उदय नहीं होता, उसी प्रकार मेरे उस चित्त में भोगों की आशा अंकुरित नहीं होती। मुनीश्वर! विविध चिन्ताओं से परिपूर्ण भोग-समूहों एवं राज्यों की अपेक्षा चिन्ता रहित महात्मा पुरुषों द्वारा स्वीकृत एकान्त-सेवन ही मुझे अच्छा लगता है। सुन्दर उद्यान मुझे आनन्द नहीं देता, स्त्रियों से मुझे सुख नहीं मिलता, और धन की आशापूर्ति से मुझे हर्ष नहीं होता। मैं न तो मृत्यु का अभिनन्दन और न जीवन का ही स्वागत करता हूँ। मुझे राज्य से, भोगों से, धन से और नाना प्रकार की चेष्टाओं से, भी क्या प्रयोजन है? अहंकार वश ही मनुष्य इन राज्य आदि से सम्बन्ध रखता है, किन्तु मेरा अहंकार ही गल गया है अत: मेरे लिए इनकी आवश्यकता

नहीं रह गई है। यदि अभी निर्मल बुद्धि के द्वारा इस चित्त की चिकित्सा नहीं की जाती तो फिर इसकी चिकित्सा का अवसर ही कहाँ रह जाएगा? विषयों की विषमता ही विष है। लोकप्रिय विष तो एक ही शरीर का नाश करता है, परन्तु विषयों का विष जन्म-जन्मान्तरों तक जीव को मौत के मुँह में डालता रहता है। सुख-दु:ख, मित्र, भाई-बन्धु, जीवन और मरण ये सब ज्ञानी के चित्त को नहीं बाँधते। अज्ञानी का ही मन इससे बँधता है।

ब्रह्मन्! आप महात्माओं में श्रेष्ठ हैं। इसलिए जिस प्रकार मैं शोक, भय और खेद से मुक्त हो यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र प्रदान करिये। अज्ञान एक भयंकर वन के समान है। जैसे वन में मृगों को फँसाने के लिए जाल बिछे रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञान रूपी वन भी विषयवासना के जाल से आवेष्टित दु:ख रूपी कंटकों से व्याप्त तथा सम्पत्ति रूपी ऊँचे-नीचे स्थानों से युक्त है। महात्मन्! संसार में ऐसी दुष्चिन्ताएँ नहीं हैं, जो उत्तम अन्त: करण वाले महात्मा पुरुषों के संग से क्षीण न हो जाय। आयु क्षण भंगुर है तथा चंचल है। ऐसा विचार कर मैंने इसका त्याग कर दिया है तथा शान्ति को प्रतिष्ठित किया है। जैसे मृग तुच्छ तृणों के लोभ से ठगे जाकर गड्ढों में गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार अन्त: करण की वृत्तियाँ निस्सार विषयों द्वारा ठगी जाती है।

अत: महात्मन्! जन्म मरण आदि दु:खों से रहित, देह आदि उपाधियों से शून्य तथा भ्रान्ति रहित वह महान् विश्रान्ति दायक परम पद कौन सा है जहाँ पहुँच जाने से शोक का अभाव हो जाता है? जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पद को

प्राप्त हुए? आप जैसे महात्मा इस संसार में कैसे जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं? इस संसार में समस्त व्यवहारों का निर्वाह करता हुआ भी मनुष्य बन्धन में न पड़े इसका क्या उपाय है? प्रभो! मुझे तत्त्व का कुछ उपदेश दीजिए, जिसमें मैं ब्रह्मा जी द्वारा रचित इस अव्यवस्थित जगत् का आदि अन्त समझ सकूँ। इस संसार में ग्रहण करने योग्य क्या वस्तु है? त्याज्य वस्तु क्या है? अग्राह्य और अत्याज्य वस्तु क्या है? मनुष्यों का यह चंचल चित्त किस प्रकार स्थिरता एवं शांति को प्राप्त करें? ऐसा कौन-सा उपाय है, क्या गति है, कौन-सा चिन्तन है, क्या आश्रय है तथा कौन-सा साधन है, जिसका अवलम्बन करने से यह जीवन रूपी वन भविष्य में अमंगलकारी न हो? यह नश्वर संसार निरन्तर दुःखों से परिपूर्ण और नीरस है। यह मन रूपी चन्द्रमा काम से कलंकित हो रहा है इस किस प्रकार धोया जाए कि उससे निर्मल एवं दिव्य चाँदनी का उदय हो। किस उपाय का आश्रय लिया जाय जिससे संसार रूपी वन में विचरने वाले जीवन राग-द्वेष रूपी बड़े-बड़े दोष तथा भोग समूह कष्ट न दे सकें? मोह की निवृत्ति के लिए आप जैसा, जो कुछ भी जानते हैं, उसका उसी रूप में मुझे उपदेश कीजिए।

वाल्मीकि जी कहते हैं-भरद्वाज! इस प्रकार श्री रामचन्द्र जी वशिष्ठ आदि महान् गुरुजनों के समक्ष उपयुक्त बातें कहकर चुप हो गए।

(वैराग्य प्रकरण सम्पूर्ण)

['जो लोग उद्योग का त्याग करके केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं अपने ही दुश्मन है।'']

अध्याय : 6

2. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण
(विश्वामित्र जी का उपदेश)

(सर्ग 1-2)

(अ) शुकदेव जी की कथा (सर्ग-1)

वाल्मीकि जी कहते हैं-भरद्वाज! इस प्रकार श्री राम के इस भाषण के बाद विश्वामित्र जी ने उन्हें प्रेमपूर्वक कहा- 'ज्ञानियों में श्रेष्ठ रघुनन्दन! तुम्हारे लिए और कुछ जानना शेष नहीं है। तुम अपनी ही सूक्ष्म बुद्धि से सब कुछ जान गये हो। तुम परमात्मा को तत्त्व से जानते हो। तुम्हारी बुद्धि भगवान् व्यास के पुत्र शुकदेव की सी है। श्री राम! मैं तुमसे व्यास पुत्र शुकदेव जी का वृतान्त कह रहा हूँ, इसे सुनो। यह सुनने वाले मनुष्यों के मोक्ष का कारण है।

भगवान् व्यास के महाज्ञानी पुत्र शुकदेव जी सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता थे किन्तु उन्हें यह विश्वास नहीं हुआ कि यही परमार्थ वस्तु है। एक दिन उन्होंने मेरुगिरी पर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता से पूछा-'यह संसार रूपी आडम्बर कैसे पैदा हुआ है? कैसे इसका नाश होता है? यह कितना बड़ा है? किसका है? और कब तक रहेगा? पुत्र के ऐसा प्रश्न करने पर व्यास जी ने उन्हें सब कुछ बता दिया किन्तु वे

इससे संतुष्ट नहीं हुए। तब व्यास जी उनके मन का भाव जानकर उनसे बोले–बेटा! भूतल पर जनक नाम से प्रसिद्ध एक राजा है जो जानने योग्य तत्त्व को यथार्थ रूप से जानते हैं। उनसे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।

पिता के ऐसा कहने पर शुकदेव जी विदेहपुरी में जा पहुँचे। वहाँ द्वारपाल ने उनके आगमन की सूचना जनक जी को दी तो जनक ने शुकदेव जी की परीक्षा लेने हेतु द्वारपाल से कहा–'शुकदेव जी आये हैं तो वहीं ठहरे।' ऐसा कहकर राजा सात दिनों तक चुपचाप बैठे रहे। उनकी कोई खोज खबर नहीं ली। इसके बाद उनको राजमहल में बुलाया। वहाँ आकर भी वे सात दिन तक उपरत बैठे रहे। इसके बाद जनक ने उन्हें अन्त:पुर में ले आने की आज्ञा दी किन्तु वहाँ भी राजा ने सात दिनों तक उनको दर्शन नहीं दिया। वहां भी वे हर्ष-विषाद् से रहित, स्वस्थ चित्त, एवं मौन बने रहे।

इस परीक्षा द्वारा जनक जी ने शुकदेव जी के स्वभाव को जानकर उन्हें सादर अपने पास बुलाया और कहा, ''ब्रह्मन्! परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिए जो–जो आवश्यक कर्तव्य है, वे सब आपने पूर्ण कर लिए हैं। अब आपको किस वस्तु की इच्छा है।'' इस पर शुकदेव जी ने वे ही प्रश्न दोहराए जो उन्होंने अपने पिता से किये थे।

(ब) राजा जनक का उपदेश

इस पर राजा जनक ने कहा–मुने! इस ब्रह्माण्ड में एक अखंड चिन्मय परम पुरुष परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपने अपने विवेक से इसे जाना है तथा अपने पिता से भी इसको सुना है। इससे बढ़कर दूसरा कोई जानने

योग्य तत्त्व नहीं है। जो प्राप्त करने योग्य वस्तु है उसे आपने पा लिया है। आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है। आप बाह्य विषय की ओर दृष्टिपात नहीं करते, अतः मुक्त हैं। अभी कुछ पाना या जानना शेष रह गया है, इस भ्रम को त्याग दीजिए।

राजा जनक के ये वचन सुनकर शुकदेव जी के शोक, भय और श्रम सभी नष्ट हो गये। वे सर्वथा संशयरहित हो गये। तदन्तर वे मेरुपर्वत पर समाधि लगाने के लिए चले गये। वहाँ दस हजार वर्षों तक (वर्ष का अर्थ दिन भी है) निर्विकल्प समाधि में स्थित रहे तथा प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर परमात्मा में लीन हो गये।

(स) विश्वामित्र जी का वशिष्ठ जी से अनुरोध

(सर्ग-2)

विश्वामित्र जी श्री राम को यह कथा सुनाकर मुनि वशिष्ठ जी से कहने लगे कि श्री राम ने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है। इसलिए सारे भोग समूह उन्हें रुचिकर नहीं ज्ञात हो रहे हैं। भोगों के चिन्तन से ही अज्ञान जनित बन्धन दृढ़ होता है और भोग-वासना के शान्त हो जाने पर संसार बन्धन क्षीण हो जाता है। भोग वासना के क्षय को ही मोक्ष कहते हैं और विषयों में होने वाली दृढ़ वासना को ही बन्धन बताते हैं। जिसकी दृष्टि राग आदि दोषों से रहित है वही तत्त्वज्ञ है और वही विद्वान् है। जब तक जानने योग्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब तक मनुष्य के हृदय में विषयों की ओर से वैराग्य नहीं होता। जब श्री राम सद्गुरु के मुख से यह सुन लेंगे कि 'यही परमार्थ वस्तु है' तब इनके चित्त को अवश्य विश्राम

प्राप्त होगा। इसके चित्त के विश्राम के लिए समस्त इक्ष्वाकुवंशियों के शिक्षक और कुलगुरु वशिष्ठ जी यहाँ युक्ति का प्रतिपादन करें। महात्मन्! वही ज्ञान, वही शास्त्रार्थ और पांडित्य सार्थक एवं प्रशंसित है, जिसका वैराग्य युक्त उत्तम शिष्य के लिए उपदेश दिया जाता है। जिसमें वैराग्य नहीं है तथा जो शिष्य भाव से रहित है, उसे जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है, वह कुत्ते के चमड़े से बने हुए कुप्पे में रखे हुए गाय के दूध की भाँति अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है।

गाधिनन्दन विश्वामित्र के ऐसा कहने पर ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी वशिष्ठ मुनि ने, जो ब्रह्माजी के समान ही ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न थे, कहा-

वशिष्ठ जी बोले-मुने! आप जिस कार्य के लिए मुझे आज्ञा दे रहे हैं उसे मैं बिना विघ्न बाधा के आरम्भ कर रहा हूँ। शक्तिशाली होकर भी संतों की आज्ञा का उल्लंघन करने में कौन समर्थ हो सकता है? पूर्व काल में निषद पर्वत पर पूजनीय पद्मयोनि ब्रह्माजी ने संसार रूपी भ्रम को दूर करने के लिए जिस ज्ञान का उपदेश किया था, वह अविकल रूप से मुझे याद है।

अध्याय : 7

महर्षि वशिष्ठ का उपदेश

(सर्ग 3-9)

(अ) यह जगत् भ्रम एवं मिथ्या है (सर्ग-3)

वशिष्ठ जी ने कहा–पूर्व काल में सृष्टि के प्रारम्भ के समय भगवान ब्रह्मा ने संसाररूपी भ्रम के निवारण के लिए ज्ञान का उपदेश दिया था, उसी का मैं यहाँ वर्णन करता हूँ।

यह जगत् स्वप्न में देखे गये नगर के समान भ्रम द्वारा निर्मित हुआ है। मृत्यु काल में पुरुष स्वयं अपने हृदय में इसका अनुभव करता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या होने पर भी चिरकाल तक अत्यन्त परिचय में आने के कारण घनीभाव (दृढ़ता) को प्राप्त होकर जीव के हृदयाकाश में प्रकाशित हो बढ़ने लगता है। यही 'इहलोक' कहलाता है। वासना के भीतर अन्य अनेक शरीर और उनके भीतर भी दूसरे-दूसरे शरीर–ये इस संसार में केले के वृक्ष की त्वचा के समान एक के पीछे एक प्रतीत होते हैं। वस्तुतः इस संसार में कोई सार नहीं है। न तो पृथ्वी आदि पंच महाभूतों के समुदाय है और न जगत् की सृष्टि का कोई क्रम ही है। ये सब के सब मिथ्या है। तथापि मृत और जीवित जीवों को इनमें संसार का भ्रम होता है यह अविद्या रुपिणी नदी है जिसका कहीं अन्त नहीं है। मूढ़ परुषों के लिए यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते।

श्री राम! परमार्थ सत्य रूपी विशाल महासागर में सृष्टि

रूपी असंख्य तरंगे उठती हैं। इस समय ब्रह्म कल्प का बहत्तरवां त्रेतायुग चल रहा है। यह पहले भी अनेक बार हो चुका है और आगे भी होता रहेगा। यह वही पहले वाला त्रेतायुग है और उससे विलक्षण भी है। ये जितने लोक हैं वे पूर्व में भी हुए हैं। श्री राम! तुम भी अनेक बार त्रेतायुग में अवतार ले चुके हो और भविष्य में भी लोगे। मैं कितनी ही बार वशिष्ठ रूप में उत्पन्न हो चुका हूँ और आगे भी होऊँगा। हमारे ये सभी रूप पूर्व के तुल्य होंगे और भिन्न भी। इस बात को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सभी प्राणी पूर्व कल्पों के समान होते हैं।

(ब) पुरुषार्थ की महत्ता और दैववाद (प्रारब्ध)

(सर्ग 4-9)

सौम्य श्री राम! समुद्र की जलराशि शान्त हो या तरंग युक्त, दोनों दशाओं में उसकी जलरूपता समान ही है, उसी तरह देह के रहते हुए और उसके न रहते हुए भी मुक्त महात्मा मुनि की स्थिति एक-सी होती है। उसमें कोई भेद नहीं होता। सदेह मुक्ति हो या विदेह मुक्ति, उसका विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त दोनों ही प्रकार के महात्मा बोध-स्वरूप हैं। उनमें क्या भेद है?

रघुनन्दन! इस संसार में सदा अच्छी तरह पुरुषार्थ करने से सबको सब कुछ मिल जाता है। जहाँ कहीं किसी को असफल देखा जाता है, वह उसके सम्यक् प्रयत्न का अभाव ही कारण है। परमात्म प्राप्ति रूप आत्यंतिक आनन्द पुरुष के प्रयत्न से ही प्राप्त हो सकता है। अन्य हेतु (प्रारब्ध) से नहीं। इसलिए पुरुष को प्रयत्न पर ही निर्भर रहना चाहिए। शास्त्रज्ञ

सत्पुरुषों के बताये हुए मार्ग से चलकर अपने कल्याण के लिए जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पुरुषार्थ है और वही सफल चेष्टा है। इससे भिन्न जो शास्त्र विपरीत मनमाना आचरण है, वह पागलों की-सी चेष्टा है। जो मनुष्य जिस पदार्थ को पाना चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिए यदि वह क्रमश प्रयत्न करता है और बीच में ही उससे मुँह नहीं मोड़ लेता तो अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है। शास्त्र के विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थ की प्राप्ति कराने वाला होता है।

रघुनन्दन! जो मनुष्य जैसा प्रयत्न (कर्म) करता है, वह वैसा ही फल भोगता है। जो कहता है कि दैव वश फल में विपरीतता आ जाती है तो उसका कथन ठीक नहीं। अपना पूर्वकृत कर्म ही फल देने के लिए उन्मुख होने पर 'दैव' कहलाता है। उसके अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। पुरुषार्थ दो प्रकार का है-एक शास्त्रानुमोदित (पुण्य कर्म) और दूसरा शास्त्रविरुद्ध (पाप कर्म) शास्त्र विरुद्ध पुरुषार्थ अनर्थ का कारण होता है और शास्त्रानुमोदित पुरुषार्थ परमार्थ वस्तु की प्राप्ति के कारण है। इसलिए मनुष्य को ऐसा उद्योग करना चाहिए कि इस जन्म का पौरुष पूर्व जन्म के शुभ पौरुष (प्रारब्ध) को शीघ्र जीत ले। पूर्वजन्म का पुरुषार्थ (प्रारब्ध) प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक प्रबल नहीं है। इस जन्म के शुभ पौरुष से पूर्व जन्म का दोष अवश्य नष्ट हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं है। उद्योग शून्य आलसी मनुष्य गदहों के समान गये बीते हैं, अतः स्वयं ही उद्योग छोड़कर उन्हीं की श्रेणी या तुलना में नहीं जाना चाहिए। शास्त्र के अनुसार किया गया उद्योग इहलोक और परलोक

दोनों की सिद्धि में कारण है। मनुष्य को पुरुषार्थ रूपी प्रयत्न का आश्रय लेकर इस संसाररूपी गड्ढे से स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिए। शुभ पुरुषार्थ से शीघ्र ही शुभ फल की प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थ से सदा अशुभ फल ही मिलता है। इन शुभ-अशुभ पुरुषार्थों के सिवा दैव नाम की दूसकी कोई वस्तु नहीं है। इन्हीं का नाम दैव या प्रारब्ध है। जो शास्त्र के अनुसार अपनी श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा साधन नहीं करते और चित्त में विषयों का ही चिन्तन करते रहते हैं, उन मूढ़ पुरुषों की अत्यन्त दूषित भोगेच्छा को धिक्कार है। सद्शास्त्र के अनुकूल किया गया पौरुष प्रयत्न परमात्म साक्षात्कार रूप अपने फल को देता है। यह उसका स्वभाव है।

वशिष्ठ जी कहते हैं-श्री राम! पूर्व जन्म के पौरुष से भिन्न दैव कोई वस्तु नहीं है (पूर्वजन्म का पुरुषार्थ ही दैव है)। पूर्व जन्म के पौरुष को ही कोई देव की संज्ञा देना चाहे तो दे सकता है। जो दैव भरोसे सदा बैठे रहते हैं वे दीन, पामर और मूढ़ हैं। पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के पुरुषार्थ दो मेढ़ों की तरह आपस में लड़ते हैं। उनमें जो भी बलवान होता है, वही दूसरे को क्षण भर में पछाड़ देता है। इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बल से पूर्व जन्म के पौरुष या दैव को नष्ट कर देता है। पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप प्रारब्ध और वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ, इन दोनों में वर्तमान जन्म का पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान है। इसलिए अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का सहारा लेकर संसार सागर से अपना उद्धार कर लेना चाहिए। जो इस प्रत्यक्ष पुरुषार्थ को छोड़कर देवरूपी मोह में निमग्न होता है, वह मूढ़ है।

जो लोग उद्योग का त्याग करके केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं वे आलसी मनुष्य स्वयं अपने ही शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं। बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियों द्वारा की जाने वाली चेष्टाएँ पौरुष के रूप हैं। इन्हीं से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। पुरुषार्थ से ही वृहस्पति देवताओं के गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थ से ही शुक्राचार्य ने दैत्यराजों के गुरु का पद प्राप्त किया है। शास्त्रों के अभ्यास, गुरु के उपदेश और अपने प्रयत्न–इन तीनों से ही सर्वत्र पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है। दैव तो दु:ख सागर में डूबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्त वाले लोगों के लिए आश्वासन मात्र है।

श्री राम! बताओ तो सही, इस लोक में जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पंडित हैं वे किसदैव की प्रतीक्षा करते हैं? महामुनि विश्वामित्र ने दैव को दूर से त्याग कर पौरुष से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किसी साधन से नहीं। अपने चिरकाल तक किये गये पौरुष से ही आकाश में विचरण करने की शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिपु ने पुरुषोचित्त प्रयत्न से ही त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त किया था।

रघुनन्दन! पौरुष द्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्म का जो प्रिय और अप्रिय रूप फल प्राप्त होता है, उसी को 'दैव' नाम दिया गया है। जीव में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। जो गाँव में जाना चाहता है वह गाँव में और जो नगर में जाना चाहता है वह नगर में पहुँचता है। जो मनुष्य जिस वासना से युक्त होता है वह उसी के लिए सदा प्रयत्न करता है। पूर्वजन्म में किया गया प्रयत्न ही इस जन्म में 'दैव' कहलाता है। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है।

वासना मन से भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है। मन, चित्त वासना, कर्म, दैव और निश्चय-ये मन की ही संज्ञाएँ हैं।

श्री राम! तुम परम कल्याण का प्राप्ति के लिए उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय ले पाँचों इन्द्रियों को जीत कर यहाँ शुभ वासना से युक्त हो जाओ। तत्पश्चात् उस शुभ वासना का भी परित्याग करके परब्रह्म परमात्मा में भली-भाँति स्थित हो जाओ।

अध्याय : 8

वशिष्ठ का जन्म एवं मोक्ष के चार द्वारपाल

(सर्ग 10-11)

(अ) महर्षि वशिष्ठ का जन्म (सर्ग-10)

श्री राम! जो सर्वत्र नित्य समतारूप से स्थित सच्चिदानन्दमय ब्रह्म तत्व है, उससे सम्बन्ध रखने वाली सत्ता को 'नियति' कहते हैं। वही नियन्ता की नियन्त्रण शक्ति है तथा नियन्त्रण मे रहने वाले पदार्थों में जो नियन्त्रित होने की योग्यता है, वह भी सत्ता ही है। अब मैं सारगर्भित संहिता का वर्णन करूँगा जो इहलोक तथा परलोक की सिद्धि के लिए परम पुरुषार्थ रूप फल प्रदान करने वाली और मोक्ष के उपायभूत साधनों से सम्पन्न है।

सृष्टि के आदि में परमेष्ठी ब्रह्मा ने इस मोक्ष कथा का वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दु:खों का विनाश करने वाली है और बुद्धि को परम शांति प्रदान करती है।

ब्रह्माजी इस सृष्टि में सारे जन समुदाय को नाना प्रकार के व्यसन जन्य कष्टों से पीड़ित देखकर विचार करने लगे कि इन दु:खों का अन्त किस प्रकार होगा। इनके लिए पहले तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ सेवन आदि साधनों का निर्माण किया किन्तु इन साधनों से साँसारिक दु:खों का समूल नाश नहीं हो सकता, बल्कि परम निर्वाण रूप मोक्ष ही परम सुख

है जिससे जीव जन्म मृत्यु के चक्र से छूट जाता है। उस मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। संसार सागर से पार होने का एक मात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थ सेवन आदि इसके उपाय नहीं है।

ऐसा विचार कर उन्होंने अपने संकल्प द्वारा एक मानस पुत्र उत्पन्न किया। वह मानस पुत्र मैं ही वशिष्ठ हूँ। किन्तु मैं सर्वज्ञ होने से मुझे अज्ञ जनों के प्रति करुणा कैसे हो सकती थी, इसलिए उन्होंने मुझे शाप दिया कि मैं कुछ समय के लिए अज्ञ हो जाऊँ। तो मैं अज्ञ (अज्ञानी) हो गया। फिर मैंने इस दुःख रूपी संसार से पार होने के लिए युक्ति पूछी तो ब्रह्मा ने मुझे विस्तार के साथ इसका उपदेश दिया। थोड़े ही समय में मुझे तत्त्व ज्ञान हो गया। जब ब्रह्मा जी ने मुझे जम्बू द्वीप के भारतवर्ष नामक देश में जाकर वास करने और तत्त्व ज्ञान का प्रचार करने का आदेश दिया। मैंने कर्म परायण लोगों को कर्मकाण्ड का उपदेश दिया और विरक्त लोगों को जो निर्वाण पद प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें ज्ञान का उपदेश दिया जिससे वे जीवन्मुक्त हो सकें। रघुकुल भूषण! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजी द्वारा नियुक्त होकर इस लोक में निवास कर रहा हूँ और जब तक सृष्टि परंपरा रहेगी, तब तक यहाँ रहूँगा। श्री राम! तुम्हारा यह वैराग्य विवेक से उत्पन्न हुआ है जो सात्विक है। तुम ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो। इसलिए यह सम्पूर्ण ज्ञान जो मेरे पिता ने मुझे दिया था, तुम्हें दूँगा जिससे तुम परमानन्द को प्राप्त होकर संसार में विचरोगे।

(ब) मोक्ष के चार द्वारपाल (सर्ग-11)

श्री राम! यह विवेक एक वृक्ष के समान है और भोग तथा

मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। इस मोक्ष के द्वार पर निवास करने वाले चार द्वारपाल बतालाये जाते हैं, जिनके नाम हैं- शम, विचार, संतोष और साधु संगम। मनुष्य को इन चारों का भी यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। इनके भली भाँति सेवन से ये मोक्ष रूपी राजमहल के द्वार को खोल देते हैं। यदि चारों का सेवन न हो सके तो तीन, या दो का सेवन अवश्य करना चाहिए। यदि दो का भी सेवन न हो सके तो सभी उपायों द्वारा प्राणों की बाजी लगाकर भी एक का आश्रय तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए। जब एक वश में आ जाता है तब शेष तीनों भी अधीन हो जाते हैं। विवेकी पुरुष तप, ज्ञान और शास्त्र के श्रवण-मनन आदि का उत्तम पात्र होता है। अविवेकियों की बुद्धि घनता को प्राप्त होकर अत्यन्त जड़ हो जाती है। मनुष्य को उचित है कि पहले इस आवागमन से छूटने के लिए शास्त्राभ्यास और सत्संगति पूर्वक तपस्या एवं इन्द्रिय निग्रह द्वारा अपनी बुद्धि का ही संवर्द्धन करे। यह संसार विष वृक्ष के समान है। यह विपत्तियों का एक मात्र स्थान है जो अज्ञानियों को सदा मोहित करता रहता है। इसलिए यत्न द्वारा अज्ञान का विनाश कर डालना ही उचित है।

श्री राम! तुम्हारा हृदय अज्ञान से रहित एवं विशुद्ध हो गया है जिससे तुम इस ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो।

अध्याय : 9

ज्ञान की भूमिका

(सर्ग 12-16)

(अ) ज्ञान का महात्म्य (सर्ग-12)

वशिष्ठ जी कहते हैं-राघव! तुम्हारा मन उत्तम गुणों से परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो, इसलिए मैं आदरपूर्वक तुम्हें उपदेश देने को उद्यत हुआ हूँ। तुम ज्ञान के संसर्ग से वैराग्य को प्राप्त हुए हो। तुम तो सर्वथा शुद्ध हो इसलिए तुम इस कथा को सुनने के योग्य अधिकारी हो। अब मैं इस मोक्ष कथा का वर्णन करूँगा, तुम सावधान होकर इसे सुनो। जीव और ब्रह्म का एकात्म बोध ही वह गरुड़ मन्त्र है जिससे यह संसार रूपी इस विषुचिका का समूल नाश हो सकता है। सत्पुरुषों के साथ शास्त्र चिंतन करने से जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, उसे तत्त्व का ज्ञान हो जाने से सर्व व्यापक आत्मा का स्वरूप विदित हो जाता है। वह शुद्ध बद्धि द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है जिससे मोह का विनाश हो जाता है। फिर उसके लिए जगत् में विचरण करना रमणीय हो जाता है। जिन्हें आत्म स्वरूप का ज्ञान हो गया है, उन्हें न शोक, होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभ की याचना ही करते हैं। वे इस संसार में सब कुछ करते हुए भी अकर्ता के समान रहते हैं। वे हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित होकर अपने आत्मा में स्थित रहते हैं, पवित्रता से रहते

हैं, और स्वच्छ कर्म करते हुए सन्मार्ग पर चलते हैं। इस प्रकार की स्थितियाँ आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य उपाय से नहीं उपलब्ध होती। इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह जीवन पर्यन्त आत्मा की ही खोज करे, उसी की उपासना करे और उसी का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे, इसके अतिरिक्त उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

उस केवल रूप परमात्मा की प्राप्ति में धन-सम्पत्ति, मित्र, भाई-बन्धु, हाथ पैर का संचालन, देशान्तर गमन, शारीरिक कष्ट सहन और तीर्थ-सेवन उपकारी नहीं हो सकते। वह तो केवल मनोजप से प्राप्त किया जा सकता है। उस समय वह न तो किसी की अभिलाषा करता है, न किसी का त्याग ही करता है।

(ब) मोक्ष का साधन (शम) (सर्ग-13)

राघव! मोक्ष के चार ही द्वारपाल हैं। जिनमें एक से भी प्रीति हो जाने पर मोक्ष में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसमें मुख्य 'शम' है। शम ही परम पद है, मंगलमय, शांतिदायक, भ्रम का निवारण करने वाला तथा परम कल्याणकारी है। शम युक्त पुरुष से विशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र, अथवा सर्प कोई भी द्वेष नहीं करते।

जो पुरुष प्रिय या अप्रिय को सुनकर, स्पर्श-कर, देखकर, खाकर और सूंघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है वह 'शान्त' कहा जाता है। जो इन्द्रियों को वश में करके समस्त प्राणियों के साथ समतापूर्वक व्यवहार करता है तथा न तो भविष्य की आकांक्षा करता है और न प्राप्त का परित्याग करता है वह 'शान्त' कहलाता है।

जिसका मन मरण, उत्सव और युद्ध के अवसर पर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डल के समान निर्मल आभा से युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोप का अवसर उपस्थित होने पर भी जो न तो हर्ष को प्राप्त होता है, न क्रोध ही करता है वह 'शान्त' पद से व्यक्त होता है। जिसकी अमृत प्रवाह के समान सुख दायिनी तथा प्रेम पूर्ण दृष्टि सभी प्राणियों पर समान रूप से पड़ती है उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसकी बुद्धि राग-द्वेष रूपी कलंक से दूषित नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है।

रघुनन्दन! तुम भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए इसी का अनुसरण करो।

(स) विचार (सर्ग-14)

वशिष्ठ जी कहते हैं राघव! आत्म विषयक विचार करने से बुद्धि तीव्र होकर परमपद का साक्षात्कार कर लेती है। संसाररूपी महारोग के लिए विचार ही महौषध है। लौकिक दुःख से पार होने के लिए विद्वानों के पास विचार के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। जितने क्रूर, निषद्धाचरण और कुत्सित मानसिक कष्ट है, वे सभी विचार हीनता से ही अविर्भूत होते हैं। जगत् के सारे पदार्थ तभी तक सत्य की तरह रमणीय प्रतीत होते हैं, जब तक विचार नहीं किया जाता। विचार करने पर वे नष्ट हो जाते हैं। विचारशील पुरुष गई हुई वस्तु की उपेक्षा कर देता है और प्राप्त वस्तु का शास्त्रानुसार उपयोग करता है। वह मन की प्रतिकूलता में न तो क्षुब्ध होता है, न अनुकूलता में प्रसन्न ही। उस समय जल से परिपूर्ण सागर की तरह उसकी शोभा होती है। इस प्रकार

जिन उदाराशय महात्मा योगियों का मन पूर्णकाम हो गया है, वे जीवन्मुक्त होकर इस जगत् में विचरण करते हैं। जैसे रात्रि में भूतल पर पदार्थों का ज्ञान दीपक से होता है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिए वेद-वेदान्त के सिद्धान्तों की स्थितियों का निर्णय विचार द्वारा होता है। उत्तम विचार से युक्त पुरुष, सामान्य जनों की तो बात ही क्या, महापुरुषों के लिए भी आदरणीय हो जाता है। विचार हीनता सारे अनर्थों का निजी निवास स्थान है। सभी सत्पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं और वह सारी दुर्गतियों की चरम सीमा है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिए। विचार से ही तत्त्व का ज्ञान होता है, तत्त्व ज्ञान से मन की निश्चलता प्राप्त होती है और मन के शान्त हो जाने से सम्पूर्ण दुःखों का सर्व नाश हो जाता है।

(द) संतोष (सर्ग-15)

परंतप राम! संतोष ही परम श्रेय है और संतोष परम सुख भी कहा जाता है। संतोष युक्त पुरुष परम विश्राम को प्राप्त होता है। जो शान्त पुरुष संतोषामृत के पान से पूर्णतः तृप्त हो चुके हैं, उनके लिए यह अपरिमित भोग सम्पत्ति विष-सी जान पड़ती है। जो अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा का परित्याग करके प्राप्त हुई वस्तु में समभाव रखने वाला है तथा जिसमें हर्ष-शोक के विचार परिलक्षित नहीं होते, वह मनुष्य इस लोक में 'संतुष्ट' कहा जाता है। जैसे मलिन दर्पण में मुख की छाया नहीं दीखती, उसी प्रकार आशा की परवशता से व्याकुल एवं संतोष रहित चित्त में ज्ञान का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जिसका मन शारीरिक तथा मानसिक क्लेशों से मुक्त

एवं संतुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होते हुए भी सच्चे साम्राज्य सुख का उपयोग करता है।

(य) साधु संगम (सर्ग-16)

महाबुद्धिमान् राम! इस संसार में श्रेष्ठ सन्त-समागम मनुष्यों को संसार सागर से उबारने में सर्वत्र विशेष रूप से उपकार करता है। श्री राम! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि सन्तसमागम विशेषरूप से बुद्धि वर्द्धक, अज्ञानरूपी वृक्ष का उच्छेदक और मानसिक व्यथाओं को दूर भगाने वाला है। जिसने सत्संगति रूपी गंगा में, जो शीतल एवं निर्मल है, स्नान कर लिया उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञों से क्या लेना है। जो राग शून्य और संशय रहित है तथा जिनकी चिज्जड़ ग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, ऐसे सन्त पुरुष यदि लोक में विद्यमान है तो तप एवं तीर्थों के संग्रह से क्या लाभ?

संतोष, सत्संगति, विचार और शम–ये चारों ही मनुष्यों के लिए भवसागर से तरने के साधन हैं। इनमें संतोष परम लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है। ये चारों संसार का समूल विनाश करने के लिए विशुद्ध उपाय है। जिन्होंने इनका सेवन, किया, वे मोह जल से परिपूर्ण भवसागर से पार हो गये। इन चारों में से एक ही साधन का अभ्यास हो जाने पर शेष तीनों भी अवश्य अभ्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि इनमें से एक-एक भी क्रमशः इन चारों की जन्मभूमि है। अतः सबकी सिद्धि के लिए यत्नपूर्वक एक का तो पूर्णरूप से आश्रय लेना ही चाहिए। जब तक मनुष्य परम पुरुषार्थ के आश्रय से अपने चित्त रूपी गजराज को जीतकर हृदय में एक गुण भी धारण नहीं कर

लेता, तब तक उत्तम गति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके चित्त में उत्तम फलदायक एक ही गुण सुदृढ़ हो गया, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

अध्याय : 10

ग्रन्थ परिचय एवं प्रशंसा

(सर्ग 17-20)

(अ) श्रवण की पात्रता (सर्ग-17)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! जैसे राजा नीतिशास्त्र के श्रवण का उत्तम पात्र होता है उसी प्रकार विवेक से युक्त पुरुष ही ज्ञानोपदेश सुनने का योग्य पात्र है। जिसका पुण्यरूपी कल्प वृक्ष फलों के भार से अत्यन्त झुका हुआ खड़ा है, वह पुरुष मुक्ति प्राप्ति के निमित्त इसे श्रवण करने के लिए उद्योग करता है।

(ब) ग्रन्थ परिचय

यह संहिता मोक्ष साधन की प्रतिपादिका, सारभूत अर्थों से परिपूर्ण और मोक्ष दायिनी है। इसमें बत्तीस हजार श्लोक बतलाये जाते हैं। इस संहिता के परिशीलन से इच्छा न रहने पर भी निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। जैसे रस्सी का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उसमें उत्पन्न हुई सर्वभ्रान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस संहिता के सम्यक् परिशीलन से संसार का दु:ख शान्त हो जाता है।

इस संहिता में प्रथक्-प्रथक् रचे गये छः प्रकरण हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नाम से कहा गया है। डेढ़ हजार श्लोकों से युक्त इस वैराग्य प्रकरण का विचार करने से हृदय

में शुद्धता का उदय होता है। तदन्तर 'मुमुक्षु व्यवहार' नामक प्रकरण की रचना की गई। इस प्रकरण में केवल एक हजार श्लोक हैं। इसमें मुमुक्षु पुरुषों के व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा प्रकरण 'उत्पत्ति प्रकरण' आता है जो विज्ञान का प्रतिपादक है। इसमें सात हजार श्लोक हैं। तत्पश्चात् चौथे 'स्थिति' प्रकरण की अवतारणा की गई है। इस प्रकरण में तीन हजार श्लोक हैं। तदुपरान्त पाँचवाँ 'उपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। तदन्तर 'निर्वाण' नामक छठे प्रकरण का वर्णन किया गया है। उसमें शेष चौदह हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञान रूपी महान् पुरुषार्थ का देने वाला है। उसे जान लेने पर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और परमात्मा की प्राप्ति रूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है।

(स) ग्रन्थ प्रशंसा (सर्ग 18-20)

श्री राम! जैसे उपजाऊ खेत में उचित समय पर बोये गये उत्तम बीज से अवश्य ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिता को हृदयंगम कर लेने से परमार्थ विषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होने पर प्रकाश का होना अवश्यंभावी है, वैसे ही इस संहिता को चित्त में धारण कर लेने मात्र से निश्चय ही उत्तम विवेक की उपलब्धि होगी। सद्शास्त्रों के परिशीलन से जिनका चरित्र उत्तम हो गया है, उनकी बुद्धि यथायोग्य प्राप्त शास्त्रानुकूल कर्म में ही रमण करती है।

इस सुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञान से युक्त, अलंकारों से विभूषित, काव्य स्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तों द्वारा

विषय का प्रदिपादन किया गया है। जैसे संकल्प द्वारा निर्मित नगर से पुरुष को हर्ष-विषाद् बाधा नहीं पहुँचाते, उसी तरह संसार भ्रम का परिज्ञान हो जाने पर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे चित्रलिखित सर्प का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसार का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर यह स्थिति रहते हुए भी शान्त हो जाता है। अर्थात् इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

यह शास्त्र ज्ञान का विस्तार करने वाला और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सारभूत पदार्थों की परमावधि है।

रघुनन्दन! पहले संत समागम रूपी युक्ति के द्वारा बलपूर्वक अपनी बुद्धि को बढ़ाना उचित है। जब तक इस संसार में ज्ञान और सदाचरण का समान रूप से अभ्यास नहीं किया जाता तब तक पुरुष को इन दोनों में से एक की भी सिद्धि नहीं होती। यह सद्शास्त्र कीर्तिकारक, आयुवर्द्धक और परम पुरुषार्थ रूप फल प्रदान करने वाला है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को इस शास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न आप्त पुरुष से इसका श्रवण करना चाहिए।

॥ मुमुक्षु प्रकरण सम्पूर्ण ॥

''व्यवहार दशा में जो जगत् है वही परमार्थ दशा में ब्रह्म है।''

अध्याय : 11

3. उत्पत्ति-प्रकरण

ब्रह्म ही जगत का मूल है

(सर्ग 1-5)

(क) ब्रह्म का स्वरूप (सर्ग-1)

श्री वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! जब तक दृश्य जगत् की सत्ता है तभी तक जन्म-मृत्यु रूप संसार का बन्धन है। दृश्य का अभाव हो जाने से बन्धन कदापि नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ। तुम क्रमशः ध्यान देकर सुनो।

संसार में जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि एवं क्षय को प्राप्त होता है। वही बँधता और मोक्ष को प्राप्त होता है, तथा वही स्वर्ग या नरक में पड़ता है। अपने स्वरूप का बोध न होने से ही बन्धन है। उत्पत्ति आदि का सम्बन्ध इस दृश्य जगत् से ही है। आतमा तो इस दृश्य जगत की उत्पत्ति से पहले जैसा रहा है, वैसा ही उसकी उत्पत्ति के बाद भी है। जैसे सुषुप्ति में स्वप्न के संसार का अभाव हो जाता है, उसी तरह यह समस्त चराचर जगत् जो दिखाई देता है, उसका कल्प के अन्त में अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् कोई अव्यक्त अनिर्वचनीय सत् वस्तु ही शेष रह जाती है। वह न तेजस्तत्त्व है न तमोमय, किन्तु विद्वानों ने व्यवहार के लिए उसे आत्मा, परब्रह्म तथा

सत्य आदि नाम रख छोड़े हैं।

(ख) दृश्य जगत् भ्रम मात्र है

सोने का बना कड़ा सोना ही है। उस सोने से कड़े को जैसे अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यह जगत् परब्रह्म से अभिन्न है। जैसे कड़े का स्वरूप स्वर्ण के स्वभाव के ही अन्तर्गत है, उसी प्रकार यह दृश्यमान् जगत् भी अपने परिच्छिन्न स्वभाव को त्याग देने पर ब्रह्मभाव में ही प्रतिष्ठित हैं। अतः यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे मरु-मरीचिका में प्रतीत होने वाली नदी अपने भीतर न होने पर भी चंचल तरंगों का विस्तार करती है और वे सत्य जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत् रूपी इन्द्रजाल की सम्पत्ति का विस्तार करता है। यह सम्पत्ति असत् होने पर भी सत्य-सी प्रतीत होती है, वह माया है। सर्वज्ञ विद्वानों ने उसके अविद्या, संसृति, बन्ध, माया, मोह, महत् और तप आदि अनेक नामों की कल्पना की है।

(ग) दृश्य ही बन्ध है

दृश्य प्रपंच का अस्तित्व ही दृष्टा का बन्धन कहा गया है। दृश्य के बल से ही दृष्टा बन्धन में पड़ा है। दृश्य का निवारण हो जाने पर वह उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। 'तू', 'मैं' और 'यह' (त्वम्, अहम्, इदं) इत्यादि रूपों में जो कल्पित मिथ्या जगत् है, उसी को 'दृश्य' कहते हैं। जब तक यह दृश्य बना रहता है, तब तक मोक्ष नहीं होता। यदि यह वास्तव में है तो इसका निवारण किसी भी प्रकार नहीं हो सकता क्योंकि जो असत् वस्तु है उसका अस्तित्व नहीं है, और जो

सत् वस्तु है उसका कभी अभाव नहीं होता। इस दृश्य प्रपंच के रहते हुए निर्विकल्प समाधि कैसे हो सकती? निर्विकल्प समाधि होने पर ही चेतनता और तुरीय पद की उत्पत्ति होती है। इस मन रूप दृश्य के रहते हुए कोई समाधि के लिए कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, उसे दृश्य अवश्य प्राप्त होता है। चित्त-वृत्ति के रहते जगत् रूपी भ्रम का निवारण नहीं किया जा सकता है। जैसे पदार्थों में रस, तिल में तेल और फूलों में सुगंध रहती है उसी प्रकार उपदृष्टा में दृश्य बुद्धि रहती है। कपूर या कस्तूरी आदि जहाँ भी हो, उसकी सुगंध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार दृष्टा कहीं भी हो, उसके उदर में दृश्य जगत् का प्रादुर्भाव होता ही है। जैसे हृदय स्थित स्वप्न एवं संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभव से ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् तुम्हारे हृदय में ही स्थित है और अपने अनुभव से ही दृष्टिगोचर होता है।

(घ) ब्रह्मा का स्वरूप (सर्ग 2-3)

ब्रह्मा परम व्योम स्वरूप है। उनकी आकृति पृथ्वी आदि पाँच भूतों से रहित है। वे मनोमय और संकल्पमय है। वे चिन्मय आकाश के समान अनुभवं रूप है, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही है। उनमें कार्यकारण भाव नहीं है। वे स्वयंभू है। उनके कोई पूर्व कर्म नहीं है। वे अपने कारण भूत परब्रह्म से अभिन्न एवं आत्मस्वरूप है। स्वयंभू ब्रह्मा का यह शरीर अतिवाहिक (सूक्ष्म) है। जो अजन्मा है, उसे आधिभौतिक शरीर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। भूतों से उत्पन्न सभी के दो-दो शरीर होते हैं (स्थूल एवं सूक्ष्म) किन्तु ब्रह्मा का एक ही सूक्ष्म शरीर है। ब्रह्मा ही सभी जातियों के प्राणियों के एक

मात्र कारण है। संकल्प रूप ही उनका शरीर है। ये ही सभी जीवों की सृष्टि करके उनका विस्तार करते हैं। ये जीव ब्रह्मा के संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं। संसार में व्यवहार करने वाले समस्त प्राणियों में ब्रह्मा ही सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतनभूत है। अन्तःकरण ही उनका स्वरूप है। उन्हीं से अहंकार का उदय होता है। ब्रह्मा से ही अभिन्नरूप वाली यह सृष्टि प्रकट हुई और फैली है। संकल्प-पुरुष ब्रह्मा का शरीर चित्त मात्र है। ब्रह्मा मनोमय ही है इसलिए उनसे उत्पन्न होता है वह तद्रूप ही होता है। अजन्मा ब्रह्मा के कोई सहकारी कारण नहीं है।

मन ही ब्रह्मा के स्वरूप को प्राप्त हुआ है। वह मन संकल्प रूप है। मन ही इस जगत् का निर्माण एवं विस्तार करता है। मन का रूप ब्रह्मा है और ब्रह्मा का रूप मन है। मन के भीतर ही सम्पूर्ण दृश्य वर्ग स्थित है।

(च) मन का स्वरूप (सर्ग-4)

यह जगत् क्षणिक संकल्प रूपी मन से उत्पन्न हुआ है। संकल्प को ही मन समझो। जैसे द्रव रूपता से जल, और वायु से स्पन्दन भिन्न नहीं है उसी प्रकार संकल्प से मन भिन्न नहीं है। जो संकल्प है वही मन है।

यह समष्टिगत मन ही पितामह ब्रह्मा है। यह दृश्य प्रपंच वास्तव में उत्पन्न नहीं हुआ है। दृष्टा से भिन्न नहीं है। दृष्टा से दृश्य की पृथक सत्ता न होने के कारण दृश्य का अभाव हो जाने पर केवली भाव (कैवल्य) कहा जाता है।

(छ) जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है

रघुनन्दन! जिस वस्तु की सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं

होता। व्यवहार दशा में जो जगत् है वही परमार्थ दशा में ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवा 'जगत्' शब्द का दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं। हमारे सामने यह जो कुछ दृश्य प्रपंच दृष्टिगोचर होता है, वह सब अजर-अमर एवं अव्यय परब्रह्म ही है। सर्वत्र पूर्ण का प्रसार हो रहा है। शान्त परब्रह्म में शान्त जगत् स्थित है। वास्तव में न तो दृश्य सत्-रूप है, न दृष्टा, न दर्शन, न शून्य, न जड़ और न चित्त् ही सद्रूप है। केवल शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सद्रूप है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिए इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदि में मन से ही नगर की प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी मन से ही उत्पन्न होकर प्रतीति का विषय हो रहा है। स्वयं मन भी सृष्टि के आदि में उत्पन्न न होने के कारण असत् स्वरूप है। उस असत् रूप मन से कल्पित होने के कारण यह जगत् असत् ही है। जैसे स्वप्न असत् होता हुआ भी सत-सा प्रतीत होने वाले स्वप्नान्तर की सृष्टि करता है, उसी प्रकार मन ही इस सत-सा प्रतीत होने वाले जगत् की सृष्टि करता है।

(ज) ब्रह्म ही जगत् का मूल है (सर्ग-5)

श्री राम! महाप्रलय होने पर यह जगत् अति सूक्ष्म रूप से स्थित होने के कारण अपने कार्य में असमर्थ हो जाता है। उस समय यह विक्षेप रहित शान्तावस्था में ही शेष रहता है। उस समय परमात्मा महेश्वर ही विराजमान होते हैं जहाँ वाणी की पहुँच नहीं हो पाती, जो जीवन्मुक्त महात्मा द्वारा जाने जाते हैं। साँख्य दर्शन के अनुयायी जिन्हें 'पुरुष' कहते हैं, वेदांत वादी

'ब्रह्म' नाम से जिनका चिन्तन करते हैं, विज्ञान वेत्ताओं की दृष्टि में जो परम निर्मल 'विज्ञान मात्र' हैं। जिन्हें शून्यवादी 'शून्य' कहते हैं, जो सूर्य के प्रकाश के भी प्रकाशक है, सम्पूर्ण दृश्य समूह महाप्रलय में जिनमें ही विलीन होते हैं; जो आकाश में, विभिन्न शरीरों में, प्रस्तरों में, जल में, लताओं में, धूलि कणों में, पर्वतों में, वायु में और पाताल आदि सभी देश, काल एवं वस्तुओं के समान भाव से स्थित है; जिन्होंने आकाश को शून्य, पर्वतों को घनीभूत और जल को द्रवीभूत बनाया है, सूर्य जिनके अधीन है, जिनमें उत्पत्ति और प्रलय से युक्त त्रिलोक रूपिणी तरंगे उठती रहती है, जो सर्व विलक्षण पारमार्थिक सत्ता से सम्पन्न है; जिनसे ही नियति, देश काल, चलन, चेष्टा और क्रिया आदि समस्त भावों को कार्य निर्वाह की क्षमता प्राप्त हुई है–वे एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही उक्त महाप्रलय से समय शेष रहते हैं। वे परमात्मा उत्पत्ति-स्थिति आदि से रहित, कभी अस्त न होने वाले, नित्य प्रकाशमान ज्ञान से परिपूर्ण एवं विकार शून्य अपने स्वरूप में ही स्थित है। वे एकमात्र अद्वितीय ही है। अतः वे माया से अनेक विशाल संसारों अगणित ब्रह्माण्डों की रचना करते हुए भी वास्तव में न कोई कार्य करते हैं और न उनसे कोई चेष्टाएँ ही बनती है।

अध्याय : 12

ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति

(सर्ग 6-9)

(अ) मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं

(सर्ग-6)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्मा देवताओं के भी देवता हैं। उनके ज्ञान से ही परम सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मों से नहीं। संसार बन्धन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान ही साधन है, सकाम कर्म का इसमें कोई उपयोग नहीं है। क्योंकि मृगतृष्णा में होने वाले जल के भ्रम का निवारण करने के लिए ज्ञान का उपयोग ही देखा गया है ज्ञान से ही उस भ्रम की निवृत्ति होती है, किसी कर्म से नहीं। सत्संग तथा सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में हेतु है। वह स्वाभाविक साधन ही मोह जाल का नाशक होता है जिससे जीव के दुःख का निवारण होकर वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है।

(ब) ज्ञान प्राप्ति के साधन

श्री राम! परमात्म देव का ज्ञान विवेक से होता है जो पौरुषजनित प्रयत्न से सम्भव है। सत-शास्त्रों का अभ्यास और सत्पुरुषों का संग ये दो प्रधान औषधि संसार रूपी रोग

का नाश करने वाली है। इसके लिए एकमात्र पुरुष प्रयत्न ही प्रधान साधन है। इसके लिए मुमुक्षु को चाहिए कि निष्काम भाव से जीवन निर्वाह करता हुआ संतुष्टचित्त हो भोग-वासना का परित्याग करे, सत्संग और सत-शास्त्रों की शरण ले, प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ भी मिल जाय उसी से संतुष्ट रहे, निन्दित वस्तु की ओर न देखे, ज्ञान-वैराग्य से युक्त महात्मा की शरण ले, अध्यात्म विद्या प्रधान जो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि सद्ग्रन्थ हैं वे ही सत-शास्त्र है उनका विवेक पूर्वक विचार करे तो वह मनुष्य शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार योग के अभ्यास से लोगों की बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सत्संग से प्राप्त हुए विवेक के द्वारा अज्ञान का बल पूर्वक निवारण हो जाता है।

(स) ज्ञान की महिमा (सर्ग-7)

रघुनन्दन! वह परमात्मा कही दूर नहीं रहते, सदा शरीर में ही स्थित है और चिन्मय (चेतन) रूप से विख्यात है। ये ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव है, ये ही शेषशायी विष्णु है, ये ही सूर्य है, तथा ये ही ब्रह्मा है। इनका साक्षात्कार हो जाने पर साधन परायण के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ (द्वैत) कर्म नष्ट हो जाते हैं। इससे सम्पूर्ण दु:खों की परम्परा नष्ट हो जाती है।

(द) ब्रह्म ही जगत है

रघुनन्दन! जो परम चिन्मय होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनों की दृष्टि में विशाल पाषाण की भाँति स्थूल रूप से स्थित प्रतीत होता है, तथा चेतन होता हुआ भी

मूढ़ मनुष्यों के अन्त:करण में जड़ के तुल्य ही जान पड़ता है, वह परमात्मा का स्वरूप है।

जैसे रूपहीन आकाश में भ्रमवश नील, पीत, आदि वर्णों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में यह जगत् सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रम के निवारण से ही ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता है, दूसरे किसी कर्म से नहीं। जैसे स्वर्ण में कल्पित कटक-कुण्डल आदि का स्वर्ण दृष्टि से अभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत् का ब्रह्म दृष्टि से अभाव ही सिद्ध होता है। इसलिए इसे असत् समझ लेने में क्या परिश्रम है? यह जो कुछ दिखाई देता है वह ब्रह्म ही है। यह मिथ्या ज्ञान रूपी विषूचिका चिरकाल से दृढ़मूल हो गई है। इसी का नाम 'जगत्' है, और इसी को अविचार कहते हैं। यह ज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होता।

(य) ज्ञान प्राप्ति के लिए योग-वाशिष्ठ ही सर्वोत्तम शास्त्र है (सर्ग-४)

महामते! आत्मज्ञान के लिए यह महारामायण (योग-वाशिष्ठ) नामक शास्त्र ही सबसे श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासों का सार कहा गया है। इस शास्त्र का श्रवण कर लेने पर कभी क्षीण न होने वाली जीवन्मुक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इसलिए यही सबकी अपेक्षा अत्यन्त पावन है। इस शास्त्र पर विचार करने से जब यह समझ में आ जाता है कि सारा जगत् स्वप्न के समान मिथ्या है, तब वह दृश्य जगत् ज्यों का त्यों रहने पर भी ज्ञानी की दृष्टि में अस्त हो जाता है। आत्म ज्ञान के लिए जो-जो युक्तियाँ इस शास्त्र में

हैं, वे ही दूसरे ग्रन्थों में उबलब्ध होती है। इसलिए विद्वान् पुरुष इस महारामायण को सम्पूर्ण विज्ञान-शास्त्र रूपी धन का कोष (खजाना) मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इसका श्रवण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमत्कार आ जाता है, उसकी बुद्धि उत्तम बोध को प्राप्त होती है इसमें संशय नहीं।

(र) जीवन्मुक्ति के लक्षण (सर्ग-९)

रघुनन्दन! जिनके चित्त परमात्म चिन्तन में लगे हुए हैं, जिनके प्राण उन्हीं में रम रहे हैं, जो सदा परमात्मा की चर्चा करते रहते हैं, उसी से ही संतुष्ट रहते हैं, एकमात्र ज्ञान में ही जिनकी निष्ठा है, उन पुरुषों को ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह त्याग के अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है। जिसे यह जगत् आकाश के समान शून्य प्रतीत होता है, जो राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकादि से शून्य हो जाता है, जो प्रारब्ध के अनुसार जो मिल जाय उसी में संतुष्ट रहता है, जिसका ज्ञान सर्वथा वासना रहित है, जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, जिसका सबके प्रति समान भाव है, जो हर्ष, अमर्ष और भय से रहित है, जो चित्त से शून्य है वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता।

श्री राम! विदेह मुक्ति ही मुक्ति कहलाती है। इसी को 'ब्रह्म' कहा जाता है और इसी को 'निर्वाण' कहते हैं। इसकी प्राप्ति कैसे होती है? यह बता रहा हूँ, सुनो।

(ल) जीवनमुक्ति की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से

श्री राम! मैं, तुम और यह इत्यादि रूप से जो यह दृश्य प्रपंच दिखाई देता है, वह यद्यपि सत् से प्रतीत होता है तथापि वन्ध्या पुत्र के समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं-ऐसा

निश्चय हो जाने पर यह मुक्ति प्राप्त होती है। वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि सब में सत्ता मात्र का ही तो बोध होता है। सोने के कड़े में स्वर्ण से भिन्न कोई वस्तु नहीं, जल की तरंग में जल के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं, वायु में गतिशीलता कोई अलग वस्तु नहीं है, इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

यह मिथ्या ज्ञान रुपिणी विषूचिका चिरकाल से दृढ़मूल हो गई है। विचार रूपी मन्त्र से इसका समूल नाश हो जाता है। प्रलयकाल में केवल वह 'सत्' अवशिष्ट रह जाता है। वह न तो तेज है, न अन्धकार है, न शून्य है, न आकारवान है, न दृश्य है, न दर्शन है, न भौतिक पदार्थों का समूह ही है। वह सत् वस्तु अनन्त रूप से स्थित है। उसके स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह पूर्ण से भी पूर्णतर है। उसके न कान है, न जीभ, न नासिका, न त्वचा है, न नेत्र ही हैं तथापि वह सदा सभी जगह सुनता है, रस का आस्वादन करता है, सूंघता है, स्पर्श करता है और देखता है। विविध रूप धारण करने वाला भी वही है। तीनों लोक उसी से प्रकाशित होते हैं, जगत् की सृष्टि और संहार जिसके विलास हैं, जो सबसे महान् और व्यापक है, स्पन्द और अस्पन्द (चल और अचल) जिसके स्वरूप हैं-वही चिन्मय परमात्मा है।

जो सदा ही जागा हुआ है, सदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही न सोया है और न जागा हुआ ही है। जिसका स्पन्दन रहित निश्चल स्वरूप, कल्याण स्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दशील स्वरूप ही तीनों लोकों की स्थिति है जो अद्वितीय और परिपूर्ण स्वरूप है, फूलों में सुगन्ध की भाँति सब पदार्थों में सार रूप से स्थित है,

विनाशशील वस्तुओं में भी अविनाशी रूप में स्थित है, जो गूंगे के समान होता हुआ भी सबकी वाणी की प्रवृत्ति का कारण है, जो नित्य तृप्त होता भी भोक्ता है, अकिंचन होता हुई भी कर्ता है, जो अंगरहित होने पर भी सहस्त्रों भुजाओं और नेत्रों से युक्त है, अकिंचन होते हुए भी जिसने समस्त जगत् को व्याप्त कर रखा है, जो इन्द्रिय बल से हीन होते हुए भी जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार होते हैं। वही परब्रह्म है।

इसका साक्षात्कार न होने से भ्रमजनित संसार रूपी सर्प का भय बना रहता है तथा जिसका दर्शन (ज्ञान) हो जाने पर सारी आशाएँ और सब भय सब ओर भाग जाते हैं। पदार्थों के भ्रम से जो अन्य-सा भासित होता है उसे चिन्मय परमात्मा ही जानो। इस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से ही अज्ञान का भ्रम मिट जाता है जिससे जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है।

अध्याय : 13

जगत् ब्रह्म ही है

(सर्ग 10-14)

(अ) जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है (सर्ग 10-11)

रघुनन्दन! यह जगत् न तो कभी परब्रह्म से उत्पन्न होता है न उसमें लीन ही होता है। केवल यह ब्रह्म को अपने-आप में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म में जो शून्य की कल्पना की गई है वह अशून्य की अपेक्षा से है। वास्तव में वह अशून्य रूप (सत्) है। उसमें शून्यता और अशून्यता की कल्पनाएँ कैसे सम्भव है। पूर्ण से पूर्ण का ही प्रसार होता है। जो पूर्ण में स्थित है, वह पूर्ण ही है। यह विश्व कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्त्व स्वरूप (ब्रह्मरूप) ही है। वह परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म, परम शुद्ध, शान्त और निर्मल है। दिशा, काल और परिमाण से उसका स्वरूप सीमित नहीं है; अतएव वह सर्व व्यापक है। उसका आदि-अन्त नहीं है। वह स्वयं प्रकाशयुक्त है।

महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है। समाधि में निरोध के द्वारा जब मन की वृत्तियों का क्षय हो जाता है तब मन का नाश होने से जो अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस चिन्मय परमात्मा का रूप है। ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान की त्रिपुटि जहाँ उदित होती है, जिसमें स्थित रहती है, और जिसमें ही

लीन हो जाती है, वही उस परमात्मा का परम दुर्लभ रूप है।

परमात्मा में जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिसे हम जगत् कहते हैं वह ब्रह्म ही है। जैसे कालिमा काजल से भिन्न नहीं है, आकाश से शून्यता भिन्न नहीं है, शीतलता बर्फ से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म से पृथक नहीं है। प्रारम्भिक काल में इस जगत् का ब्रह्म में ही विकास हुआ है। अत: यह उससे भिन्न नहीं है। यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है। उसके विषय में द्वितीय होने की कोई कल्पना नहीं है। इस परब्रह्म से जगत् कैसे बना यह आगे बताऊँगा। उसी से ये सारे दृश्य पदार्थ विस्तार को प्राप्त हुए हैं। वह परमात्मा ही यह व्यष्टि और समष्टि रूप जगत् है। उसी के आविर्भाव व तिरोभाव होते रहते हैं।

(ब) जगत् का बीज ब्रह्म की आदि माया शक्ति

(सर्ग-12)

रघुनन्दन! यह ब्रह्म ही इस सृष्टि के रूप में प्रतीति का विषय हो रहा है। एक पुरुष की वासना मात्र का कार्य होने से स्वप्न की घनी (सुदृढ़) प्रतीति नहीं होती; परन्तु यह प्रपंच समष्टि की वासना का कार्य होने के कारण इसकी सुदृढ़ एवं क्रमबद्ध प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस प्रपंच का अधिष्ठान है। उस चैतन्यमणि (ब्रह्म) का सत्ता मात्र रूप ही यह सम्पूर्ण विश्व है।

पंचभूतों की जो तन्मात्राएँ हैं, वे ही जगत् का बीज है तथा इन पंच तन्मात्राओं का बीज आदि माया शक्ति है, जिसका परमात्मा से साक्षात् सम्बन्ध है तथा वही जगत् की स्थिति में हेतु है। इस प्रकार यह परमात्मा (ब्रह्म) की माया द्वारा जगत्

का बीज होता है। माया के हट जाने पर वही अपने विशुद्ध रूप से सदा अनुभव में आता है। इसलिए यह जगत्-वैभव चिन्मय ब्रह्मरूप ही है।

जैसे स्वप्न में बिना बनाये ही नगर बन जाता है, उसी प्रकार महाकाश रूपी महान् वन में जगत् रूपी वृक्ष बारम्बार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। जो बीज है उसी को फल समझो क्योंकि उपादान कारण और कार्य में भेद नहीं है। इसलिए सारा जगत् ब्रह्ममय ही है। जो स्वरूप कल्पित है, वह सत्य कैसे हो सकता है। ब्रह्माकाशरूपी परम व्योममय चिन्मय आत्मा में यह जगत् अविभक्त होते हुए भी विभक्त-सा दीखता है।

मनोमय शरीर वाला जीव अपने मनोमय देहाकाश में ही स्थूलता की भावना करके स्थूल देहधारी हो गया है। मनोमय शरीरधारी जीव मन को ही आत्मा समझता है। जैसे ब्रह्मा संकल्पमय है वैसे यह जगत् भी संकल्पजन्य माना गया है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ही अपने में अपने से विकास को प्राप्त होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त इस जगत् की सत्ता ही नहीं है।

(स) यह जगत् उस चैतन्य की कल्पना है

(सर्ग 13-14)

रघुनन्दन! कभी उत्पन्न न होने के कारण इस जगत् का अस्तित्व है ही नहीं, और जिसका अस्तित्व है, वह तो परब्रह्म ही है। जैसे स्वप्न के पर्वत और नगर अविनाशी और स्थिर नहीं है, उसी प्रकार जगत् भी अविनाशी और स्थिर नहीं है। ब्रह्म ही सबसे प्रथम होने वाला हिरण्यगर्भ है, वही विराट्,

और विराट् ही सृष्टिरूप है। ब्रह्म से भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो भेद की कल्पना होती है वह भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है। जब आत्मा अपने आप में स्वयं स्फुरणशील होता है तब उस चैतन्य आत्मा की यह चित्त शक्ति उस सूक्ष्म अहंता का दर्शन करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त होती हुई अन्त में ब्रह्माण्ड का आकार धारण कर लेती है। इस प्रकार उस चेतन की चित्ति शक्ति ही जगत् का रूप ले लेती है। यह जगत् उस चैतन्य की ही कल्पना है। यह कल्पना अहंकार के अधीन है। इस प्रकार अहंकार और जगत् चैतन्य रूप ही है। उसमें द्वैत या अद्वैत नहीं है।

चैतन्य प्रधान अहंकार ही कर्ता है और स्पन्दन प्रधान प्राण कर्म है। दोनों में कोई भेद नहीं है। उससे संयुक्त पुरुष ही जीव कहलाता है। इस प्रकार जीव और जगत् में भेद नहीं है। यह जगत् उस चैतन्य प्रकाश की एक झलक मात्र है। इस प्रकार तत्त्व ज्ञान हो जाने परयह निश्चय हो जाता है कि 'कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता, मुझे आग जला नहीं सकती, हवा मुझे सुखा नहीं सकती तथा मैं नित्य सर्वव्यापी, सुस्थिर और अचल हूँ। जो अज्ञानी है वे ही परस्पर विवाद करते हैं। हम लोग तो भ्रमरहित हो गये हैं। अत: हमारे लिए विवाद का अवसर ही नहीं है। अत: यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि परमात्मा की सत्ता से ही जगत् की सत्ता है, इसका स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है।'

अध्याय : 14

लीला का उपाख्यान

(सर्ग 15-60)

श्री राम! नाम और रूप से रहित चेतन ब्रह्म ज्यों का त्यों विराजमान है। इस रीति से मायामय महाकाश में स्थित यह जगत् आवरण शून्य चेतन आकाश रूप परमात्मा ही है। इस विषय में मण्डपाख्यान सुनाया जाता है। तुम ध्यान देकर सुनो।

(अ) लीला की उपासना (सर्ग 15-17)

पूर्व काल में इस भूतल पर पद्म नाम से एक प्रसिद्ध राजा हो गए है। वे राज्य लक्ष्मी से सम्पन्न और अनेक पुत्रों से युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। वे मर्यादा पालन में समुद्र के समान, और दोष रूपी तिनकों को जलाने में अग्नि के समान थे। वे विद्वानों के समुदाय को आश्रय देने वाले तथा सद्‌गुण रूपी हंसों के लिए मानसरोवर थे वे समस्त आश्चर्यमय गुणों की खान थे। उनकी पत्नी का नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी और सब प्रकार सौभाग्य से सम्पन्न, लक्ष्मी के समान शोभायुक्त, पति सेवा में निपुण, सदा मृदु वचन बोलने वाली तथा पति का प्रतिबिम्ब की भाँति अनुकरण एवं अनुसरण करने वाली थी।

एक दिन लीला ने मन ही मन विचार किया कि मेरे ये

पति किस उपाय से अजर-अमर हो सकते हैं? ऐसा विचार कर उसने ज्ञान, तपस्या और विद्या में प्रवीण ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा कि " कौन-सा ऐसा उपाय है जिससे मनुष्यों की मृत्यु न हो?"

विप्रगण-"मुझे और मेरे पति को अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है?"

ब्राह्मण बोले-देवी! जप, तप और यम-नियम का पालन करने से सिद्धों की समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण के मुख'से यह बात सुनकर लीला ने स्वयं ही सोचना आरम्भ किया-'यदि मेरे पति मेरे से पहले चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी जिससे उनका जीव घर से बाहर न जा सके। अपने संकल्प की सिद्धि के लिए मैं आज से ही जप, उपवास और नियमों द्वारा सरस्वती देवी की आराधना करके उसे संतुष्ट करूँगी।'

ऐसा निश्चय करके उस लीला ने तपस्या आरम्भ कर दी तथा पति की सेवा भी पूर्ववत करती रही। उसकी तपस्या से प्रसन्न हो भगवती वागीश्वरी सरस्वती उसके सामने प्रकट हुई और बोलीं।

सरस्वती ने कहा-बेटी! तुम्हारी तपस्या से मैं संतुष्ट हूँ। तुम मुझसे कोई मनोवांछित वर ग्रहण करो।

(ब) लीला का वर माँगना

लीला बोली-आपकी जय हो। इस दीन सेविका का आप संकट से उद्धार करें। मैं आपसे दो वर माँगती हूँ। पहला तोयह कि जब मेरे पतिदेव का शरीर छूट जाय, तब उनका

जीव मेरे इस अन्त:पुर के मण्डप से बाहर न जाय। और दूसरा वर यह है कि जब-जब मैं आपसे वर पाने के उद्देश्य से दर्शन देने की प्रार्थना करूँ, तब-तब आप मुझे अवश्य दर्शन दें।

लीला की यह बात सुनकर सरस्वती ने कहा-'बेटी! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो।' यह कहकर देवी स्वयं वहाँ से अदृश्य हो गईं। इसके बाद काल चक्र के चलते रहने से उसके पति की चेतना शरीर से सहसा अदृश्य हो गई। बात यह हुई कि किसी शत्रु ने आक्रमण किया और युद्ध में घायल हो उनका शरीर धराशायी हो गया। वे अन्त:पुर में लाये गये और वहीं मर गये।

उसी समय पति के वियोग में अत्यन्त विह्वल हुई लीला के ऊपर दयामयी सरस्वती ने आकाशवाणी रूप में अनुकम्पा की।

सरस्वती ने कहा-बेटी! अपने पति के शव को तुम फूलों के ढेर में छिपाकर रखो। थोड़े ही दिनों में यह शव पुन: जीवित होकर तुम्हारे पति का उत्तरदायित्व सँभालेगा।

फिर उसी दिन आधी रात के समय लीला ने सरस्वती का बड़े दु:ख से आह्वान किया। देवी उसके पास आईं और बोलीं-

बेटी! तुमने मेरा स्मरण क्यों किया? तुम क्यों शोक करती हो? जैसे मृगतृष्णा में झूठे जल की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ये संसार रूपी भ्रम मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।

लीला ने कहा-देवि! मेरे पति कहाँ है? क्या करते हैं? कैसे हैं? मुझे उनके पास ले चलिए। मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती।

सरस्वती बोली सुमुखी! एक शुद्ध चेतन परमात्म रूप

आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है। तुमने जो अपने पति का स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय कोश ही है। उस चेतन आकाश का एकाग्र मन से चिन्तन किया जाता है तब वह अनुभव में आता है। तुम उस चेतनाकाश रूप परब्रह्म में स्थित हो जाओ तो उसे अवश्य प्राप्त कर लोगी।

यह सुनकर लीला निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गई। उस समाधि अवस्था में उसने देखा कि राजा पद्म-सिंहासन पर विराजमान है। वे अपनी वासना और कर्मों के अनुसार देह-गेह एवं वैभव से संम्पन्न थे। अनेक राजाओं से घिरे हुए सभा मण्डप में सिंहासन पर बैठे हुए थे तथा उनके बन्दीजन उनकी स्तुति कर रहे थे। सम्पूर्ण राज्य वैभव से पूर्ण वे अपना राज कार्य चला रहे थे। उसी समय आकाश रूप लीला उस आकाश रूपिणी राज सभा में प्रविष्ट हुई। उसे अन्य लोगों ने नहीं देखा किन्तु लीला ने उन सबको देखा जो पहले देखे गये थे मानो वे राजा के साथ एक नगर से दूसरे नगर में गये हों। वे वैसे ही बैठे थे तथा उनका आचरण भी वैसा ही था जैसा पहले था। कुछ ऐसे भी थे जिन्हें उसने पहले नहीं देखा था। यह देखकर लीला चिन्तित हुई और सोचने लगी, क्या ये सभी मर गये हैं? इतने में उसकी समाधि टूट गई। उसने देखा कि वे सभी लोग तो पूर्ववत् सोये हुए हैं। रानी के कहने पर सारा का सारा राज-परिवार जाग उठा और अपने-अपने कार्य में लग गया। रानी उन्हें पूर्ववत् ही देखकर बहुत प्रसन्न हुई।

तदन्तर रानी सभा भवन से उठकर रनवास में गई और वहाँ फूलों से ढके हुए अपने पति के शव को देखा तो मन ही मन विचार करने लगी-अहो! यह बड़ी विचित्र माया है कि हमारे

ये पुरवासी, वृक्ष, पर्वत आदि जैसे वहाँ थे वे यहाँ भी हैं। जैसे दर्पण में पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित होता है, वैसे ही चेतन आकाश रूपी दर्पण में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। उनमें कौन सृष्टि भ्राँतिमयी है और कौन वास्तविक यह मैं सरस्वती से ही पूछती हूँ। ऐसा निश्चय करके रानी ने सरस्वती का आह्वान किया तो सरस्वती उसी समय वहाँ प्रकट हुईं।

(स) सृष्टि रहस्य (सर्ग 18-21)

लीला ने पूछा–परमेश्वरी! यह त्रिलोकी का प्रतिबिम्ब वैभव बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमें कौन कृत्रिम है और अकृत्रिम? मैं इस सृष्टि को सच्ची सृष्टि समझती हूँ जो प्रत्यक्ष है तथा जहाँ मेरे पतिदेव विराजमान हैं उसे मैं कृत्रिम समझती हूँ क्योंकि वह सूना है। उसमें देश, काल और व्यवहार की सिद्धि नहीं होती।

देवी ने कहा–बेटी! कहीं भी कारण से भिन्न कार्य का उदय नहीं होता, उसी प्रकार अकृत्रिम सृष्टि से कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। यह सृष्टि असत् होने पर भी उसके आश्रयभूत चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है। जीव के विभिन्न भावों के अनुसार इस रूप में भासित होता है। पूर्व समय में एक ब्राह्मण था जो वशिष्ठ के समान ही विद्या वैभव से सम्पन्न था। उसका नाम भी वशिष्ठ था तथा उसके पत्नी थी जिसका नाम भी अरुन्धती था। वह ब्राह्मण नित्य राजा होने का स्वप्न देखा करता था। वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है, और अरुन्धती नामक की ब्राह्मणी तुम्हीं हो। तुम्हारे पूर्व जन्म का यही सृष्टिक्रम है। इसमें कौन सृष्टि

भ्रमपूर्ण है और कौन भ्रम रहित यह कहना कठिन है। उस ब्राह्मण की पत्नी ने भी मुझसे ऐसा वर मांगा था अतः उसका जीवात्मा भी उसके मण्डप में ही स्थित रहा। उसकी पत्नी भी अपना शरीर त्याग कर सूक्ष्म शरीर से अपने पति के पास पहुँची। वही पति-पत्नी तुम हो।

जैसे स्वप्न में जाग्रत काल की स्मृति लुप्त हो जाती है, और दूसरी स्मृति उदित होती है उसी प्रकार तुम दोनों के पूर्व जन्म की स्मृति उदित होती है उसी प्रकार तुम दोनों के पूर्व जन्म की स्मृति नष्ट हो गई है और उससे विपरीत दूसरी स्मृति से उत्पन्न हुआ है वह असत् है। जैसे इस जगत् सृष्टि की प्रतीति आभास मात्र है, उसी प्रकार क्षण, कल्प आदि की प्रतीति भी आभास मात्र है, वास्तविक नहीं है।

(द) जीवन्मुक्त की स्थिति (सर्ग-22)

लीला बोली-देवि! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणी के साथ पूर्व सृष्टि के जिस गाँव और घर में रहता था, उस सृष्टि के उसी पर्वतीय गाँव में आप मुझे ले चलिए। मैं उसे देखना चाहती हूँ।

सरस्वती ने कहा-लीला! पूर्व सृष्टि की उस वस्तु को देखने के लिए तुम्हें इस देहाभिमान का त्याग करना होगा। यह शरीर उस सृष्टि के दर्शनरूपी गृह द्वार के लिए के सुदृढ़ रुकावट के रूप में स्थित है। जो ब्रह्म है वही ब्रह्म को देखता है। जो ब्रह्म नहीं, वह कदापि ब्रह्म को नहीं देख सकता। जब तक तुम्हारी भेद बुद्धि शान्त नहीं हो जाती, तब तक अब्रह्म रूप होने के कारण तुम ब्रह्म को नहीं देख सकती। ब्रह्म ज्ञान का बारम्बार अभ्यास करने के कारण ब्रह्म में अद्वैत भाव से

जिनकी दृढ़ स्थिति हो गई है, ऐसे हम लोग ही उस परम पद का साक्षात्कार करते हैं।

चंचले! तुम अविचार द्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न होता है और विचार से उसका नाश हो जाता है। यह अविचार रूप अविद्या विचार या विवेक से वांछित होकर ब्रह्म सत्ता हो जाती है। इसलिए अविद्या का अस्तित्व नहीं है। अतः न तो कहीं अविचार है, न अविद्या है, न बन्धन और न मोक्ष ही है। यह जगत् शुद्ध बोधस्वरूप (चिन्मय ब्रह्म) ही है। इतने समय तुमने विचार नहीं किया, इसलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ। तुम भ्रान्त एवं व्याकुल ही बनी रहीं। आज से तुम्हारे चित्त में वासना का क्षय रूपी बीज पड़ गया है, इसलिए तुम विवेकशालिनी, प्रबुद्ध एवं विमुक्त हो। एकमात्र ब्रह्म के चिन्तन रूप उत्तम निर्विकल्प समाधि के मन में आरूढ़ होने पर जब दृष्टा दृश्य और दृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाएगा तब हृदय में यह वासना क्षय रूप बीज कुछ अंकुरित हो जायगा, तब राग-द्वेष आदि दृष्टियाँ उदित नहीं होंगी, संसार की उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी और निर्विकल्प समाधि पूर्णतः स्थिरता को प्राप्त होगी। उसमें स्थिर रहकर तुम उस मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ में प्रतिष्ठित हो जाओगी।

जैसे स्वप्न के ज्ञान से स्वप्नावस्था का शरीर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था के शरीर को भी स्वप्नवत् समझ लेने पर वासनाओं के क्षीण होने से यह शान्त हो जाता है स्थूल शरीर में अहं भावना का अन्त होने पर सूक्ष्म शरीर का अनुभव होता है। यह जाग्रत अवस्था जब वासना बीज से रहित हो जाती है, तब जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। जिसमें

वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती है, उस प्रगाढ़ निद्रा का नाम 'सुषुप्ति' है। जिस अवस्था में वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे 'तुरीय' कहते हैं। जीवित पुरुषों के जीव की वह अवस्था, जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षय हो जाता है, 'जीवन्मुक्ति' कहलाती है। अज्ञान बद्ध जीव इसका अनुभव नहीं कर सकते।

लीला! जब पूर्ण अभ्यास करने के बाद तुम्हारा यह अहंभाव शान्त हो जाएगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चैतन्यरूपता उदित और विकसित हो जाएगी। तभी तुम संकल्प दोष से रहित पावन लोकों का साक्षात्कार कर सकोगी। अतः तुम वासना को क्षीण करने का प्रयत्न करो। तब तुम्हारी वासना शून्य स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो जाएगी, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी। यह शरीर न तो मरता है और न जीता ही है। यह जन्म-मरण मिथ्या ही है।

पुत्री! जिस पुरुष के द्वारा जिस-जिस साधन से जब-जब जो भी कार्य किया जाया है, वह अभ्यास के बिना कभी सिद्ध नहीं होता। तुम ब्रह्माभ्यासी होकर उक्त पद प्राप्त करो।

(य) विभिन्न लोकों का भ्रमण (सर्ग 23-30)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ आधी रात के समय राजा के शव के पास ही बैठ गईं एवं समाधि में स्थित हो गईं। उन्हें निर्विकल्प समाधि लग जाने से वे बाह्य ज्ञान से शून्य हो गईं यह दृश्य जगत् उनसे तिरोहित हो गया उन्हें यह बोध हो गया कि किसी भी दशा में इसकी सत्ता नहीं है, न कभी उत्पन्न ही हुआ है। वे दोनों देवियाँ अपने चिन्मय चित्त के संकल्प से आकाश स्थल में उड़ने

लगीं। वहाँ मार्ग में उन्होंने विभिन्न लोकों के विभिन्न दृश्य देखे। अन्त में उन्होंने उसी भूतल को देखा जहाँ वशिष्ठ नामक ब्राह्मण का घर था। वहाँ पहुँच कर दोनों देवियाँ प्रकट हुई तथा ज्येष्ठ शर्मा के घर पहुँचीं। ज्येष्ठ शर्मा व उनकी पत्नी ने उनका स्वागत किया व वहाँ आने का कारण पूछा। इसके पश्चात् देवियों ने उससे अपने दुःखों का कारण पूछा तो ज्येष्ठ शर्मा ने कहा–यहाँ दो ब्राह्मण पति-पत्नी रहते थे। वे ही हमारे माता-पिता थे। वे दोनों अब स्वर्गलोक को चले गये हैं। आप हमारे इस शोक का निवारण करें।

पुत्र ज्येष्ठ शर्मा जब ऐसा कह चुके तब लीला (उसकी माता) ने उसके सिर का स्पर्श किया जिससे उसका सुख-दुःख रूपी संकट का तत्काल निवारण हो गया। इसके बाद वे दोनों स्त्रियाँ सहसा अदृश्य हो गईं।

दूसरों की दृष्टि से अदृश्य होने के बाद लीला ने देवी से कहा कि आपकी कृपा से अब मुझे अपने पूर्व के आठ सौ जन्मों की स्मृति हो आई है जहां मैं विभिन्न योनियों, परिवारों एवं देशों में उत्पन्न हुई थी। अब मेरी इच्छा मेरे पति के नगर में जाने की हो रही है। अतः चलिये हम दोनों वहीं चलें। यह कहकर वे दोनों देवियाँ पुनः आकाश मार्ग से गमन करती हुई ब्रह्माण्ड सम्पुट के ऊपर वाले कपाल तक पहुँच गयीं जहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं दिखायी दे रहा था। उस ब्रह्माण्ड के पार जाने पर उसने अत्यन्त प्रकाशमान जल आदि का आवरण दिखायी दिया जो सब ओर व्याप्त था। यह जल आवरण उस ब्रह्माण्ड से दस गुना अधिक था। इसके बाद उससे भी दस गुना अग्निमय आवरण था। फिर आगे इससे दस गुना आकाश के आवरण थे। तदन्तर विशुद्ध चिन्मय आकाश है जिसका

कोई आदि मध्य या अन्त नहीं ज्ञात होता।

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! तदन्तर लीला ने उस अपरिमित चेतन आकाश स्वरूप परमात्मा में इस जगत् की ही भाँति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों को देखा तथा उनमें चराचर प्राणियों की करोड़ों सृष्टियों को देखा जो उस चैतन्य से भासित थी। उस चेतन आकाश स्वरूप परब्रह्म परमात्मा में ब्रह्माण्ड नामक तरंगें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती है। किन्हीं ब्रह्माण्डों में महाप्रलय की प्राप्ति होने पर सूर्य, अग्नि, विद्युत और पर्वत भी गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्डों के आदि पुरुष (सृष्टि कर्ता) ब्रह्मा है। कुछ के आदि सृष्टा और पालक भगवान् विष्णु है। कुछ ब्रह्माण्डों के प्रजापति दूसरे (रुद्र एवं दुर्गा आदि), तथा कुछ ब्रह्माण्डों में जीव-जन्तु हैं, उनका कोई भी नाथ (रक्षक) या नियन्त्रण करने वाला नहीं होता। इसी तरह कुछ ब्रह्माण्डों की सृष्टि और प्रजापति विचित्र ही है।

महामते! उसके बाद का जो जगत् है, वह हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। अतः इसका वर्णन करने में हम असमर्थ है। हमारी बुद्धि का जो सम्पूर्ण वैभव था वह हमने तुम्हें दिखा दिया।

(सर्ग 31-39)

अपने पूर्व जन्म के संसार से निकल कर पूर्वोक्त रीति से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके वहाँ के अन्तःपुर को देखा। उस अन्तःपुर में पुष्प-राशि से आच्छादित महाराज पद्म का शव रखा था जिसके पास बैठी हुई लीला का स्थूल शरीर जिसका चित्त समाधि अवस्था में आरूढ़ था। वहाँ से लीला

उस लोक में जाने को तैयार हुई जहाँ उसका पति पद्म था। वे दोनों देवियाँ जम्बू द्वीप गईं जिसका भीतरी भाग नौ खंडों में विभक्त था जम्बू द्वीप के भीतर भारतवर्ष में लीला के पिता का राज्य था। वहीं वे दोनों पहुँचीं। उसी समय उस राज्य पर किसी ने आक्रमण कर दिया। लीला और सरस्वती उस युद्ध को देखने के लिए वहीं रुक गईं। इतने में ही दोनों सेनाओं में संघर्ष आरम्भ हो गया। उसी समय शत्रु पक्ष के एक योद्धा ने दूसरे पक्ष के राजा पर प्रहार करना ही चाहा था कि लीला के पति ने, जो पूर्व जन्म का राजा पद्म था. और वर्तमान में विदूरथ नाम से विख्यात था, उस विपक्षी योद्धा की छाती पर मुग्दर का प्रहार किया। फिर दोनों सेनाओं में प्रलयंकारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार आरम्भ हो गया। दोनों नरेश विदूरथ और सिन्धुराज अपने-अपने पक्ष में खड़े थे। दोनों सेनाओं के पतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार करके एक-दूसरे के पास युद्ध बन्द करने के लिए दूत भेजे और कहलवाया कि युद्ध बन्द किया जाय। इसके बाद युद्ध बन्द हो गया।

इसके बाद लीला-पति (विदूरथ) अपने कमरे में जाकर खिन्न मन होकर सो गए और दो ही घड़ी में उन्हें गहरी नींद आ गई।

(र) लीला और सरस्वती का राजा विदूरथ (पद्म) के शयन कक्ष में प्रवेश (सर्ग 40-53)

इसके बाद इन दोनों देवियों लीला और सरस्वती ने अपने सूक्ष्म शरीर से राजा विदूरथ (पूर्व जन्म के राजा पद्म) के कमरे में प्रवेश किया। उनके प्रवेश से राजा की निद्रा भंग हो गई। उठते ही राजा ने उन दिव्य नारियों को दो आसनों पर

विराजमान देखा। राजा ने उनके चरणों में पुष्पांजलि समर्पित की। तब सरस्वती व लीला ने उस राजा का जन्म वृतान्त कहने के लिए उसके मन्त्री को जगाया और उससे राजा के जन्म वृतान्त के बारे में पूछा।

मन्त्री ने राजा के बारे में बताना आरम्भ किया कि प्राचीन काल में एक कुन्दरथ नाम के राजा हो गए हैं जो इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके भद्ररथ नामक पुत्र हुआ उनकी नवीं पीढ़ी में हमारे राजा उत्पन्न हुए जो नभोरथ के पुत्र है राजा विदूरथ के नाम से विख्यात है। जब इनकी अवस्था दस वर्ष की थी तभी इनके पिता इन्हें राज्य भार सौंप कर वनवासी हो गये थे। ये तभी से इस भूमण्डल का धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं। यह वृतान्त सुनकर सरस्वती ने कहा–राजन् तुम अपने पूर्व जन्मों का हाल सुनाओ। यह कहकर देवी ने उनके मस्तक पर हाथ फेरा जिससे उनको अपने पूर्व जन्म की स्मृति हो आई। इस स्मृति से राजा विस्मय में पड़ गया और मन ही मन कहने लगा–खेद है, सारे संसार में यह माया व्याप्त है। इस समय इन देवियों की कृपा से मुझे इसका पूर्ण ज्ञान हुआ है। देवी सरस्वती ने इसके रहस्य को बताते हुए राजा को ज्ञानामृत का पान कराया फिर दोनों ने विदा माँगी।

राजा ने कहा–देवि! मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि मैं जिस लोक में जाऊँ, वही लोक मेरे इस मन्त्री और इस कुमारी कन्या को भी प्राप्त हों।

सरस्वती ने कहा–पूर्व जन्म के चक्रवर्ती सम्राट्! इस समय इस भीषण संग्राम में तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हें तुम्हारा प्राचीन राज्य प्राप्त होगा। कुमारी कन्या को, मन्त्री को और तुमको शव रूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगर में

आना होगा। तुम्हें अपने सूक्ष्म शरीर से उस प्राचीन नगर में आना चाहिए।

इतने में नगर की देख भाल करने वाला मनुष्य भयभीत हो राजा के पास आकर कहने लगा–देव! ज्वार-भाटा से संयुक्त महासागर की भाँति एक विशाल शत्रु सेना आ पहुँची है तथा नगर को जलाती हुई उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रही है।

वशिष्ठ जी कहते हैं वत्स राम! ऐसा सुनकर राजा विदूरथ अपने महल से बाहर निकला एवं उन्होंने शत्रु सेना में प्रवेश किया। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। राजा विदूरथ ने घायल होकर पुनः महल में प्रवेश किया। उस समय उनका श्वांस मात्र ही शेष रह गया था।

(क) कर्म फल का अनुभव (सर्ग-54)

उस समय सरस्वती ने लीला से कहा–लीला! मृत्यु के पश्चात जीव को अपने कर्म फलों का अनुभव किस क्रम से होता है, उसे सुनो। इससे तुम्हारे सम्पूर्ण संशयों की शांति होगी।

जगत् में अपने कर्मों की देश, का, क्रिया और द्रव्य जनित शुद्धि और अशुद्धि ही मनुष्यों की आयु के अधिक और न्यून होने में कारण होती है। अपने कर्म रूप धर्म का ह्रास होने पर मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है और उस धर्म के बढ़ने पर आयु की वृद्धि होती है। बाल्यावस्था में मृत्यु प्रदान करने वाले कर्मों को करने से बालक, युवावस्था में मृत्युदायक कर्मों से नौजवान और बुढ़ापे में मृत्युप्रद कर्मों के करने से वृद्ध मृत्यु को प्राप्त होता है। जो अपने धर्म का शास्त्रानुकूल आरम्भ करके उसका अनुष्ठान करता रहता है, वह श्रीमान्

पुरुष शास्त्र वर्णित आयु का भागी होता है। यों अपने कर्मों के अनुसार ही जीव को अन्तिम दशा प्राप्त होती है और उस मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हुआ जीव मर्मघातिनी वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

(ख) मृत्यु का अनुभव

लीला! शरीरान्त के समय मुमुक्षु पुरुष तीन प्रकार के होते हैं–मूर्ख, धारणाभ्यासी और युक्तिमान्। इनमें धारणाभ्यासी दृढ़तापूर्वक धारणा का अभ्यास करके शरीर को छोड़कर सुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी सुखपूर्वक ही गमन करता है; परन्तु जिसने न ही धारणा का अभ्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्यु समय में विवश होकर दु:ख को प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासना के आवेश से विवशता का अनुभव करता हुआ जड़ से कटे कमल की तरह अत्यन्त दीनता को प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास द्वारा सुसंस्कृत नहीं है एवं जो दुष्टों की संगति का सेवन करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए जीव की भाँति अन्तर्दाह का अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुष के कण्ठ से घुरघुराहट की आवाज निकलने लगती है, आँखों की पुतलियाँ उलट जाती हैं, शरीर का रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी आँखों के सामने घना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। बोलने में असमर्थ होने के कारण वह स्वयं जड़वत् हो जाता है। उसकी सारी इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण हो जाने के कारण वे अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो

जाती है। विशेष रूप से मोह के वशीभूत हो जाने से उसके मन की कल्पना शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह अविवेकवश मोह के अगाध सागर में डूबता-उतराता रहता है। ज्यों ही उसे थोड़ी-सी मूर्छा हुई, त्यों ही प्राण वायु की गति बन्द हो जाती है, और जब प्राणों की क्रिया रुक जाती है, तब उसे घोर मूर्छा आ घेरती है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के सहयोग से पुष्टता को प्राप्त हुए मोह, संवेदन और भ्रम से जीव पाषाणवत् जड़ता को प्राप्त हो जाता है। सृष्टि के आरम्भ से ही यह नियम चला आ रहा है।

भद्रे! स्पन्दन-शक्ति-सम्पन्न ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ही सुख-दु:खादि प्रारब्ध भोग रूप कर्म का इस रूप में विधान कर दिया है कि मदंशभूत ज़ीव को उसकी आयु के इस समय में उसके कर्मानुसार इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का सुख-दु:ख प्राप्त होगा। जिस समय नाड़ियों में प्रविष्ठ हुई वायु बाहर नहीं निकलती और निकली हुई उनमें प्रवेश नहीं करती, उस समय उनका स्पन्दन रुक जाता है। तब नाड़ी शून्य हो जाने के कारण प्राणी की मृत्यु हो जाती है। जब वायु न प्रवेश करती है और न बाहर ही निकलती है, तब शरीर से नाड़ियों के वियुक्त हो जाने के कारण लोग यों कहने लगते हैं कि 'वह मर गया है।'

ज्ञानवृत्ति का वेदनरूप स्वभाव बाधा रहित है, इसलिए जन्म-मरण उस स्वाभाविक ज्ञानवृत्ति से पृथक नहीं है। जब तक मनुष्य में अविद्या रहेगी, तब तक उसे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं मिल सकता; क्योंकि ये उसके लिए स्वाभाविक ही है। केवल मुक्ति मिलने पर ही उनसे छुटकारा मिलता है। जैसे लम्बी लता के बीच-बीच्च में गाँठें होती हैं, उसी तरह

चेतन सत्ता के भी मध्य-मध्य में जन्म-मरण होते हैं। वस्तुत: चेतन पुरुष न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। पुरुष स्वप्न काल के संभ्रम की भाँति केवल भ्रम से ही इन जन्म-मरणादि को देखता है; क्योंकि चेतना मात्र ही तो पुरुष है; फिर वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है। यदि जीवात्मा को चेतन से अतिरिक्त माने तो बताओ दूसरा कौन पुरुष हो सकता है? अत: चेतनामात्र ही पुरुष है यही बात ठीक है। भला, बताओ तो सही–क्या आज तक इस संसार में किसी ने किसी के चेतन को किसी प्रकार मरा हुआ देखा है? लाखों शरीर मरते देखे जाते हैं और चेतन अविनाशी ही बना रहता है। यों वास्तव में न कोई मरता है और न कोई जन्म ही लेता है। केवल जीव वासना-रूपी आपत्ति के गड्ढों में गोते लगाता रहता है। जीव जब अभ्यास द्वारा भ्रमवश प्रतीत होते हुए जगत्-प्रपंच को सम्यक् रूप से समझ लेता है, तब वह पूर्णतया वासनाओं से रहित होकर विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ सत्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त सब असत् है?

लीला! नाड़ियों की गति रुक जाने पर जब प्राणी प्राण वायुओं की विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त-सी हो जाती है, इसी को मरण कहते हैं। वास्तव में चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है। वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत और वायु–सभी में स्थित है। केवल प्राणवायु की गति अवरुद्ध हो जाने से जब शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड़' है 'मृत' कहा जाता है। जब यह शरीर शव रूप में परिवर्तित हो जाता है और प्राण-वायु अपने कारण रूप

महावायु में विलीन हो जाती है, तब वासना रहित चेतन अपने आत्मतत्त्व में स्थित हो जाता है। फिर पुनर्जन्म की बीजरूप वासना से युक्त एवं सूक्ष्म शरीर वाला वह व्यक्ति चेतन 'जीव' नाम से पुकारा जाता है। शरीर के मरने के बाद लौकिक व्यवहार करने वाले लोग उस जीव को 'प्रेत' शब्द से पुकारते हैं और चेतन गन्ध मिली हुई वायु के समान वासनाओं से संयुक्त हो जाता है। जब वह जीव इस शरीरादि दृश्य का परित्याग करके देहान्तर का दर्शन करने के लिए उत्सुक होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती है। फिर उसी प्रदेश के अन्दर वह पूर्व जन्म की तरह स्मरण शक्ति से युक्त हो जाता है और तभी मरण काल की मूर्छा के पश्चात् वह अन्य शरीर को देखने लगता है।

(ग) प्रेत और पुनर्जन्म (सर्ग-55)

मरने के बाद जीव को जो 'प्रेत' कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकार के होते हैं साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्म वाले, मध्यम धर्म वाले, और उत्तम धर्मात्मा। कोई पाषाण तुल्य हृदय वाला एवं अत्यन्त मूढ़ महापातकी अपने अन्तःकरण में एक वर्ष तक स्मृति मूर्छा का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समयानुसार चेतना को प्राप्त होकर वासनारूपी स्त्री के उदर से उत्पन्न हुए नारकीय दुःखों का चिरकाल तक अनुभव करके एक महान् दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ सैंकड़ों योनियों का भोग करता है। तब कहीं स्वप्न संभ्रमरूपी संसार में शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल भोगों की निवृत्ति होती है। अथवा

मरण मूर्छा के अन्त में उसी क्षण वे हृदय स्थित वृक्षादि स्थावर योनियों का ही, जो सैकड़ों जड़ दुःखों से व्याप्त है, अनुभव करते हैं और फिर चिरकाल तक नरक में अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप दुःखों का भोग करके भूतल पर निकृष्ट योनियों में जन्म धारण करते हैं। यह महापातकी की गति है।

अब जो मध्यम पापी है वह मृत्युकालिक मूर्छा के अनन्तर कुछ काल तक पाषाण-तुल्य जड़ता का अनुभव करता है। तत्पश्चात् उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल के बाद अथवा उसी समय तीर्यगादि क्रम से नाना योनियों का भोग करके संसार को प्राप्त होता है।

जो कोई साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मानव देह का अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्व संस्कार के अनुसार उसकी स्मृति का उदय होता है और स्वप्न और मनोराज्य की भाँति उसने अनुभव में वैसी ही वस्तुयें आने लगती हैं।

जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा है, वे मृत्युजनित मूर्छा के पश्चात् पूर्व वासना की स्मृति से स्वर्गलोक तथा विद्याधर लोक के सुख भली भाँति उपयोग करते हैं। फिर पुण्यफल भोग के अनन्तर अपने कर्मान्तर अर्थात पापकर्म के अनुसार प्राप्त हुए फल को अन्यत्र भोग कर मनुष्य लोक में धनी सत्पुरुषों के घर में जन्म धारण करते हैं।

जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं वे मरणमूर्छा के बाद आकाश वायु से आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पल्लवों से सुशोभित उपवन में आते हैं और यहाँ अपने पुण्य कर्मो का फल भोग लेने के बाद मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ठ होते हैं। फिर रेतः सिंचन के समय जन्म क्रमानुकूल स्त्रियों के गर्भ में

स्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रेत मृत्युजनित मूर्छा के अनन्तर अपनी वासना के अनुसार इस व्यवस्था का अपने हृदय में क्रमशः अथवा क्रमरहित ही अनुभव करते हैं। ये जानते हैं कि, ''हम लोग मृत्यु को प्राप्त हुए। तदन्तर बन्धुओं द्वारा क्रमशः पिण्डादि दान करने से हम पुनः शरीर धारी (सूक्ष्म शरीर धारी) होकर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत आ पहुँचे अब इन यमदूतों द्वारा ले जाया जाता हुआ मैं क्रमशः यमपुरी को जाऊँगा।''

उन प्रेतों में जो उत्तम पुण्यात्मा होता है, वह यों समझता है कि ''ये दिव्य और मनोहर विमान और उपवन मुझे बारम्बार अपने शुभ कर्मों से ही प्राप्त हुए हैं।'' इसके विपरीत पापी पुरुष यों अनुभव करता है कि, ''ये जो बर्फ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवार की धार के समान तीखे पत्तों से पूर्ण वन मुझे प्राप्त हुए है, ये मेरे अपने ही दुष्कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं।'' मध्यम पुण्यात्मा जानता है, ''यह मार्ग, जो मेरे सामने उपस्थित है, इसमें आनन्दपूर्वक पैदल चला जाता है, शीतल घास उगी हुई है। यह घनी छाया से आच्छादित है और स्थान-स्थान पर बावलियों से युक्त है।'' मध्यम पापी यों अनुभव करता है कि, ''यह मैं यमपुरी में पहुँच गया। ये प्राणियों के राजा यमराज है और यहाँ मेरे कर्मों के विषय में यह विचार किया गया।'' यमपुरी में पहुँचने पर जीव कहता है-अब मुझे यमराज का आदेश प्राप्त हो गया है। अतः मैं अपने कर्मों का फल भोगने के लिए शीघ्र ही यहाँ से उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरक में जाता हूँ। यमराज ने मेरे लिए जिस स्वर्ग अथवा नरक का निर्देश दिया था, मैंने उसका भोग कर

लिया तथा यम निर्दिष्ट उन-उन योनियों में भी भटक चुका। अब मैं पुन: संसार में जन्म ग्रहण करूँगा। यह मैं धान का अंकुर होकर उत्पन्न हुआ। फिर क्रमश: बढ़कर फल रूप में स्थित हुआ। इस प्रकार शरीराभाव के कारण जब उसकी सारी इन्द्रियाँ भली भाँति सोई रहती है, उसी अवस्था में वह भुक्तानादि द्वारा पुरुष के शरीर में प्रवेश करके वीर्य रूप में परिणत हो जाता है। वही वीर्य जब माता की योनि में पड़ता है तब वह गर्भ का रूप धारण करता है। वही गर्भ अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार उत्तम अथवा निकृष्ट प्रारब्ध से युक्त हो संसार में मनोहर आकृति वाले बालक के रूप में जन्म लेता है। कुछ काल के बाद वह जवानी का अनुभव करता है तत्पश्चात् उसे वृद्धावस्था आ घेरती है। उस बुढ़ापे में ही किसी न किसी व्याधि के निमित्त उसका मरण होता है। पुन: उसे मृत्युजनित मूर्छा प्राप्त होती है। पुन: स्वप्न की भाँति बन्धुओं द्वारा दिये गये पिंडदान द्वारा सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस क्रम का बारम्बार अनुभव करता रहता है, जब तक कि उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता।

(घ) जड़चेतन (स्थावर जंगम) का भेद

प्राणियों के शरीर में जो छिद्र स्थान है, उनमें प्रविष्ठ हुई वायु जब अंगों में चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है किन्तु ऐसी स्थिति जंगम प्राणियों में ही उत्पन्न हुई थी, इसी कारण ये वृक्ष आदि स्थावर प्राणी सचेतन होते हुए भी चेष्टाहीन है, किन्तु सर्वव्यापी परमात्मा सबमें शरीर रूप से स्थित है। न तो जड़ता ही कोई पृथक वस्तु है और न चेतन ही। इन पदार्थों की सृष्टि, स्थिति और विनाश

में कोई भेद नहीं है और न सता समान्य में ही कोई अन्तर है-सबमें सत्ता समान है। चेतन तो परमार्थ रूप से स्थावर जंगम सभी में वर्तमान है परन्तु जंगम में वायु के प्रवेश से चेष्टायें होती हैं और स्थावरों में नहीं होतीं।

(ङ) राजा विदूरथ की मृत्यु एवं राजा पद्म का पुनर्जीवित होना (सर्ग 56-60)

लीला! यह सब वृतान्त मैंने तुम्हें बता दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है कि, यह राजा विदूरथ मृत्यु को प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पद्म के, जो पुष्प मालाओं से आच्छादित शव के रूप में स्थित है हृदयान्तर्गत पद्मकोश में प्रवेश करने की इच्छा से जाना चाहता है।

वशिष्ठ जी कहते हैं-हे राघव! इस प्रकार लीला के मन के सारे सन्ताप इस श्रेष्ठ कथन से मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश हो गया, तब राजा विदूरथ चित्त के विलीन हो जाने के कारण मृत्युकालिक मूर्छा के वशीभूत हो गया। इसी बीच राजा विदूरथ की आँखों की पुतलियाँ उलट गईं, होंठ सूखकर श्वेत हो गये, सभी इन्द्रियाँ मूर्छित हो गयीं व केवल सूक्ष्म प्राण ही शेष रह गया एवं प्राण ने राजा के शरीर का परित्याग कर दिया।

उन दोनों देवियों ने जिनको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी उस जीव को आकाश मार्ग से जाते देखा। उन दोनों ने उसका अनुसरण किया। वह जीव यमराज की नगरी में पहुँचा जहाँ उसके कर्मफलों पर विचार किया जा रहा था। यमराज ने विचार कर कहा, ''यह सदा पुण्य कर्मों का ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी भी पाप कर्म नहीं किया है। इसे छोड़ दो जिस से

यह पुष्पों से आच्छादित अपने पूर्व जन्म के शरीर में प्रवेश कर सके।'' यह आज्ञा सुनकर वे तीनों वहाँ से चले राजा पद्म के नगर में आये और लीला के अन्तःपुर में प्रविष्ठ हुए।

वहाँ पहुँचकर सरस्वती ने राजा विदूरथ की जीवात्मा को छोड़ा जिसने राजा पद्म के शव में प्रवेश किया जिससे वह राजा पुनः जीवित हो उठा। सरस्वती राजा को आशीर्वाद देकर वहाँ से अन्तर्धान हो गई। तदन्तर राजा ने लीला को तथा लीला ने मृत्यु को प्राप्त होकर पुनरुज्जिवित हुए अपने प्रियतम राजा का महान् आनन्द के साथ बार-बार आलिंगन किया। राजमहल के सभी निवासी भी आनन्द में निमग्न थे।

वशिष्ठ जी बोले-वत्स राम! मैंने यह पवित्र लीलोपाख्यान का दृश्य रूप दोष की निवृत्ति के लिए तुमसे वर्णन किया है। यह अनन्त सृष्टि माया से उत्पन्न होने के कारण माया ही है। और माया कोई सत्य वस्तु नहीं है। यह जगत् जैसी इसके सम्बन्ध में भावना होती है, तदनुकूल ही प्रतीत होने लगता है। इसी कारण दुःखी पुरुष के लिए जो रात्रि कल्प के समान लम्बी प्रतीत होती है, वही सुखी के लिए एक क्षण के समान लगती है। शत्रु में मित्र बुद्धि रखने से वह मित्र एवं मित्र में शत्रु बुद्धि रखने से वह शत्रु हो जाता है। नौकारोही अथवा भ्रमपीड़ित लोगों की भावना से पृथ्वी चलती हुई सी प्रतीत होती है किन्तु जो भावना भ्रम से रहित है उन्हें वैसा अनुभव नहीं होता।

जिस प्रकार स्वर्ण के भी द्रवत्व वर्तमान है, परन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह परब्रह्म के अन्दर यह सृष्टि स्थित है। जैसे स्वप्न में एक मनुष्य का दूसरे का साथ युद्ध हुआ, वह स्वप्न में सत्य होते हुए भी जागने पर असत्य ही है,

उसी तरह मायाकाश में स्थित यह स्वात्मरूप जगत् भी मायिक दृष्टि से सत् होते हुए भी तात्त्विक दृष्टि से असत् ही है।

जो जीवात्मा अभ्सास, वैराग्य आदि तीव्र साधनों से युक्त है, अतएव विषय भोगों से विचलित न होता हुआ मोक्ष पर्यन्त एकाकार वृत्ति में रहता है, वही परम स्थिरता मोक्ष को प्राप्त होता है। जब अनादि परम पद-स्वरूप परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, तब प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण आदि मायिक रूप वाले जगत् का विस्मरण हो जाता है। फिर कभी किसी को उसकी स्मृति नहीं होती।

अध्याय : 15

जगत् की रचना

(सर्ग 61-79)

(अ) जगत् ब्रह्म ही है (सर्ग-61)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! यह ईश्वर ही जगत् रूप है। ईश्वर में उससे पृथक जगत् का रूप नहीं है। सोना ही कंगन आदि के रूप में उपलब्ध होता है। सोने में कंगन की पृथक सत्ता नहीं है। सच्चिदानन्दघन परब्रह्म से अभिन्न रूप से स्थित जगत् और अहं की अज्ञान के कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है। जैसे मूर्तियाँ शिला से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार मन रूपी शिल्पी ने चिद्घन परमात्मा में जिस जगत् और अहं की कल्पना की है, वह उससे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भेद की प्रतीति होती है। वास्तव में न तो सृष्टि में परब्रह्म है और न परब्रह्म में सृष्टि ही है। उस परमार्थ सत्य वस्तु (परब्रह्म) का यथार्थ ज्ञान होने पर परम गति रूप मोक्ष प्राप्त होता है। भिन्न सा दिखाई देना ही असत्य रूप है, और अभिन्न रूप से देखना ही उसके सत्य रूप का दर्शन है। जैसे दूध का मिठास, मिर्च की तीखापन, जल की तरलता और पवन का स्पन्दन उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में यह सर्ग अनन्य भाव से स्थित है। उससे भिन्न रूप में उसका कोई अस्तित्व नहीं है। पुरुष जिस-जिस वस्तु की ओर से विरक्त होता है, उस उससे मुक्त हो जाता है। जो सब ओर से निवृत्त

हो जाता है उसे अणुमात्र दुःख का भी अनुभव नहीं होता।

(ब) नियति और पुरुषार्थ (सर्ग-62)

रघुनन्दन! जो ब्रह्म है, वही नियति है और वही यह सर्ग है। परमात्मा में स्थित हुए ब्रह्मा ने नियति रूपी भावी सृष्टि को उसी प्रकार देखा जैसे शरीरधारी को शरीर के अंग दिखाई देते हैं। ब्रह्मा को ही नियति आदि अंगों के दर्शन होते हैं। यह नियति (प्रारब्ध) ही दैव नाम से कही गई है जो शुद्ध चेतन परमात्मा की शक्तिरूप है। यही सम्पूर्ण पदार्थों को अपने अधीन करके जगत् की व्यवस्था रूप से स्थित है। इस नियति या प्रारब्ध से ही पुरुषार्थ की सत्ता लक्षित होती है और पुरुषार्थ से ही इस प्रारब्ध की सत्ता सूचित होती है। जब तक तीनों भुवन हैं, तब तक प्रारब्ध और पुरुषार्थ-ये दोनों सत्ताएँ परस्पर अभिन्न रूप से स्थित है। मनुष्य को अपने पौरुष से ही दैव और पुरुषार्थ दोनों को बनाना चाहिए। [जिस प्रकार देश के नियम कानून कहलाते हैं प्रकृति के नियम, नियम कहलाते हैं उसी प्रकार ईश्वरीय नियम है जिनको नियति या प्रारब्ध कहा जाता है। ये प्रकृति नियमों की ही भाँति चेतना के नियम हैं जो कार्य-करण के ही नियम हैं कि ऐसा करने पर ऐसा परिणाम होगा। ये नियम अटल हैं जिनसे यह सारी सृष्टि बँधी हुई है। इनकी अवहेलना प्रकृति, मनुष्य, देवता तथा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। इसीलिए यह सृष्टि सुव्यवस्थित एवं सुसंचालित है। सृष्टि में जो घटनाएं होती हैं वे इन नियमों (नियति) के अनुसार ही होती हैं। ईश्वर अपनी मर्जी से कुछ नहीं करता]

प्रारब्ध के अनुसार अवश्य होने वाला भोग होकर ही रहेगा

ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान पुरुष कभी पौरुष का त्याग न करे; क्योंकि प्रारब्ध पौरुष रूप से ही नियामक होता है। [बिना पौरुष किये प्रारब्ध का फल नहीं मिलता। पुरुषार्थ पर मनुष्य का अधिकार है किन्तु उसका फल तो सृष्टि के नियमानुसार नियति के अनुसार ही होता है। इसलिए उस फल पर मनुष्य का अधिकार नहीं है। नीम बोने से नीम का फल ही मिलेगा, आम का नहीं। क्या बोना है यह पुरुषार्थ है जो मनुष्य के अधीन है किन्तु उसका फल नियति (नियमानुसार) के ही अधीन है। नीम बोकर आम का फल नहीं मिल सकता।] पूर्व जन्म में किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्म में प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुक को ऐसा ही होना चाहिए। जो प्रारब्ध के भरोसे मूक बनकर पौरुष शून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। यदि निर्विकल्प समाधि में प्राण निरोध करके पुरुष साधु होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थ का ही फल है। किन्तु ज्ञानियों का प्रारब्ध भोग दुःखरहित होता है।

(स) शक्ति और शक्तिमान में भेद नहीं है

(सर्ग-63)

रघुनन्दन! यह जो ब्रह्म तत्त्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सर्वशक्तिमान, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है। वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकार से भावना करता है, तब वहाँ उसी को प्रत्यक्ष देखता है। उसमें जो-जो शक्ति जैसे उदित होती है, वह उसी प्रकार रहती है। वह शक्ति स्वभाव से ही नाना रूप वाली है। परमार्थ दृष्टि से ये सारी शक्तियाँ यह आत्मा ही है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान

परमात्मा में भेद नहीं है। आत्मा में भेद पुरुष की बुद्धि से कल्पित है। परमार्थ दृष्टि से यह सम्पूर्ण विश्व प्रपंच सर्वव्यापी ब्रह्म ही है। मिथ्या ज्ञान वालों ने ही शक्ति और शक्तिमान के तथा अवयव और अवयवी के भेद की कल्पना कर रखी है। वह भेद यथार्थ नहीं है।

(द) जीव की उत्पत्ति

उस सर्वव्यापी, स्वयं प्रकाश, महान् ईश्वर से सर्वप्रथम जीव उत्पन्न हुआ। वही उपाधि की प्रधानता से 'चित्त' कहलाता है और चित्त से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। उसी ब्रह्म का चेतन अंश–जो स्वभावत: स्पन्दनशील है, 'जीव' कहलाता है। जैसे चलना या गतिशील होना वायु का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का स्वभाव है, शीतलता हिम का स्वभाव है, उसी प्रकार जीवत्व आत्मा (व्यष्टि चेतन) का स्वभाव है। इस आत्मा में स्वयं अपने अज्ञान के कारण जो अल्पज्ञता है, उसी को जीव कहा जाता है। इस देह में दिव्य देह आदि की भावना करने से शीघ्र ही देवता आदि के शरीर को प्राप्त होता है तथा वह देवताओं के नगर (अमरावती) में निवास करता है। अपने ही संकल्प के अनुसार वह वृक्ष आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है, कोई जंगम योनि में जन्म ग्रहण करता है, कोई पक्षी आदि प्राणियों का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्यु के कारण बने हुए अपने कर्मों से जीव ऊपर या नीचे जाते हैं। (ऊँच-नीच योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं।)

(य) मन की उत्पत्ति (सर्ग-65)

श्री राम! परम कल्याण रूप परमात्मा से ही पहले मन

उत्पन्न हुआ है। मन ही उसका स्वरूप है। भोगों से भरा हुआ जो यह विस्तृत जगत् है, वह मन भी परमात्मा में स्थित है। वह भाव और अभाव के झूले में झूलता रहता है। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म और जगत् की प्रतीतियों का कोई भेद नहीं रह जाता। परमात्मा के विस्तार का कहीं आर-पार नहीं है। यह आत्मा ही स्वयं विस्तार को प्राप्त होता है। क्षणिक होने के कारण असत्य तथा प्रतीत होने के कारण सत्या यह मनोमय जगत् स्वप्न के समान सद्-असद् रूप है। वास्तव में वह जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न ही हुआ है। यह तो केवल चित्त का भ्रम है। जैसे अच्छी तरह न देखने के कारण ठूँठे काठ में झूठे ही पुरुष की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविद्यायुक्त मन के प्रभाव से यह संसार नामक दीर्घकालीन स्वप्न अज्ञानियों को स्थिर-सा प्रतीत होता है। जैसे चेतन परमात्मा और जीव में भेद नहीं है उसी प्रकार जीव और चित्त में भी भेद नहीं है तथा उसी प्रकार देह और कर्म में भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है, क्योंकि देह से ही कर्म होते हैं। देह ही चित्त है, चित्त ही अहंकार विशिष्ट जीव है। यह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्वरूप एवं कल्याणमय है। यह शास्त्र का सारा सिद्धान्त एक पद्य में ही कह दिया गया है।

(र) चित्त संकल्प द्वारा ही स्थूलता को प्राप्त होता है (सर्ग-66)

श्री राम! जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परम वस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्प से

मानों नानात्व को प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्त मात्र ही है। चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त हो जाता है। जिसका चित्त शान्त है, उसके लिए सारा जगत् ही शान्त हो गया। जगत् में भ्रम के सिवा और कुछ भी सार तत्त्व नहीं है, जीव जन्म लेता है, फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह शुभाशुभ कर्मों से स्वर्ग और नरक में पहुँचता है, यह सब भ्रमवश चित्त का नृत्य अर्थात् संकल्प मात्र है। जैसे मल दोष से मलिन नेत्र चन्द्रमा आदि में दो-दो आकृतियाँ देखता है, वैसे ही भ्रम से आक्रान्त हुआ जीवात्मा परमात्मा में द्वैत देखता है (जीव और ईश्वर में भेद दर्शन करता है।) जिस पदार्थ का चेतन अनुभव करता है, वह चेतन के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार दृश्य की शान्ति होने पर विषय न रहने से ईधन रहित अग्नि के समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है। व्यष्टि चेतन अज्ञानी जीव विषय का अनुभव करता है किन्तु ज्ञानी महात्मा विषय का आस्वादन नहीं करता।

जीवात्मा चित्त के संकल्प द्वारा ही स्थूलता को प्राप्त होता है तथा जीवन-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है। चेतन के द्वारा जिस किसी का अनुभव होता है, वही स्थूल जगत् है। रज्जु में सर्प की भाँति होने वाले उस आभास को अविद्या-भ्रम कहते हैं। इस संसार रूपी व्याधि की चिकित्सा और निवारण केवल ज्ञानमात्र से ही सम्भव है। यह संसार चित्त का एक संकल्प मात्र है। इसके बाद में किसी प्रकार का आयास नहीं है। जैसे भली-भाँति देख लेने से रस्सी में साँप का भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से यह संसाररूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है।

श्री राम! जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसी का निश्चित रूप से त्याग करके रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करने में कौन-सी कठिनाई है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए सांसारिक वस्तु के त्याग करने में कंजूसी कैसे की जा सकती है। यह परमात्मा ही अज्ञान के कारण जगत् रूप में प्रतीत हो रहा है। इस यथार्थ ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति होती है अन्यथा वह बन्धन में ही पड़ा रहता है।

(ल) जीव का स्वरूप (सर्ग-67)

रघुनन्दन! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न सब कुछ करने में समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्ति से स्फुरित होता है, वहाँ अपने में उसी शक्ति को प्राप्त हुई देंखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादि काल से जिस व्यष्टि-चेतन को स्वयं जानता है, वही यहाँ 'जीव' नाम से कहा गया है और जीव ही संकल्प करने वाला है। जीव और ईश्वर का जो स्वाभाविक भेद है वही जन्म-मरण का कारण है। उस ब्रह्म में क्रियाशीलता और अक्रिया दोनों है। ब्रह्म के क्रियाशील होने पर सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है और अक्रिय रहने पर सबका प्रलय हो जाता है। उस अवस्था में ब्रह्म ही शान्तभाव से स्थित रहता है। जिसने जीव-ईश्वर के भेद की कल्पना कर रखी है जैसे जीवात्मा को देह की प्राप्ति होती है। यही नाना योनियों में प्राप्त जीवात्मा ज्ञान होने पर शीघ्र मुक्त हो जाता है। कोई मन्द अभ्यासी साधन करते-करते हजारों जन्मों में मुक्ति प्राप्त करता है और कोई तीव्र अभ्यास करने वाला एक ही जन्म में मुक्ति लाभ कर लेता है। परमार्थ वस्तु का दर्शन न होने के कारण आशा तृष्णा के वशीभूत हुआ चित्त 'अहं, मम' (मैं,

मेरा) इत्यादि रूप से अनुभव में आने वाले असत् संसार को ही देखता है और उसे सत् मानता है।

श्री राम! व्यष्टि चेतन ही बुद्धि के संयोग से 'जीव' कहलाता है। यह जीव ही संकल्प करने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा माया के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे स्वप्न में जो नगर आदि का भान होता है, वह मन का भ्रम ही है, उसी तरह यह संसार भी चित्त का भ्रम ही है। व्यष्टि चेतन को जो संसार का ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। सूक्ष्म शरीर में जो उसका अहंभाव है, उसी को स्वप्न माना गया है। मन का जो प्रकृति में विलीन हो जाना है, वही सुषुप्ति है तथा केवल ब्रह्म में जो एकीभाव से तन्मय हो जाना है, उसी को तुरीयावस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध परमात्मा में जो अविचल स्थिति है, वही परिणाम में विकार रहित तुरियातीत पद है। उस पद में स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता। उस परमात्मा में ही यह सब जगत् उत्पन्न होता है, उसी में स्थित रहता है और उसी में लीन हो जाता है। वास्तव में न तो यह ब्रह्म जगत् रूप है और न उस ब्रह्म में जगत् ही है। ब्रह्म में भ्रम से ही जगत् का दर्शन होता है। यह जगत् मिथ्या ही रुचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही लय को प्राप्त होता है। जैसे जल और तरंग भिन्न हैं-ऐसी जो बालकों अथवा मूर्खों की कल्पना है उसी से भेद की प्रतीति होती है।

अध्याय : 16

ब्रह्म और जगत् की सत्ता

(सर्ग 80-95)

(अ) परमात्म सत्ता (सर्ग 80-91)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! नाम रहित तथा मन आदि छः इन्द्रियों से अगम्य सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही 'अणु' शब्द से कहा गया है। उसमें स्थित हुआ यह जगत् बीज के भीतर वृक्ष की सत्ता के समान स्फुरित होता है। सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता उसी के अधीन है। वह सूक्ष्म होने के कारण नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है। वह अणु का भी अणु है। सर्वात्मक होने से वह कभी शून्य नहीं हो सकता। जैसे कपूर अपनी सुगन्ध से प्रतीत होता है। वैसे ही सर्वात्मा सर्वव्यापी रूप से अनुभव में आता है। वही एक और सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में आत्मारूप से अनुभूत होने के कारण अनेक भी है। वही अपने संकल्प से जगत् को धारण करता है। देहरूपी उपाधि से आत्मा का गमना-गमन नहीं होता। वह सूर्य आदि के प्रकाश का भी प्रकाशक है। वही सब का स्वामी, कर्ता, पिता और भोक्ता है ऐसा प्रतीत होता है, वास्तव में उसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे बीज के भीतर स्थित हुए वृक्ष की सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आकाश के तुल्य है, उसी प्रकार वह जगत् का साक्षी है। विश्व रूप होने पर भी जिसकी अखण्डता कभी खण्डित नहीं होती वही सन्मात्र

शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। उस परमात्मा की प्राप्ति के सैंकड़ों साधन है। उसके प्राप्त होने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

जैसे बीज में भावी वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चिन्मय परमात्मा में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। यह परमात्मा स्मपूर्ण जगत् में उदासीन की भाँति स्थित है। कर्तापन और भोक्तापन से उसका थोड़ा-सा भी स्पर्श या सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इस जगत् के बाहर भी स्थित है और भीतर भी। जैसे स्वर्ण में यह शक्ति है कि कंगन का रूप ले सकता है। उसी प्रकार चिन्मय होने के कारण दृष्टा में वह शक्ति है कि वह दृश्य का निर्माण कर सके। जैसे स्वर्ण के कड़े में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह स्वर्ण का निर्माण कर सके, उसी प्रकार जड़ होने के कारण दृश्य में वह शक्ति नहीं है कि वह दृष्टा का निर्माण कर सके। अतः दृष्टा ही दृश्य का निर्माण करता है। जिस प्रकार मूढ़ पुरुष की बुद्धि कंगन के नाम रूप में ही उलझी रहती है। वह दृष्टा को नहीं जान पाता। दृष्टा में दृष्टत्व की प्राप्ति होने पर उसकी सत्ता भी असत्ता सी हो जाती है। वह सद्रूप होने पर भी असत् सा प्रतीत होने लगता है। परन्तु जब ज्ञान से दृश्य गलित हो जाता है, तब केवल दृष्टा की ही सत्ता रह जाती है। जैसे कड़े को गला देने पर स्वर्ण की हो स्वर्णता रह जाती है। जैसे बीज के भीतर अपने शाखा, फल, फूल आदि का त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है वैसे ही चेतन परमात्मा में शाखा प्रशाखाओं सहित यह विशाल जगत् विद्यमान है।

(ब) जगत् की सत्ता

श्री वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! जो नित्य उदित एवं

नित्य प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म ही कर्ता सा होकर इस जगत् का अनेक रूपों में निर्माण करता है। जैसे बीज में वृक्ष एवं फल आदि अभिन्न रूप से ही स्थित हैं, तथापि वे उससे इस प्रकार प्रकट होते हैं मानो भिन्न हो, उसी तरह चेतन परमात्मा में यह चेत्य (स्थूल जगत्) अनन्य भाव से स्थित होने पर भी अन्य सा प्रकट हुआ प्रतीत होता है। जैसे बीज से लेकर फल पर्यन्त जो एक ही द्रव्य-सत्ता है, उसका विच्छेद न होने के कारण फल और बीज में भेद नहीं है, जैसे जल और तरंग में भेद नहीं है, उसी प्रकार चित् और चेत्य (ब्रह्म और जगत्) में कोई भेद नहीं है। अविचार से ही इनमें भेद की कल्पना की जाती है। अज्ञानियों को समझाने के लिए कार्य-कारण भाव, सेवक-स्वामिभाव, विद्या-अविद्या, आदि मिथ्या संकल्पों की संकलना की गई है। जिन्हें तत्व का ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पों से उत्पन्न हुए तर्कों द्वारा अद्वैत के विषय में विवाद करते हैं।

रघुनन्दन! चित्त ही विकास रूप से जगत् को प्राप्त हुआ है।

(स) प्राणियों के दो शरीर (सर्ग-92)

रघुनन्दन! इस संसार में ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जाति के प्राणियों के सदा दो-दो शरीर होते हैं। एक तो मनोमय शरीर होता है, जो शीघ्रता पूर्वक सब कार्य करने वाला और सदा चंचल है। दूसरा माँस का बना हुआ स्थूल शरीर है, जो मन के बिना कुछ नहीं कर सकता। इन दोनों में मांसमय स्थूल सब लोगों को प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसी पर सब प्रकार के शापों, विद्याओं तथा विष, शस्त्र आदि विनाश

के साधनों का आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर असमर्थ, दीन, क्षण भंगुर, चंचल तथा प्रारब्ध आदि के अधीन है। दूसरा मन नामक शरीर है, वह तीनों लोकों में प्राणियों के अधीन हो कर भी प्राय: अधीन नहीं रहता। यह अपने पौरुष के सहारे स्थित रहता है। यह दु:खों की पहुँच से बाहर होता है। प्राणियों का मनोमय शरीर जैसे-जैसे चेष्टा करता है, वैसे ही वैसे वह अपने निश्चय के फल का एकमात्र भागी होता है। मांसमय शरीर का कोई भी पौरुष-क्रम सफल नहीं होता, परन्तु मनोमय शरीर की प्राय: सभी चेष्टायें सफल होती हैं। क्योंकि मन ही प्रधान है। इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह इस संसार में पुरुषार्थ के साथ अपनी बुद्धि द्वारा ही अपने मन को पवित्र मार्ग में लगावे। श्री राम! जो ये परमेष्ठी ब्रह्मा है, इन्हें तुम परमात्मा का समष्टिमन ही समझो। समष्टिमन रूप ही जिनका आकार है, वे भगवान ब्रह्मा संकल्पमय होने के कारण जिस वस्तु का संकल्प करते हैं, उसी को देखते हैं।

(द) जीवों की उत्पत्ति (सर्ग-९३)

सर्वप्रथम ब्रह्मा (समष्टिमन) ने अविद्या की कल्पना की। अनात्मा में आत्मा का अभिमान होना ही इस अविद्या का स्वरूप है। फिर उन ब्रह्मा ने क्रमश: पर्वत, तृण और समुद्ररूप इस जगत् की कल्पना की। इस प्रकार यह सृष्टि पर-ब्रह्म तत्त्व से आई। तीनों लोकों के भीतर वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही हुई है ठीक उसी तरह, जैसे तरंगों की उत्पत्ति समुद्र से होती है। सभी व्यष्टि चेतन शक्तियाँ अर्थात् प्राणी वास्तव में सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से अभिन्न है। जब यह जगत् विस्तार को प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टिमन

रूप ब्रह्मा से पूर्व कर्मानुसार विकास को प्राप्त होते हैं। ये सब व्यष्टि चेतन संसरणशील जीव कहलाते हैं। जिस प्रकार की जीव-जाति में रहने से जीव जैसी वासना और कर्म के अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, उसी जीव-जाति की प्राण शक्ति द्वारा वे स्थावर अथवा जंगम शरीर में प्रविष्ठ हो रज-वीर्य रूपी बीज भाव को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् योनि में जन्मग्रहण करते हैं। तदनन्तर वासना-प्रवाह के अनुसार अपने कर्म फल के भागी होते हैं। फिर शुभ और अशुभ वासनाओं से युक्त पुण्य-पाप कर्म रूपी रस्सियों से जिनका लिंग शरीर बंधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए कभी उत्तम लोकों में जाते हैं और कभी नरकों में गिरते हैं। जीवों की ये सब जातियाँ वासना रूप ही हैं। कितने ही जीव जिन्हें परमात्मा का ज्ञान नहीं है, वे मोहित रह कर असंख्य जन्म धारण करते हैं तथा जन्म-मरण की परम्परा से बँधे रहते हैं। कई जाति के जीव तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपद को प्राप्त हो गये हैं जैसे वायु से उड़ाये हुए समुद्र के जल बिन्दु पुनः समुद्र के जल में प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार परमपद रूप ब्रह्म से सम्पूर्ण जीवों की गुण और कर्म के अनुसार उत्पत्ति (सृष्टि) हुई है। यह सृष्टि आविर्भाव और तिरोभाव के कारण क्षण भंगुर है तथा जन्म-मरण की परम्परा को प्रकट करने वाली है। वासनारूपी विष की विषमता के कारण दुःखरूपी ज्वर को उत्पन्न करने वाली है, अनर्थकारी कार्यों का समादर करने वाली है, कर्मफल का भोग कराने वाली है। परमार्थ दृष्टि से यह सृष्टि असत् ही है। यदि तत्त्वज्ञान रूपी कुल्हाड़ी से जड़ सहित इस लता को काट दी जाय तो फिर यह पनप नहीं सकती।

(य) कर्मफल (सर्ग 94-95)

श्री राम! जैसे वृक्ष से फूल और उसकी सुगन्ध एक साथ ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सृष्टि के आदि में परमपद रूप ब्रह्म से कर्म और कर्ता दोनों ही एक साथ प्रकट हुए। जैसे फूल और गन्ध एक दूसरे से अभिन्न हैं, उसी तरह पुरुष (कर्ता) और कर्म परस्पर अभिन्न है। यह संकल्प विकल्पात्मक मन विकास ही कर्मों का कारण है–उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। मन के संयोग के बिना किये हुए कर्म फलदायक नहीं होते। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से जब मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ, तभी उस मन के संकल्प के अनुसार जीवों का कर्म भी उत्पन्न हुआ और जीव पूर्ण वासना के अनुसार देह वाला होने के कारण देह में अहंभाव से स्थित है। इस जगत् में क्रिया का होना ही विद्वानों द्वारा कर्म बताया गया है। यह क्रिया मन का ही संकल्प होने के कारण मनोरूप ही है। न ऐसा कोई पर्वत है, न आकाश है, न समुद्र है और न ऐसा कोई लोक है, जहाँ किये हुए अपने कर्मों का फल नहीं प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि कर्मों का फल अवश्यंभावी है, ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म चाहे पूर्वजन्म का हो या इस जन्म का, वह क्रिया रूप पुरुषार्थ ही पुरुष का परम प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं होता। जो मुक्त पुरुष है, उसी के कर्म का नाश होने पर मन का नाश होता है। मन का नाश ही कर्म का अभाव है। जो मुक्त नहीं है, उस के कर्म और मन का नाश कदापि नहीं होता।

अध्याय : 17

मन का स्वरूप एवं मनोनाश के उपाय

(सर्ग 96-114)

(अ) मन का स्वरूप (सर्ग-९६)

वशिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन! सर्वशक्तिमान् ब्रह्म (परमात्म तत्व) की शक्ति से रचित जो संकल्पमय रूप है, उसी को विद्वान् पुरुष 'मन' समझते हैं। यह मन स्वयं भी संकल्प की शक्ति से युक्त है। इस लोक में जैसे गुणी का गुण से हीन होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मन का कल्पनात्मक क्रिया शक्ति से रहित होना असम्भव है। नाना प्रकार के विस्तार से सुशोभित होने वाला एवं फलधर्मी (फल का जनक) है। मन जिसका अनुसन्धान करता है, उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं। इसलिए मन को कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संस्मृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया तथा इनके सिवा और भी विचित्र शब्दोक्तियां संसार भ्रम की ही हेतुभूत है। वह शुद्ध चेतन परमात्मा ही लोक में जीव कहलाता है। मन, चित्त, और बुद्धि भी इसी के नाम हैं। जैसे नाटक में नट अनेक प्रकार के रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी भिन्न-२ कर्मों का आश्रय ले अनेक

प्रकार के नाम धारण करता है। जैसे विभिन्न रूपों के दर्शन में प्रकाश ही कारण है, उसी प्रकार विभिन्न विषयों के अनुभव में मन ही कारण है।

जिस पुरुष का चित्त विषयों से बँधा हुआ है, वह बन्धन में पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्म वासना के बन्धन से रहित है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है। मन के एकमात्र ब्रह्माकार होने पर संसार का लय हो जाता है।

(ब) मन से ही जगत् का विस्तार (सर्ग 97-99)

श्री राम! यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मन से ही व्याप्त है। मन से भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। परमात्मा के ही प्रसाद से मन सम्पूर्ण संसार में दौड़ लगाता एवं नाचता कूदता है। मन ही क्रिया है और वही विभिन्न शरीरों का कारण है। मन ही जन्म लेता है और मरता है ऐसे भावविकार आत्मा में नहीं हैं। मन के विजय होने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

श्री राम! जिनका भीतरी भाग अत्यन्त विस्तृत है, ऐसे तीन आकाश विद्यमान है। पहला चित्ताकाश, दूसरा चिदाकाश और तीसरा भूताकाश। जो जगत् की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञाता है वह परमात्मा ही 'चिदाकाश' कहलाता है। जिसने संकल्प के द्वारा जगत् का विस्तार किया है, वह संकल्पात्मक मन ही 'चित्ताकाश' है। दसों दिशाओं के मण्डलाकार विस्तार से भी जिसका कलेवर सीमित नहीं होता, वह जो वायु और मेघ आदि का आश्रय है, वह 'भूताकाश' कहलाता है। भूताकाश और चित्ताकाश दोनों परब्रह्म रूप चिदाकाश की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। वह सारा चराचर जगत् चित्त के अधीन है।

इसलिए बन्धन और मोक्ष भी चित्त के अधीन हैं। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए चित्त को परमात्मचिन्तन में लगाये यही मनुष्य को उचित है। रघुनन्दन! परमात्मा में लगाया हुआ चित्त वासना रहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् वह कल्पना शून्य होकर परमात्म भाव को प्राप्त हो जाता है। मन के प्रमाद से नाना प्रकार के दुःख बढ़ते हैं तथा उसी को वश में कर लेने से ज्ञान का उदय होने के कारण वे सारे दुःख उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के सामने बर्फ का ढेर गल जाता है।

(स) मन के संकल्प से ही सृष्टि विस्तार

(सर्ग 100-102)

रघुनन्दन! अज्ञानी पुरुषों का मन ही संसार रूपी भ्रम का कारण है। भगवान् सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण है। ऐसी किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जो सर्वव्यापी परमात्मा में न हो। प्राणियों के शरीर में ब्रह्म की चेतन शक्ति, वायु में स्पन्द शक्ति, प्रस्तर में जड़-शक्ति, जल में द्रव-शक्ति, अग्नि में तेज शक्ति, आकाश में शून्य शक्ति और जगत् की स्थिति में उनकी भाव (सत्ता) शक्ति विद्यमान है। जैसे वृक्ष के बीज में फल, फूल, लता, पत्र, शाखा-प्रशाखा तथा जड़ सहित वृक्ष अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। वही ब्रह्म जब किंचित मनन शक्ति को धारण करता है, तब 'मन' कहलाता है। यह जो मन का मननात्मक रूप प्रकट हुआ है, वह ब्रह्म की शक्ति ही है। बन्धन और मोक्ष आदि का कोई सम्मोह ज्ञानी को नहीं होता। ये तो अज्ञानी को ही होते हैं। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश,

पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ–ये सब मन के संकल्प से ही विकसित हुए हैं।
मन ही सम्पूर्ण जगत् का शरीर है। वासना ही अविद्या है। ज्ञान के बिना इसका अन्त होना बड़ा कठिन है। यह केवल दुःख देने के लिए ही बढ़ती है। मन का नाश ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है और वही समस्त दुःखों के समूल नाश का उपाय है।

(द) जगत् चित्त रूप है। (सर्ग 103-110)

जैसे सागर से उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा से चित्त रूपी तरंग का उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्प से विशालता को प्राप्त होकर चारों ओर इस भुवन का विस्तार करता है। जिस प्रकार स्वर्ण के पारखी को बाजूबन्द, कड़ा आदि न दिखाई देकर मात्र स्वर्ण ही दिखाई देता है। उसी प्रकार ज्ञानी को विविध पदार्थ न दिखाई देकर सर्वत्र चित्त ही दिखाई देता है। यह मन ही मानव है, इसका स्थूल देह नहीं। देह जड़ है, किन्तु इसके भीतर रहने वाले मन को न जड़ माना जाता है, न अजड़। यह सारा जगत् एक मात्र मन ही है। जिसका मन मोह को प्राप्त होता है वही, 'मूढ़' कहलाता है। मन जब देखता है तब नेत्र बन जाता है, सुनता है तब कान बन जाता है, स्पर्श का अनुभव करने से वही त्वागिद्रिय का रूप ग्रहण करता है, सूंघने से घ्राणेन्द्रिय, और रसास्वादन करने से रसेनेद्रिय हो जाता है। जैसे नाटक में एक ही नट अनेक भूमिकाओं में देखा जाता है, उसी प्रकार देह के भीतर इन विचित्र इन्द्रिय वृत्तियों में केवल मन की ही अनुवृत्ति होती है। मन छोटे को बड़ा बना देता, सत्य पदार्थों में असत्य स्थापित कर देता,

स्वादिष्ट को कड़वा बना देता और शत्रु को मित्र बना देता है। मन के जीत लेने पर सारी इन्द्रियाँ स्वत: वश में हो जाती हैं।

जिसे चित्त ने देखा है वही वस्तु देखी मानी जाती है। यदि चित्त ने नहीं देखी तो सामने रखी हुई वस्तु भी नहीं दिखाई देती। इस मन ने अपने में ही इन्द्रियों का निर्माण कर रखा है। इन्द्रियों से मनसाकार होता है और मन से इन्द्रियां किन्तु इनमें मन उत्कृष्ट है क्योंकि मन से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं इन्द्रियों से मन नहीं। जाग्रत और स्वप्न की विलास भूमियाँ मन का ही विकास है। जो पुरुष अन्त:करण में मन को चपलता (विषय चिंतन) के लिए अधिक अवसर नहीं देता, उसका वह मन खंभे में बंधे हुए हाथी के समान स्थिर होकर जय को प्राप्त हो जाता है।

(य) चित्त (मन) रूपी रोग की चिकित्सा

(सर्ग-111)

वशिष्ठ जी कहते हैं—श्री राम! यह चित्त एक महान् रोग है। इसकी चिकित्सा के लिए एक बहुत बड़ी औषधि है, जो निश्चित रूप से लाभ पहुँचाने वाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है। उसे बताता हूँ, सुनो। राग के विषयभूत बाह्य विषयों का परित्याग करके परमात्म चिन्तन रूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्न से चित्त रूपी बेताल पर शीघ्र विजय पाई जाती है। एकमात्र अपने पौरुष से ही सिद्ध होने वाला जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषय भोग) का त्यागरूपी मनोनिग्रह कर्म है, उसके बिना शुभ गति नहीं हो सकती। इस मनोनिग्रह के बिना गुरु का उपदेश, शास्त्र के अर्थ का चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकों के समान व्यर्थ हैं।

उद्वेग या उकताहट न होने से ही जीव को अपने मन पर विजय प्राप्त होती है। चित्त के लय हुए बिना मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। यह 'मैं' और 'मेरा' ही मन है। यदि इस 'मैं' और 'मेरेपन' की भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसिया से तृण। जो लोग संसार का विस्तार करने वाले इस मन को मार डालते हैं, वे निर्वाण पद का उपदेश देने वाले महात्मा जन इस संसार में धन्य हैं। जिसका मन शान्त हो गया, उस पुरुष को कभी कोई हानि नहीं होती।

(र) मनोनाश के उपाय (सर्ग 112-113)

जैसे बर्फ का रूप शीतलता और काजल का रूप कालिमा है, उसी प्रकार मन का रूप अत्यन्त चंचलता है। श्री राम! इस जगत् में कहीं भी चपलता से रहित मन नहीं देखा जाता। जैसे ऊष्णता अग्नि का धर्म है वैसे ही चंचलता मन का। चेतन तत्त्व में जो यह चंचल क्रिया शक्ति विद्यमान है, उसी को तुम मानसी शक्ति समझो। स्पन्दन के बिना चित्त का अस्तित्व ही नहीं है। जो मन चंचलता से रहित है, वही मरा हुआ कहलाता है। वही तप है और वही मोक्ष कहलाता है। मन के विनाश मात्र से सम्पूर्ण दुःखों की शांति हो जाती है और मन के संकल्प मात्र से परम दुःख की प्राप्ति होती है। यह मन की चपलता अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या कही जाती है। उसका विचार के द्वारा नाश कर देना चाहिए। विषय चिन्तन का त्याग कर देने से अविद्या और उस चित्त सत्ता का अन्तःकरण में लय हो जाता है। और ऐसा होने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। जिसने मन रूपी पाश को अपने मन के द्वारा ही काटकर आत्मा का उद्धार नहीं कर लिया, उसे दूसरा

कोई बन्धन से नहीं छुड़ा सकता। विद्वान् पुरुष को चाहिए कि जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उदित होती है, उस-उस का परित्याग करे-उसे मिथ्या समझ कर छोड़ दे। इससे अविद्या का क्षय हो जाता है। भावना की भावना न करना ही वासना का क्षय है। इसी को मन का नाश एवं अविद्या का नाश भी कहते हैं। वासना का त्याग कर देना ही उत्तम है। चूंकि कर्म का फल मिथ्या है, अतः उसमें आसक्त न होना ही उचित है। यह अविद्या अज्ञानियों को ही धोखा देती है, विज्ञ पुरुषों को नहीं। अपने आत्म स्वरूप परमात्मा के विषय में जो अन्धे हैं, वे ही इस अविद्या के आश्रय हैं।

(ल) अविद्या का नाश (सर्ग-114)

रघुनन्दन! परमात्मा का साक्षात्कार होने से इस अविद्या का नाश हो जाता है। बाह्य विषयों की इच्छा मात्र को 'अविद्या' कहा गया है (क्योंकि अविद्या से ही इच्छा उत्पन्न होती है) इच्छा मात्र का नाश ही मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष संकल्प के अभाव से सिद्ध होता है।

जो विषयों के संसर्ग से रहित असाधारण और अनिर्वनीय चेतन तत्त्व है, वह परमेश्वर ही 'आत्मा' या 'परमात्मा' शब्द से कहा गया है। ब्रह्म से लेकर कीट-पतंग एवं पेड़-पौधों तक जो यह जगत् है, वह सब सदा परमात्मा ही है। यह अविद्या कहीं नहीं है। यह सब नित्य चैतन्य घन अविनाशी एवं अखण्ड ब्रह्म ही है। यहाँ मन नाम की कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं। यहाँ तीनों लोकों में न कोई जन्म लेता है, न मरता ही है। यह आवरण सहित जीवात्मा चिन्मय स्वभाव से भिन्न-जड़ विषय रूप जगत् की स्वयं कल्पना

करके दौड़ता है, वह अविद्या रूप आवरण से मलिन हुआ चेतन जीवात्मा ही मन के रूप में परिणत होने के कारण 'मन' नाम से कहा गया है। भोगाशारूपता को प्राप्त हुई यह अविद्या असंकल्प रूप पुरुष प्रयत्न द्वारा लय को प्राप्त होती है। उत्तम बुद्धि द्वारा परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर प्रयत्न पूर्वक चित्त से भोगाशाभावना को जड़-मूल सहित उखाड़ फेंकना चाहिए। महान् मोह (अज्ञान) ही जरा और मरण आदि का कारण है। 'ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है' इस प्रकार के इन्द्रजाल से यह वासना ही वृद्धि को प्राप्त होती है। वास्तव में 'मैं' और 'मेरा'–ये दोनों ही नहीं है। यह अविद्या अज्ञानी की ही दृष्टि में है। ज्ञानी की दृष्टि में सब ब्रह्म ही है। जो सत्य है उस ब्रह्म को तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसी का निश्चित रूप से निरन्तर स्मरण हो रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है।

अध्याय : 18

ज्ञान की सात भूमिकाएँ

(सर्ग 115-122)

(अ) अविवेक ही बन्धन है (सर्ग 115-117)

श्री राम! देहाभिमानी जीवात्मा ही अविवेक के कारण दु:खी होता है। यह अविवेक या अविचार अतिशय अज्ञान के कारण है। जैसे रेशम का कीड़ा अज्ञानवश ही रेशम के कोष में बँध जाता है, इसी प्रकार अविवेक के कारण ही जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के सुख दु:खादि फलों का भोक्ता होता है। शरीर में जीवात्मा ही सारी चेष्टाएँ करता है, शरीर नहीं।

(ब) ज्ञान की सात भूमिकाएँ (सर्ग-118)

वशिष्ठ जी कहते हैं-निष्पाप राम! अब मैं ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन करता हूँ, इसे सुनो। पहली ज्ञान भूमिका शुभेच्छा बतलाई गई है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छटी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा इस प्रकार ये ज्ञान की सात भूमिकाएँ मानी गईं हैं।

1. शुभेच्छा- 'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों के द्वारा जानकर तत्त्व का साक्षात्कार करूँगा-इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानी जनों ने 'शुभेच्छा' कहा है।

2. विचारणा- शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्पुरुषों के संग तथा विवेक वैराग्य के अभ्यास पूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होना-यह 'विचारणा' नाम की भूमिका कही जाती है।

3. तनुमानसा- उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करना-यह 'तनुमानसा' है। इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है। इसलिए इसे 'तनुमानसा' कहते हैं।

4. सत्त्वापत्ति- ऊपर बताई हुई शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा-निदिध्यासन भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के अन्तर उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्य स्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।

5. असंसक्ति- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति-इन चारों के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के बाह्याभ्यन्तर सभी विषय संस्कारों से अत्यन्त असंग हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ़ हो जाना (स्थित हो जाना) ही 'असंसक्ति' नाम की पाँचवी भूमिका कहा गया है।

6. पदार्थाभावना- उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी

महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्त:करण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक चिरकाल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है; इसलिए उसके अन्त:करण की 'पदार्थाभावना' नाम की छठी भूमिका हो जाती है।

7. तुर्यगा- उपर्युक्त छहों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्न पूर्वक प्रेरित करने पर भी भेद रूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, वरन् अपने आत्मभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्त:करण की 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिए।

यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषों में इस शरीर में रहते हुए ही विद्यमान रहती है। इस देह का अन्त होने पर विदेहमुक्ति का विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है। अत: भूमिकाओं में उसकी गणना नहीं है।

श्री राम! जो महाभाग सातवीं भूमिका में पहुंच गये हैं वे आत्माराम महात्मा महत्पद (परब्रह्म) को प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दु:ख से आसक्त नहीं होते। केवल देह

यात्रा के लिए छठी भूमिका में कुछ कार्य करते हैं, अथवा सातवीं भूमिका में नहीं भी करते हैं। उनका आचार फल की कामना और आसक्ति से रहित होते हैं। वे अपनी आत्मा में ही रमण करने के कारण बाह्य विषयों से विरत होते हैं। ज्ञान की ये सात भूमिकाएँ विवेकी पुरुषों को ही प्राप्त होती हैं। इस ज्ञान दशा को प्राप्त हुए पशु, अन्त्यज आदि भी सदेह (जीवन-मुक्त) अथवा विदेहमुक्त ही हैं-इसमें संशय नहीं है। चेतन और जड़ की ग्रन्थि का विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होने पर मुक्ति हो जाती है। कुछ लोग एक जन्म में क्रमशः ज्ञान की सारी भूमिकाओं का प्राप्त हो जाते हैं। कोई-कोई एक-दो या तीन भूमिकाओं तक ही पहुँच पाते हैं। कोई छः भूमिकाओं को प्राप्त हो जाते हैं। कोई एकमात्र सातवीं भूमिका में ही स्थित रहते हैं। उस चतुर्थ भूमिका में (जीवन्मुक्तावस्था) में पहुँच जाने पर सम्राट और विराट् (देवलोक का राजा) भी तिनके के समान तुच्छ प्रतीत होता है क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा उस अवस्था में परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

(स) माया का स्वरूप (सर्ग 119-122)

राघव! असत् शरीर में जो अहंता की भावना है, वही परम अविद्या है, वही माया है और वही संसृति है। यह अहंता की भावना कल्पित है तथा असत् है। आत्मा में तीनों कालों की कल्पना और भावाभाव वस्तु का अभाव है। वासना युक्त चित्त जिस वस्तु को पर्याप्त रूप से जैसी भावना करता है, वह वस्तु चाहे सत् हो अथवा असत्, उसको उसी समय उसी रूप में प्रतीत होने लगती है। इस अविद्या समूह को शास्त्र एवं

सज्जनों के सम्पर्क के अतिरिक्त और किसी उपाय से पार नहीं किया जा सकता। उस सत्संग द्वारा विवेक की प्राप्ति होने से पुरुष को यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है, तब वह 'शुभेच्छा' नाम की ज्ञानभूमि में अवतीर्ण होता है। तदन्तर वह क्रमशः विचारणा तनुमानसा, सत्त्वापत्ति नाम की ज्ञान भूमि में पहुँचता है। तब वासना का विनाश हो जाने के कारण वह 'असंसक्त' कहलाने लगता है और कर्मफल के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसके बाद पदार्थाभावना में पहुँच कर वह 'तुर्यगा' को प्राप्त होता है, तब वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष न तो प्राप्त हुई वस्तु का अभिनन्दन करता है, न अप्राप्त के लिए चिन्ता। वह जो कुछ सामने उपस्थित हो जाता है, उसी का निःशंक होकर अनुवर्तन करता है।

रघुनन्दन! तुम संपूर्ण कार्यों की वासना से रहित हो, इसलिए तुम सबके अन्दर वर्तमान जानने योग्य ब्रह्म में स्थित हो। अतः तुम चाहे संसार के कल्याण के लिए शास्त्र विहित कर्म करते रहो, चाहे एकान्त में ध्यान समाधि में स्थित रहो। श्री राम! आत्मा न तो प्रकट होता है, न विलीन ही। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का विनाश नहीं होता। यह आत्मा अद्वितीय है। फिर ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसकी वह अभिलाषा करेगा। तब तक इस माया का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता तभी तक यह बड़े-बड़े मोहों में डालती रहती है। किन्तु यह माया है-इस प्रकार वास्तविक ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। उसका ज्ञान हो जाने पर इस मिथ्या जगत् का ज्ञान हो जाता है। संकल्पों के पूर्ण रूप से क्षय हो जाने के कारण जब चित्त विलीन हो जाता है, तब साँसारिक मोह

रूपी तुषार नष्ट हो जाता है।

॥ उत्पत्ति प्रकरण सम्पूर्ण ॥

''भोग की इच्छा मात्र ही बन्ध है और
उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है।''

अध्याय : 19

4. स्थिति प्रकरण

विवेक से ही मोक्ष प्राप्ति

(सर्ग 1-22)

(अ) यह जगत् स्मृति मात्र है (सर्ग 1-3)

श्री राम! जगत् रूप से स्थित यह दृश्य-प्रपंच यद्यपि ब्रह्म से अभिन्न है, तथापि जल में पड़े भँवर की भाँति ब्रह्म में अन्य सा स्थित लक्षित होता है। यह रस रहित होते हुए भी सरस प्रतीत होता है। यह वास्तव में नहीं होते हुए भी प्रत्यक्ष दीखता है, वह रसात्मक होता हुआ भी परिणाम में अत्यन्त कटु है, और उसके उत्पत्ति-विनाश होते रहते हैं।

ज्ञानवानों में श्रेष्ठ राम! यदि जगत् ब्रह्म में अंकुर रूप से विद्यमान है तो बताओ वह प्रलयकाल के पश्चात् किन सहकारी कारणों से उत्पन्न हो सकता है क्योंकि बिना सहकारी कारण के अंकुर की उत्पत्ति देखी नहीं गई। सृष्टि के आदि में निराकार ब्रह्म ही सृष्टि रूप से अपने स्वरूप में स्थित होता है अत: वहाँ जन्म-जनक का सम्बन्ध कहाँ से घट सकता है। इसलिए श्री राम! यह जगत् न तो था न होगा ही। (ब्रह्म में जगत् का तीनों कालों में अभाव है) जगत् के अत्यन्ताभाव से ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यदि जगत् प्रतीत

होता है तो यह ब्रह्म है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस दृश्य रूप जगत् का अत्यान्ताभाव ही दृश्यता की शान्ति का एकमात्र उपाय है। ये सृष्टियाँ न उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है, तथा न आती है, न जाती है केवल प्रतीत होती हैं।

श्री राम! सर्ग के आदि में सर्वप्रथम ये प्रजापति स्मृति रूप से ही प्रकट होते हैं, अतः उनका संकल्पभूत यह जगत् भी स्मृतिभूत ही है।

(ब) मन ही जगत् का कारण है (सर्ग 4-16)

श्री राम! यह मन ही कर्म रूपी वृक्ष का अंकुर है उस मन के नष्ट हो जाने पर कर्म रूपी शरीर वाला संसार वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। सब कुछ मन ही है। इस मन की चिकित्सा हो जाने पर जगज्जाल रूपी सारी व्याधियों की चिकित्सा हो जाती है। यह मन ही सब देहाकार का मनन करता है, तब लोक में कर्म करने में समर्थ देह उत्पन्न होती है। भला, कहीं मन से भिन्न भी देह देखी जाती है? विषयों के चिन्तन से वृद्धिगत हुए मन में यह सारा जगत् स्फुरित होता है। मन ही जगत् है तथा सम्पूर्ण जगत् ही मन है। ये दोनों एक साथ रहते हैं।

(सर्ग-17)

रघुनन्दन! समस्त एषणाओं की शान्ति हो जाने पर विशुद्ध चित्त पुरुष की जो स्थिति है, उसी को सत्य आत्म तत्त्व कहा गया है और उसी को निर्मल चैतन्य कहते हैं। निर्मल-सत्त्व-स्वरूप मन जिस वस्तु के विषय में जैसी भावना करता है, वह वस्तु तत्काल वैसी ही हो जाती है। चित्त की सत्ता ही जगत् है और जगत् की सत्ता ही चित्त है। एक के अभाव से

दोनों का अभाव हो जाता है। जो संकल्पों से आक्रान्त नहीं है, ऐसे चित्त से ज्ञान का उदय होता है। वासना से रहित होना ही चित्त की शुद्धि है, जगत् के ज्ञान से शून्य और एक ब्रह्माकार होना ही उसका वासना से रहित होना है। चित्त की शुद्धि होने से पुरुष शीघ्र ही प्रबुद्ध (ज्ञान सम्पन्न) हो जाता है। चित्त का चिन्मय परमात्मरूप में लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है। इस शुद्धि का लाभ होते ही प्रबुद्ध पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

(स) मन की भिन्नता से ही जीवों में भिन्नता

(सर्ग-18)

रघुनन्दन! एक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान जो मनोराज्य है, उसे देखने या भोगने आदि में दूसरे व्यक्ति का मन सफल नहीं होता। उस मन के भेद से ही जीवों के भी भेद होते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न मन हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न जीव भी हैं।

(द) भ्रम निवारण से ही आत्म बोध

सार वस्तु ब्रह्म है, उसी पर विचार करना उचित है। असार वस्तु (दृश्य संसार) के विचार से क्या लाभ? बीज अपने स्वरूप का त्याग करके अंकुर आदि के क्रम से फल रूप में परिणत होता देखा जाता है, परन्तु ब्रह्म वैसा नहीं है। वह अपने स्वरूप का त्याग किये बिना ही जगत् रूप अध्यारोप का अधिष्ठान रूप से कारण होता है। बीज का अवयव आदि सब कुछ साकार है, अतः उससे निराकार परम पद रूप ब्रह्म की तुलना करना उचित नहीं है। इसलिए कल्याण स्वरूप ब्रह्म के लिए कोई उपमा सम्मत ही नहीं हो सकती। जिसकी बुद्धि

प्रपंच से आक्रान्त हो, ऐसे किसी पुरुष को अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान नहीं होता। जैसे नेत्र बहिर्मुख होने के कारण अपने आपको नहीं देख पाता, उसी प्रकार दृष्टा बहिर्मुख होने के कारण अपने स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता। यदि दृश्य प्रपंच को ही सत्य समझ लिया जाय तो ब्रह्म कभी नहीं मिल सकता। जिसे दृश्य ही दिखाई देता है उसे दृष्टा का दर्शन नहीं होता।

(य) विवेक से ही मोक्ष लाभ

जिस पुरुष के भीतर यह विचार नहीं उठता कि मैं कौन हूँ, और यह जगत् क्या है, वह संसार के बन्धन से मुक्त नहीं हुआ। जिस विशुद्ध बुद्धि वाले पुरुष की भोग लिप्सा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवान् का ही विवेकयुक्त विचार सफल होता है। जिस प्रकार शरीर के द्वारा पथ्य-भोजन आदि नियमों के साथ सेवन किया हुआ औषध ही आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार जितेन्द्रियता का अभ्यास हो जाने पर ही विवेक सफल होता है। जैसे स्पर्श से ही वायु की सत्ता का भान होता है, कथन मात्र से नहीं, उसी प्रकार भोगेच्छा के क्षीण होने से ही पुरुष का विवेक जाग्रत होता है। चित्रलिखित अमृत, अमृत नहीं है, चित्रलिखित अग्नि अग्नि नहीं है। चित्रलिखित नारी नारी नहीं है, उसी प्रकार कथन मात्र का विवेक विवेक नहीं है, वास्तव में अविवेक ही है। विवेक से पहले राग द्वेष का समूल नाश हो जाता है। तत्पश्चात् विषय भोगों के लिए प्रयत्न सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिस पुरुष में विवेक जाग्रत है वही परम पवित्र है।

(र) उपासनाओं का फल (सर्ग-19)

श्री राम! जो जीव अपनी सिद्धि के लिए जैसे-जैसे प्रयत्न करते हैं, उन विविध उपासनाओं के क्रम से वे वैसे ही वैसे हो जाते हैं। देवताओं की पूजा करने वाले देवताओं को, यक्षों की आराधना करने वाले यक्षों को और ब्रह्म के उपासक ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इनमें जो सर्वोत्तम है, उसी परमात्म रूप इष्ट देव का आश्रय लेना चाहिए।

(ल) जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था

रघुनन्दन! जिसकी प्रतीति स्थिर हो, उसे 'जाग्रत' कहते हैं और जिसकी प्रतीति स्थिर नहीं उसे 'स्वप्न' कहा जाता है। यदि जाग्रत भी कालान्तर में स्थित नहीं है तो वह स्वप्न ही है।

(व) मन के अनुसार फल प्राप्ति (सर्ग 20-22)

दृढ़ निश्चय से युक्त चित्त जिस वस्तु की बारम्बार भावना करता है, उसी के आकार को प्राप्त हो जाता है। मन, मोह का जनक और जगत् की स्थिति का कारण है। मलीन मन ही व्यष्टि और समष्टि रूप से इस जगत् की कल्पना करता है। मन से ही कर्म की उत्पत्ति हुई है और मन की उत्पत्ति में भी कर्म को ही बीज (कारण) बताया गया है। दोनों की सत्ता एक दूसरे से भिन्न नहीं है। जैसे अन्धा सूर्य को नहीं देखता वैसे ही अविद्या से अपहृत हुए लोग कल्याण को प्राप्त नहीं होते। जीव को अपनी कल्पना से ही भाव, अभाव, शुभ और अशुभ क्षण भर में उत्पन्न हो जाते हैं और क्षण बर में मिट जाते हैं। समस्त पदार्थ समूह भाव के अनुसार ही फल देने

वाले हैं। रघुनन्दन! यह सत्य ब्रह्म ही है, ऐसा मन में निश्चय करके तुम अपनी बुद्धि के द्वारा उसका अपने आप में ही अनुभव करो। मैं ही वह परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव करो।

(ष) बोध से ही आत्म तत्व की प्राप्ति

रघुनन्दन! जो नित्यानित्य वस्तु के विवेक से सम्पन्न है, जिसके चित्त की वृत्तियाँ परमात्मा में विलीन होती जा रही हैं, जो संकल्पों का त्याग कर रहा है, जो जड़ दृश्य का परित्याग कर रहा है, जो दृष्टा परमात्मा का अनुभव कर रहा है, जो परमात्म तत्त्व में जाग रहा है तथा संसार से सोया हुआ है, जो भोगों से विरक्त है, कामनारहित है–ऐसे अधिकारी पुरुष का अज्ञान विगलित हो जाता है। तीव्र वैराग्य से संसार वासना रूपी जाल टूट जाता है और दृश्य की गाँठे ढीली पड़ जाती है तब अन्त:करण विशुद्ध होकर निर्मल हो जाता है। मन के शांत होने पर समदर्शिता का उदय होता है।

अध्याय : 20

मनोनिग्रह के उपाय

(सर्ग 23-38)

(अ) जिज्ञासु ही ब्रह्म उपदेश का अधिकारी है, मूढ़ और ज्ञानी नहीं (सर्ग 23-32)

जिसे जगत् की सत्यता का पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है। उस अत्यन्त मूढ़ पुरुष के प्रति यदि जगत् की असत्यता का प्रतिपादन किया जाय तो वह उपदेश उसके मन को अच्छा नहीं लगता। परमात्म तत्त्व के अभ्यास किये बिना जगत् की सत्यता के अनुभव का निराकरण नहीं हो सकता। इस संसार में किसी का भी जो निश्चय अन्त:करण में जड़ जमाकर सुदृढ़ हो गया है, वह शास्त्रोक्त परमार्थ तत्त्व का अभ्यास किये बिना कदापि नष्ट नहीं होता। जो अनधिकारी के प्रति ऐसा उपदेश देता है कि यह जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है, उस पुरुष को उन्मत्त के समान समझकर इस जगत् के उन्मत्त और मूढ़ मनुष्य उसकी पूरी हँसी उड़ाते हैं। अज्ञानी को कितने ही यत्न से क्यों न समझाया जाये, उसे बाहर भीतर जो संसार की सत्यता का अनुभव हो रहा है, उसका वह ब्रह्म में बोध नहीं कर सकता। अध्यस्त वस्तु का बोध किये बिना अधिष्ठान तत्त्व का बोध नहीं हो सकता। इसलिए उसे बोध का उपदेश देना व्यर्थ है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है–ऐसा उपदेश उस मनुष्य के प्रति देना उचित नहीं है

जो अत्यन्त अज्ञानी है। श्री राम! जिसको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है, उस पुरुष के प्रति ही यह उपदेश-वाणी सफल होती है। जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी है वह भी उपदेश देने के योग्य नहीं है क्योंकि उसके पास विचार करने को कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी ही, वही जिज्ञासु इस उपदेश का अधिकारी है।

(ब) सदाचार से लाभ

जो उदारचेता पुरुष त्रिलोकी के वैभव को भी सदा तृण के तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियाँ इस तरह छोड़ देती हैं, जैसे साँप अपनी केंचुली को। अपार विपत्ति पड़ने पर भी कभी कुमार्ग में पैर नहीं रखना चाहिए; क्योंकि राहु अनुचित मार्ग से अमृत पीने का प्रयत्न करने के कारण ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलने वाले उत्तम पुरुषों का आश्रय लेते हैं, वे फिर कभी मोहरूपी अन्धकार के वशीभूत नहीं होते। जिसने शम, दम आदि गुणों के द्वारा यश प्राप्त किया है, वश में न आने वाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसको अक्षय कल्याण की प्राप्ति होता है जिनका गुणों के विषय में संतोष नहीं है, जिनका शास्त्रों के प्रति अनुराग है, तथा जिन्हें सत्य पालन का स्वाभाविक अभ्यास है, वे ही वास्तव में पुरुष है। इनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग है, वे पशुओं की श्रेणी में है। शास्त्र के अनुसार कार्य करने वाले पुरुष को सिद्धियों के लिए उतावली नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चिरकाल तक परिपक्व हुई सिद्धि ही पुष्ट एवं उत्तम फलों को देने वाली होती है। संसार सागर को पार करने के लिए सत्पुरुषों के संग और

सेवा के बिना तप, तीर्थ तथा शास्त्राभ्यास आदि कोई भी साधन सफल नहीं होते।

(स) अहंकार त्याग से ही मोक्ष प्राप्ति (सर्ग-33)

यह मिथ्या कल्पित अहंकार दूषित अन्तःकरण में अनन्त संसार बन्धन में डालने वाले मोह को जन्म देता है। जिस नराधम को अहंकार रूपी पिशाच ने पकड़ लिया है, उसके उस पिशाच को मार भगाने के लिए विवेक के बिना न कोई शास्त्र समर्थ है न मन्त्र। रघुनन्दन! आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निरन्तर स्मरण करने से अहंकार नहीं बढ़ता। श्री राम! इस त्रिलोकी में तीन प्रकार के अहंकार होते हैं। इनमें दो प्रकार के अहंकार तो श्रेष्ठ है किन्तु तीसरा त्याज्य।

'मैं ही सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं'-इस तरह का जो अहंकार है, उसे उत्तम समझना चाहिए। यह अहंकार जीवन मुक्त पुरुष की मोक्ष प्राप्ति के लिए है। यह बन्धन में डालने वाला नहीं होता।

'बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े करने पर जो सौवाँ हिस्सा होता है, उसी के समान मुझ जीवात्मा का सूक्ष्म स्वरूप है, अर्थात् मैं अवयव से रहित हूँ, अतएव सबसे भिन्न हूँ।' इस प्रकार का जो अनुभव है वही दूसरा शुभ अहंकार है, वह भी साधक के मोक्ष के लिए ही है, बन्धन के लिए नहीं। उपर्युक्त अहंकार के नाम से केवल कल्पना होती है, वास्तव में वह नहीं है।

यह हाथ पैर आदि से युक्त शरीर ही मैं हूँ, इस प्रकार का जो मिथ्या अहंकार है वही तीसरा अहंकार है। वह लौकिक

एवं तुच्छ ही है। उस दुष्ट अहंकार को त्याग ही देना चाहिए क्योंकि वह सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। प्रथम दो अहंकार अलौकिक हैं। उन दोनों को अंगीकार करके तीसरे लौकिक अहंकार का, जो दुःख देने वाला है, त्याग कर देना चाहिए। यदि पूर्वोक्त दोनों अहंकारों को भी त्याग करके सम्पूर्ण अहंकारों से रहित हो जाय तो वह परमात्मभाव में शीघ्र ही आरुढ़ हो जाता है।

(द) भोगेच्छा का त्याग (सर्ग 34-35)

श्री राम! सब प्रकार के दुःखों को प्राप्त कराने वाले इस संसार के दुःख के निवारण करने का एकमात्र उपाय यही है कि अपने मन को वश में किया जाय। भोग की इच्छा मात्र ही बन्धन है और उसका त्याग मोक्ष कहलाता है। वासना से आवृत्त हुई बुद्धि केवल दोषों को ही जन्म देती है। जिसमें वासना समूह का कोई लगाव नहीं है, अतएव जहाँ राग और द्वेष नहीं देखे गए हैं, वह चांचल्य रहित बुद्धि धीरे-धीरे शांति को प्राप्त हो जाती है। शुभ बुद्धि दोष रहित, शुभ एवं उत्तम गुणों को ही सदा प्रकट करती है। जब शुभ भावों के अनुसंधान से मन शुद्ध हो जाता है और धीरे-धीरे मिथ्या ज्ञानरूपी मेघ शान्त हो जाते हैं और पुण्यमय विवेक का प्रसार हो जाता है, धैर्य की वृद्धि होती है तथा मन निर्द्वन्द्व, निष्काम और उपद्रव शून्य हो जाता है। उसके चपलता रूपी अनर्थ तथा शोक, मोह और भय रूपी रोग शान्त हो जाते हैं। इसको सभी साँसारिक, पदार्थों को देखने की उत्कण्ठा का अभाव हो जाता है, उसकी कल्पनाओं के जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वह मोह रहित एवं वासना शून्य हो जाता है, उसमें आकाँक्षा,

परनिन्दा, अपेक्षा और दुश्चिन्ता का अभाव हो जाता है। वह शोक और आसक्ति शून्य होता है तथा उसके हृदय की अज्ञान की गाँठे खुल जाती है।

(य) आत्मबोध का महत्त्व

विशुद्ध आत्मा न तो संसारी पुरुष है, न शरीर है, न रुधिर ही है। शरीर आदि सब जड़ है किन्तु आत्मा आकाश के समान निर्लेप है। यह जीवात्मा मन में विकल्प वासनाओं का प्रसार करके अपने बन्धन के लिए सुदृढ़ जगत् रूप जाल की रचना कर लेता है। जीवात्मा के मन में जैसी वासना होती है, वैसा ही शरीर उत्पन्न होता है। जीवात्मा का चित्त जैसी वासना लेकर सोता है, रात को स्वप्न में वैसा ही बनकर रहता है। महती शुभ वासना से मनुष्य का चित्त महान् होता है तथा क्षुद्र वासना से वासित हुआ चित्त तुच्छ क्षुद्रता को देखता है। पिशाच नाम का भ्रम होने से मनुष्य रात को स्वप्न में पिशाचों को ही देखने लगता है। दरिद्रता आदि से पीड़ित होने पर भी उद्योगशील श्रेष्ठ पुरुष उदारगति का परित्याग नहीं करता।

वास्तव में न तो यहाँ बन्धन है और न मोक्ष है, न बंधन का अभाव है, न बन्धन की सत्ता ही है। इन्द्रजाल लता की भाँति यह झूठी माया ही प्रकट हुई है। बन्धन और मोक्ष की अवस्थाओं से तथा द्वैत और अद्वैत से रहित यह सम्पूर्ण विज्ञानानन्दमयी ब्रह्म सत्ता ही है-ऐसा निश्चय ही परमार्थ है। यह जगत् परमात्मा का स्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान हुए बिना यह दृश्य जगत् दुःख देने वाला ही होता है, और यदि वैसा ज्ञान हो गया तो यह दृश्य मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। जल और तरंग भिन्न हैं इस प्रकार अनेकता और भिन्नता का बोध

अज्ञान है। जल ही तरंग है, इस प्रकार एकत्व बोध से यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है। परमात्मा का तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर इस पञ्चभौतिक शरीर के रहने या बिछुड़ने से पुरुष सुख या दु:ख से लिप्त नहीं होता। चित्त के सर्वथा विगलित हो जाने पर अपने दोषों का त्याग करके धीर हुई बुद्धि से युक्त पुरुष मृत्यु और जन्म होने पर प्राप्त होने वाली पारलौकिक और एहलौकिक नीरस गतियों पर दृष्टिपात करके विवेक-विचार द्वारा परमात्मा रूपी दीपक पाकर तापरहित हो अपने देह रूपी नगर में आनन्दपूर्वक प्रतिष्ठित होता है।

(र) चेतन आत्मा की स्थिति (सर्ग 36-37)

रघुनन्दन! जो तरंगें भविष्य में प्रकट होने वाली हैं, और अभी व्यक्त नहीं हुई हैं, वे समुद्र के जल में अभिन्न रूप से स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में भावी सृष्टियाँ सत्त्वस्वरूप परमात्मा से पृथक नहीं हैं; क्योंकि उनकी स्वत: सत्ता नहीं है, परमात्मा की सत्ता से ही उनकी सत्ता है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दृष्टि में नहीं आता, उसी प्रकार निरवयव शुद्ध चेतन परमात्मा सर्वव्यापी होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे जलमय समुद्र में जो नाना प्रकार की असंख्य. तरंगें उठती हैं, उनका यह नानात्व जल में पृथक् भाव, विकार वाला नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्मस्वरूप चिन्मय समुद्र में 'तू', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि रूप से जो प्रचुर नानात्व स्वरूप में जगत् भासित होता है वह उस ब्रह्म रूप चैतन्य सिन्धु से पृथक नहीं है। वास्तव में चेतन परमात्मा न अस्त होता है न उदित, न उठता है न खड़ा होता है या बैठता है, न आता है, न जाता

है, न यहीं है और न यहाँ नहीं है। यह निर्मल चेतन परमात्मा स्वयं अपने आप में स्थित है। वही भ्रम से प्रतीत होने वाले जगत् नामक प्रपंच के रूप में विस्तार को प्राप्त हुआ है। यह चेतन परमात्मा ही स्पन्दनभूत सृष्टि के रूप में स्फुरित हो रहा है।

(ल) ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर (सर्ग-38)

रघुनन्दन! सुख-दु:ख आदि भोग देने वाले कर्मों में या ध्यान-समाधि में तत्त्वज्ञानियों का जो यह कर्म दिखाई देता है, वह वास्तव में असत् है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। परन्तु मूर्खों का वह कर्म कर्तृत्वाभिमान के कारण असत् नहीं है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है। अन्त:करण में स्थित जो मन की वृत्ति है, उसका निश्चय अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है, इसका विश्वास वासना कहलाता है। यह वासना ही 'कर्तृत्व' शब्द से प्रतिपादित होती है। क्योंकि वासना के अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टा के अनुसार ही फल भोगता है। अत: कर्तृत्व से फल भोक्तृत्व होता है। यह सिद्धाँत है। मनुष्य कर्म करे या न करे, वह स्वर्ग या नरक में जैसी उसकी वासना होती है, वैसा ही अनुभव करता है। इसलिए जिसे तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है वे पुरुष कर्म करे या न करे, तो भी उनमें होने के कारण कर्तृत्व अवश्य है। इसके विपरीत जिन्हें तत्वज्ञान हो गया है, वे कर्म करे तो भी उनमें कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे वासना से सर्वथा शून्य है। तत्त्वज्ञानी की वासना शिथिल हो जाती है, इसलिए वह कर्म करता हुआ भी उसके फल की इच्छा नहीं करता। उसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान और आसक्ति से रहित होती है, अत:

वह अनासक्त भाव से केवल चेष्टा मात्र करता है। उसे जो भी कुछ प्रारब्ध के अनुसार कर्मों का फल प्राप्त होता है, वह उसे सारे कर्म-फल की यह आत्मा ही है-ऐसा अनुभव करता है। परन्तु जिसका मन फलासक्ति में डूबा हुआ है, वह कर्म न करके भी कर्ता ही माना जाता है। मन जो कुछ करता है वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता, वह किया हुआ नहीं होता। अतः मन ही कर्ता है, शरीर नहीं। विद्वान् लोग ज्ञानियों के मन को न तो आनन्दमय मानते हैं और न अनानन्दमय ही। उनका मन न चल है, न अचल है, न सत् है, न असत् है और न इसका मध्य ही है। बल्कि इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय ही है। ज्ञानी वासनामय चेष्टारस में नहीं मग्न होता। मूर्ख का मन तो भोगों को ही देखता है, परमार्थ तत्त्व को नहीं। तत्त्वज्ञानी की चित्तवृत्ति साँसारिक विपत्ति में भी प्रसन्न ही रहती है। चित्त के संयोग के बिना कर्म करता हुआ भी ज्ञानी अकर्ता ही है क्योंकि वह कर्म मन को लिप्त नहीं करता। जिनका मन पूर्ण आत्मा में संलग्न है, उन ज्ञानियों की दृष्टि से तो वस्तुतः संसार में मोक्ष ही है। जिनका मन आत्मा में संलग्न नहीं है, उन्हीं लोगों की दृष्टि से यह बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ है।

किन्तु वास्तव में जो न बन्धन है न मोक्ष है, न बन्धन का अभाव है और न बन्धन के कारणभूत वासना आदि ही है। परमात्म तत्त्व का ज्ञान न होने से ही यह दुःख है। यथार्थ ज्ञान से इसका लय हो जाता है।

अध्याय : 21

ब्रह्म का उपदेश और माया

(सर्ग 39-62)

(अ) 'सब ब्रह्म ही है' का उपदेश योग्य पात्र को ही देना चाहिए (सर्ग 39-40)

वशिष्ठ जी ने कहा–राजकुमार! ब्रह्म तत्त्व ही इस सारी सृष्टि के रूप में विद्यमान है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है। तत्त्व, असत्त्व, द्वित्व, एकत्व, अनेकत्व, आदित्व और अन्तत्व–ये सारे विरुद्ध प्रतीत होने वाले सारे भाव परब्रह्म में हैं परन्तु ये उससे भिन्न नहीं हैं। यह ब्रह्म चित्त का तथा चित्तस्वरूप होने के कारण कर्ममयी, वासनामयी और मनोमयी सारी शक्तियों का संचय, प्रदर्शन, धारण, उत्पादन और संहार करता है। समस्त जीवों एवं सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। जैसे लहरें समुद्र से ही उत्पन्न होकर उसी में लीन होती हैं। फलतः वे परमात्म स्वरूप ही है। यह सब निर्मल ब्रह्म ही विराजमान है, यहाँ मल नामक कोई वस्तु नहीं है। जिसकी बुद्धि पूर्ण से विकसित नहीं हुई है उसे 'सब ब्रह्म ही है' यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। भोग दृष्टि के कारण वह सदा दृश्य पदार्थों की ही भावना करता हुआ नष्ट हो जाता है किन्तु जो तत्त्व ज्ञान को प्राप्त है उस पुरुष के भीतर विषयभोग की इच्छा नहीं उत्पन्न होती। उसके लिए 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा समयोचित उपदेश भी उपयुक्त होता है।

जिसकी बुद्धि पूर्णतया विकसित नहीं है, ऐसे शिष्य को उन सद्‌गुणों द्वारा शुद्ध करे, जिनमें शम (मनोनिग्रह) और दम (इन्द्रिय निग्रह) की प्रधानता हो। तत्पश्चात् यह उपदेश दे कि यह सब कुछ ब्रह्म है तथा तुम भी विशुद्ध ब्रह्म ही हो। जो अज्ञानी को अथवा आधी समझ वाले पुरुष को 'सर्व ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है) का उपदेश देता है, उसने मानो उस शिष्य को महान् नरक के जाल में डाल दिया है। जिसकी बुद्धि पूर्णतया विकसित है, जिसकी भोगेच्छा नष्ट हो गई है, और कामना सर्वथा मिट गई है, उस महात्मा में अविद्या रूपी मन नहीं है। अतः उसी के लिए 'सर्व ब्रह्म' का उपदेश देना उचित है। जो शिष्य की परीक्षा लिये बिना ही उसे उपदेश देता है, वह अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाला उपदेशक महाप्रलय पर्यन्त नरक को प्राप्त होता है। भूतल से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्राणियों में जो ये मनुष्य जाति के प्राणी हैं, वे आत्म ज्ञान के उपदेश के पात्र हैं।

(ब) परब्रह्म और माया (सर्ग 41-46)

श्री राम! यह जगत् अमुक निमित्त से और अमुक उपादान से उत्पन्न हुआ है, यह केवल वाणी की कल्पना है जो शास्त्रोक्त मर्यादा के निर्वाह के लिए है। वास्तव में यह ब्रह्म ही चेतन जीवात्मा है, ब्रह्म ही मन है, ब्रह्म ही बुद्धि है। यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। वास्तव में तो जगत् है ही नहीं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है।

रघुनन्दन! यह माया ऐसी है कि इसके स्वभाव का पता नहीं चलता। ज्ञान दृष्टि से देखने पर यह तत्काल नष्ट हो जाती है। यद्यपि यह असत्य ही है, तथापि इसने अत्यन्त सत्य

की भाँति अपना ज्ञान कराया है। जिसकी द्वैत भावनाओं में अहं बुद्धि है, वही दुःख के सागर में डूबता है। उसके चारों ओर अविद्या ही विद्यमान है। यथार्थ ज्ञान के बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता और वह आत्मज्ञान शास्त्र के तात्पर्य का यथार्थ बोध होने से ही प्राप्त होता है।

(स) विभिन्न योनियों में जन्म

महाबाहु राम! इस माया और अविद्या के कारण मूढ़ जीव जल में भँवर के समान तब तक चक्कर काटते रहते हैं जब तक कि उन्हें विशुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो जाता। कुछ अज्ञानी सहस्रों जन्मों का कष्ट भोगकर विवेक को प्राप्त करके भी मूर्खता के कारण उस संसार रूपी संकट में ही गिर जाते हैं। कुछ लोग उच्च कुल में जन्म और साधन की शक्ति और सुविधा को पाकर भी अज्ञान और विषयासक्ति के कारण अपनी तुच्छ बुद्धि से ही पुनः तिर्यग्योनियों को प्राप्त होते हैं और तिर्यग्योनियों से नरकों में भी गिरते हैं। कुछ महाबुद्धिमान् सत्पुरुष एक ही जन्म के द्वारा मोक्षरूप ब्रह्म पद में शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं। श्री राम! कितने ही जीव समूह तिर्यग् योनियों में जन्म लेते हैं, कितने ही देवयोनियों को प्राप्त होते हैं, कितने ही नागयोनियों को प्राप्त होते हैं। जैसे यह जगत् विशाल दिखाई देता है, वैसे ही अन्यान्य जगत् भी है, थे और भविष्य में भी बहुत से होंगे। इस ब्रह्माण्ड में लोग जिस व्यवहार से रहते हैं, उसी व्यवहार से अन्य ब्रह्माण्डों में भी रहते हैं। केवल उनकी आकृतियों में अन्तर और विलक्षणता होती है। जैसे जलराशि समुद्र में अनन्त लहरें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी

प्रकार इस परमपद स्वरूप परमात्मा में यह तीनों लोकों की रचना आदि मोह माया व्यर्थ ही विस्तार को प्राप्त हो अनवरत बढ़ती, परिणाम को प्राप्त होती और विनष्ट होती रहती है।

(द) ब्रह्माण्ड उत्पत्ति की परम्परा (सर्ग-47)

श्री राम! इस ब्रह्माण्ड में तथा दूसरे-दूसरे विचित्र ब्रह्माण्डों में भी बहुत से विचित्र आचार-व्यवहार वाले सहस्त्रों प्राणी विचरते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य समयों में उत्पन्न होने वाले अनन्त भुवनों में दूसरे-दूसरे प्राणी एक ही समय अधिक संख्या में उत्पन्न होंगे। उन ब्रह्माण्डों में उन ब्रह्मा आदि देवताओं की उत्पत्तियां विचित्र-सी हुई बताई गई हैं। महासर्ग के आरम्भ काल में कभी तो ब्रह्मा कमल से उत्पन्न होते हैं, कभी जल से, कभी अण्ड से और कभी आकाश से प्रार्दुभूत होते हैं। विभिन्न सृष्टियों में कोई भूमि केवल मिट्टी के रूप में प्रकट हुई, तो कोई पथरीली थी, कोई सुवर्णमयी थी और कोई ताम्रमयी थी। इस ब्रह्माण्ड में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कितने ही आश्चर्यमय जगत् हैं। ये संसार की सृष्टियाँ उत्पन्न और नष्ट होने वाली सृष्टि परम्पराएँ परमात्मा में कबसे आरम्भ हुई। ये सृष्टियाँ पूर्व से पूर्व काल में थीं और उससे भी पहले विद्यमान थीं। इस प्रकार अनादि काल से इसकी परम्पराएँ चल रही है। भविष्य में होने वाली अन्य सृष्टि परम्पराएँ भी परब्रह्म परमात्मा में स्थित है।

फिर सतयुग, फिर त्रेता, फिर द्वापर और फिर कलियुग- इस प्रकार सारा जगत् घूमते हुए चाक की तरह बारम्बार आता-जाता रहता है। जैसे प्रत्येक प्रातःकाल के बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः मन्वन्तरों के आरम्भ होते हैं। एक

के बाद पुनः दूसरे कल्पों की परम्पराएँ चलती है और बारम्बार कार्यावस्थाएँ प्राप्त होती रहती हैं। परब्रह्म परमात्मा में कभी यह जगत् व्यक्त और कभी अव्यक्त होता है। यह सब दृश्य पुनः-पुनः प्रकट होता है, बार-बार जन्म और मरण होते रहते हैं, सुख-दुःख, कारण और कर्म भी बारम्बार हुआ करते है। दिशाएँ, आकाश, समुद्र और पर्वत भी बारम्बार उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि प्रकट रूप से पुनःपुनः चक्र की भाँति चलती रहती है। फिर दैत्य और देवता जन्म लेते हैं, पुनः लोक लोकान्तरों के क्रम प्रकट होते हैं, फिर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टाएँ चालू होती है तथा पुनः इन्द्र और चन्द्रमा का आविर्भाव होता है। अनेकानेक दानव भी बारम्बार जन्म लेते हैं तथा बारम्बार सम्पूर्ण दिशाओं में मनोहर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण एवं वायु का संचार होता रहता है। काल रूपी कुम्हार नाना प्रकार के प्राणी रूप प्यालों को बनाने के लिए पुनः बड़े वेग से निरन्तर कल्प नामक चाक को चलाने लगता है।

(य) कच का उपाख्यान (सर्ग 56-62)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! इसी प्रसंग में वृहस्पति के पुत्र कच ने जो पवित्र गाथाएँ गाई थीं, उनका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। एक बार मेरु पर्वत के किसी वन प्रान्त में देवगुरु वृहस्पति के पुत्र कच ब्रह्म विचार में तत्पर होकर रहते थे। वहाँ उन्होंने सुनी हुई ब्रह्मविद्या का बारम्बार मनन और निदिध्यासन करके आत्मा में परम शाँति प्राप्त कर ली थी। उनकी बुद्धि परमात्मा के यथार्थ ज्ञानरूपी अमृत से परिपूर्ण थी। उन्होंने ये उद्‌गार प्रकट किये-

अहो! जैसे महाप्रलय के जल से समस्त संसार भरा रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व परमात्मा से परिपूर्ण है। ऐसा मुझे अनुभव हो गया कि यह सब परमात्मा ही है। इससे मेरे सारे दु:ख नष्ट हो गये हैं। सभी जगह परमात्म स्थित है। सब कुछ परमात्ममय ही है। मैं सदा परमात्मस्वरूप हूँ।

श्री राम! संसार में उत्पन्न हुए जो-जो पुरुष केवल सात्त्विक भाव से सम्पन्न होते हैं, वे फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करते-सर्वथा मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो सत्त्वगुण प्रधान राजस प्रकृति के पुरुष है, उनका इस जगत् में जन्म लेना संभव है। जो परमात्मा से अधिकार प्राप्त करके प्रधान रूप से यहाँ आते हैं, ऐसे महान् गुणशाली पुरुष संसार में दुर्लभ हैं।

॥ स्थिति प्रकरण सम्पूर्ण ॥

''अज्ञान ही पाप कहलाता है, और उसका नाश विवेकपूर्वक विचार करने से होता है।''

अध्याय : 22

5. उपशम प्रकरण

परमात्म प्राप्ति से ही दुःखों का अन्त

(सर्ग 1-12)

(अ) अज्ञान ही दुःखों का कारण है (सर्ग 1-7)

रघुनन्दन! शास्त्रों के अभ्यास, साधु पुरुषों के संग, तथा सत्कर्मों के अनुष्ठान से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हीं पुरुषों के अन्तःकरण में प्रज्वलित दीपक के समान सार वस्तु का दर्शन करने वाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न होती है। स्वयं ही विवेक विचार द्वारा अपने स्वरूप की पर्यालोचना करके जब तक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जाता, तब तक ज्ञेय वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। जो वस्तु आदि और अन्त में भी नित्य है, वही सत्य है, दूसरी नहीं। आदि और अन्त में भी जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी मिथ्या वस्तु में जिसका मन आसक्त होता है, उस मूढ़ पशुतुल्य जन्तु के हृदय में किस उपाय से विवेक पैदा किया जा सकता है। जिसने विवेक-विचार के द्वारा जानने योग्य वस्तु को जान लिया है उस पुरुष की बुद्धि उसी सारी मानसिक चिन्ताओं को उसी तरह शान्त कर देती है, जैसे स्थिर जल बालू के कणों को नीचे दबा देता है। जिस पुरुष ने तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया है,

उसका मन यदि मोहग्रस्त होता हो तो हो, किन्तु जिसे सार तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो चुका है, उसमें तो मूढ़ता की संभावना ही नहीं है–यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। जगत् के लोगों! जिसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह आत्मा ही तुम्हारे दु:खों की सिद्धि का कारण है। यदि उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह तुम्हें अक्षय सुख एवं शांति दे सकता है। मनुष्यों! जिसने आत्मा पर आवरण डाल रखा है, ऐसे शरीर से मिले-जुले हुए से अपने आत्मा का विवेक द्वारा साक्षात्कार करके तुम लोग शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मानवों! जैसे कीचड़ में गिरे होने पर भी सोने का उस कीचड़ के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार इस निर्मल आत्मा का देह के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। प्रबुद्ध हुआ मन जब अपनी पारमार्थिक स्थिति को मिथ्याभूत प्रपंच से पृथक करके देखता है, तब हृदय का अज्ञानान्धकार उसी प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्योदय होने पर रात्रि का अँधेरा दूर हो जाता है। जैसे आकाश में निर्मल होने पर भी उसमें मलिनता की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में सुख-दु:ख का अनुभव मलिन बुद्धि वृत्ति रूप अज्ञान के कारण ही होता है। सुख और दु:ख न तो जड़ देह के धर्म हैं और न सर्वातीत विशुद्ध आत्मा के। ये अज्ञान के कारण ही अज्ञानी के अनुभव में आते हैं और यथार्थ ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाने पर किसी के भी अनुभव में नहीं आते। रघुनन्दन! वास्तव में न तो किसी को कुछ सुख है और न किसी को कुछ दु:ख ही है। सबको शान्त, आत्मस्वरूप ही देखो। सच्ची बात यह है कि एकमात्र ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

रघुनन्दन! आत्मा और जगत् न तो एक है और न अनेक ही है, क्योंकि जगत् असत् है अर्थात् ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई वस्तु न होने से द्वैत भी नहीं है तथा ब्रह्म से संसार पृथक कोई वस्तु न होने से द्वैत भी नहीं है तथा ब्रह्म से संसार पृथक दीखता है, इसलिए एक भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में अज्ञान के कारण अज्ञानी को बिना हुए यह संसार प्रतीत हो रहा है। यह सब निश्चय ही ब्रह्म है। इस प्रकार सब परमात्मा ही है। मैं पृथक हूँ और यह जगत् मुझसे पृथक है, इस सम्पूर्ण कल्पना का परित्याग करो। इस परमात्मा में न शोक है, न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्म लेने वाला ही है। यहाँ जो है वही है–ऐसा निश्चय करके तुम दुःख–सुख आदि द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्त्व में स्थित, योग क्षेम रहित, अद्वितीय, शोक शून्य और संतापहीन हो जाओ। परम सुन्दर राम! यहाँ कर्मों का न तो त्याग उचित है, और न उनमें राग होना ही उचित है।

(ब) वासना शून्य होने से ही मुक्ति

श्री राम! मैं समस्त व्यवहार को वासना शून्य होकर करता हूँ। इस प्रकार जो पुरुष कर्तव्य बुद्धि से कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह मुक्त है, ऐसी मेरी मान्यता है। मानव शरीर का आश्रय लेकर भी कोई मूढ़ पुरुष सकाम भाव से कर्मो में रत है, इसलिए वे स्वर्ग से नरक में और नरक से पुनः स्वर्ग में आते जाते रहते हैं। कुछ लोग, न करने योग्य कर्मों में आसक्त है और करने योग्य कर्तव्य से विरत है, ऐसे पुरुष मरकर नरक से नरक को, दुःख से दुःख को और भय से भय को प्राप्त होते रहते हैं। उनमें से कितने ही जीव अपने वासना रूप

तंतुओं से बँधे रहकर उपर्युक्त कर्मों के फल भोगते हुए तिर्यग् योनि से स्थावर योनि को और स्थावर योनि से तिर्यग् योनि को आते-जाते रहते हैं। कोई कोई ही मन के साक्षी आत्मा का विचार के द्वारा अनुभव करके तृष्णा रूपी बन्धन को तोड़कर परम कैवल्य रूप पद को प्राप्त होते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष धन्य है। जो पुरुष समस्त कार्यों को कर्तव्य-बुद्धि से करता रहता है तथा उन कार्यों के फल के पुष्ट या नष्ट होने पर सब कार्यों में समभाव रखता हुआ हर्ष और शोक के वशीभूत नहीं होता, उसके भीतर सारे द्वन्द्व उसी तरह मिट जाते हैं, जैसे दिन में अन्धकार।

(स) राजा जनक को सिद्धों का उपदेश-सिद्ध गीता (सर्ग-८)

श्री राम! विदेह देश में जनक नाम से प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे जिनकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं और सम्पत्तियाँ दिनों दिन बढ़ रही थीं। वे बड़े उदार व दानी थे। एक दिन वे किसी उपवन में गये थे। वहाँ एक कुंज में कुछ सिद्ध पुरुष बैठे हुए थे जो दूसरों को दिखाई नहीं देते थे। उनके मुख से कुछ उपदेशात्मक गीत निकले। राजा ने उन गीतों को सुना जो इस प्रकार थे-

''वासना रहित दृष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटि को त्याग देने पर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञान के रूप में प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्मा की हम उपासना करते हैं।''

''अस्ति और नास्ति-इन दोनों पक्षों के बीच में उनके साक्षी रूप में जो सदा विद्यमान है, प्रकाशनीय वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले उन परमात्मा की हम उपासना करते

हैं।''

''जिसमें सब है, जिसका सब है, जिसके लिए यह सब है जिसके द्वारा सब है तथा स्वयं ही सब कुछ है, उस परम सत्य आत्मा की हम उपासना करते हैं।''

''जो हृदय गुफा में विराजमान दीप्तिमान परमेश्वर को छोड़कर दूसरे का आश्रय लेते हैं, वे हाथ में आए हुए कौस्तुभमणि को त्याग कर दूसरे तुच्छ रत्नों की इच्छा करते हैं।''

''जो दुर्बुद्ध पुरुष भोग्य पदार्थों की अत्यन्त नीरसता को जानकर भी उनमें बारम्बार अपने मन की भावना को बाँधता है, वह मनुष्य नहीं गधा है।''

''उपशम या शान्ति के पवित्र सुख को प्राप्त करना चाहिए; जो उत्तम शम (मनोनिग्रह) से सम्पन्न है, उस पुरुष का विशुद्ध चित्त की शान्ति को प्राप्त होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसी को अपने परमानन्दमय स्वरूप में दीर्घ काल के लिए उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है।''

(द) राजा जनक का विचार करना (सर्ग 9-11)

रघुनन्दन! उन सिद्धगणों के मुख से निकले हुए उन उपदेशात्मक गीतों (वचनों) को सुनकर राजा शीघ्र ही निर्वेद को प्राप्त हो गये। वे अनासक्त भाव से न्यायतः प्राप्त हुए कर्तव्य कर्म का सम्पादन करने के लिए उठे। फिर उन्हें मोह नहीं हुआ, उनके मन में ममता और आसक्ति नहीं जागी। वे विक्षेप रहित एवं शान्तभाव से स्थिर रहे। तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्य जगत् को मन से ग्रहण किया और न उसका त्याग ही किया। वे परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से निपुण हो जीवन्मुक्त

हो गये। राजा जनक को पाने योग्य परब्रह्म परमात्म रूप वस्तु की पूर्णतया प्राप्ति हो गई।

(य) विशुद्ध बुद्धि (प्रज्ञा) से ही परमात्म प्राप्ति

(सर्ग-12)

रघुनन्दन! चित्त से तब तक परमात्म तत्त्व का विचार करते रहना चाहिए जब तक परमात्मा का यथार्थ ब्रह्मरूप फल प्राप्त न हो जाय। महापुरुषों के संग से निर्मलता पूर्वक अभ्युदय को प्राप्त हुए चित्त के विवेकपूर्ण शुद्ध विचार से जो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न तो गुरु के उपदेश से, न शास्त्रार्थ से और न पुण्य से ही प्राप्त होता है। अपने विवेक के तुल्य स्थिर, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धि से जो उत्तम पद प्राप्त होता है, वह दूसरी किसी क्रिया से नहीं होता। तीक्ष्ण और विशुद्ध प्रज्ञा से युक्त पुरुष दूसरों की सहायता तथा शास्त्राभ्यास के बिना भी संसार समुद्र से अनायास ही पार हो जाता है। शास्त्रों के अभ्यास और सत्पुरुषों की संगति से पहले प्रज्ञा को बढ़ाना चाहिए अर्थात् बुद्धि को तीक्ष्ण एवं पवित्र बनाना चाहिए। निष्काम कर्मरूपी वृक्ष परमात्मा की प्राप्ति रूप फल को उत्पन्न करता है। लोग धन सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों के उपार्जन के लिए जैसा प्रयत्न करते हैं, वही यत्न पहले विशुद्ध बुद्धि की अभिवृद्धि के लिए करना चाहिए। बुद्धि की मन्दता समस्त दुःखों की चरम सीमा है, विपत्तियों का सबसे बड़ा भंडार है, और संसार रूपी वृक्षों का बीज है; अतः उसका यत्नपूर्वक विनाश करना चाहिए।

श्री राम! न दानों से, न तीर्थों से और न तपस्या से ही भयंकर संसार को पार किया जा सकता है। केवल पवित्र एवं

अविचल बुद्धि रूपी जहाज का आश्रय लेने से ही उसके पार पहुँचा जा सकता है। पृथ्वी पर विचरण करने वाले मनुष्यों को भी जो दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह शुद्ध एवं अविचल प्रज्ञारूपी लता से उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। विवेकी पुरुष के हृदय रूपी कोशागार में स्थित यह पवित्र प्रज्ञा चिन्तामणि के समान है। यह कल्प लता की भाँति मनोवाँछित फल देती है। श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ और अविचल प्रज्ञा के द्वारा संसार सागर से पार हो जाता है, किन्तु अधम मानव उसमें डूब जाता है। नौका चलाने की कला में शिक्षित हुआ केवट ही नौका से नदी के पार पहुँचता है, अशिक्षित केवट नहीं। जैसे समुद्र के भँवर में चक्कर काटती हुई नौका उस पर चढ़े हुए लोगों को विपत्ति में डाल देती है, उसी प्रकार राग, द्वेष, लोभ आदि असन्मार्ग में लगाई गई अशुद्ध बुद्धि संसार में भटककर मनुष्य को आपत्ति में डाल देती है, और वही बुद्धि यदि विवेक, वैराग्य आदि सन्मार्ग में लगाई जाए तो वह मनुष्य को भवसागर से पार कर देती है। जैसे कवच बाँध कर युद्ध करने वाले योद्धा को बाण पीड़ित नहीं करते, उसी प्रकार विवेकशील, मूढ़तारहित एवं पवित्र बुद्धि वाले पुरुष को तृष्णावर्ग के काम, लोभ आदि से उत्पन्न हुए क्रोध, द्वेष और मोह आदि दोष बाधा नहीं पहुँचाते। रघुवर! इस लोक में प्रज्ञारूपी नेत्र से यह सारा जगत् ठीक-ठीक दिखाई देता है। यह अहंकार रूपी मत्त मेघ जो परमात्मारूपी सूर्य पर आवरण डालने वाला है, पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी वायु से बाधित हो जाता है। परमात्मा की प्राप्तिरूप अनुपम उन्नत पद में पहुँचने वाले पुरुष को पहले सत्संग और विवेक-वैराग्य द्वारा इस बुद्धि का ही शोधन करना चाहिए-ठीक उसी तरह, जैसे

धान्य आदि की वृद्धि चाहने वाला किसान सबसे पहले पृथ्वी को ही हल से जोतकर शुद्ध बनाता है।

अध्याय : 23

चित्त की शान्ति के उपाय

(सर्ग 13-18)

(अ) इन्द्रियों पर विजय (सर्ग-13)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! बिना जीती हुई मन सहित इन्द्रियाँ शत्रु के समान हैं। इन्हें तब तक बारम्बार जीत कर परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करे, जब तक अन्त:करण स्वयं ही परमात्मा के ध्यान में एकाग्र होकर शुद्ध एवं प्रसन्न न हो जाए। इस प्रकार के साधन से नित्य प्रसन्न, सर्वव्यापी, दिव्य स्वरूप, देवेश्वर परमात्मा का स्वत: साक्षात्कार हो जाता है और ऐसा होने पर सारी दु:ख दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं। उस सगुण-निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर उस हृदय-ग्रंथिरूपी कुदृष्टियाँ जो मोहरूपी बीज की मुट्ठियाँ और नाना प्रकार की आपत्तियों की वृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं। संसार से भयभीत हुए पुरुषों के लिए परमात्मा के ध्यान रूप परम पुरुषार्थ को छोड़कर न दैव शरण देने वाला है, न कर्म, न धन आश्रय देने वाला है, न भाई-बन्धु। केवल एकमात्र परमात्मा ही शरण देने योग्य है। तात! जो लोग विवेक, वैराग्य, विचार, उपासना और धर्म पालन आदि उत्तम कार्यों में भाग्य के अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विपरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दमति विनाश की ओर ले जाने वाली है; अत: उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए। श्री राम! यह

मैंने तुमसे आकाश से गिरने वाले फल के समान शीघ्रतापूर्वक होने वाली ज्ञानप्राप्ति का वर्णन किया है। यह ज्ञान अज्ञानरूपी वृक्ष को काट डालने वाला तथा निरतिशय सुख प्रदान करने वाला है। जैसे बहते हुए जल को बाँध से रोका जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट विषयों की ओर दौड़ते हुए मन को विवेक-वैराग्य के बल से विषयों की ओर से लौटाये अर्थात् चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति को विवेक-वैराग्य द्वारा अन्तर्मुखी करे। श्री राम! मोह संसार को भूलकर फिर नहीं प्रस्फुटित होता। 'यह दृश्य प्रपंच असत् ही है' ऐसा मन में निश्चय करके इसके प्रति आस्था का परित्याग कर देना चाहिए। समता का भलीभाँति आश्रय ले प्राप्त हुए कर्तव्य का पालन करते हुए अप्राप्त का चिन्तन न करके निर्द्वन्द्व हो इस लोक में विचरण करना चाहिए। जो राग-द्वेष से मुक्त है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझता है तथा संसार की वासनाओं का त्याग कर चुका है, ऐसा योगी मुक्त कहलाता है। उसकी सब क्रियाओं में अहंभाव नहीं होता, तथा वह सुख-दु:ख में भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्ट की भावना का त्याग करके प्राप्त हुए कार्य को कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते! यह जगत् चेतन मात्र ही है-इस प्रकार के निश्चय वाला मन जब भोगों का चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

(ब) विचार से ही अज्ञान का नाश

वह विशुद्ध आत्मा प्रकाश से भी सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत न होने पर भी ध्रुव सत्य है, यह नित्य सत्य चेतन रूप

है अतः यह केवल अनुभव से ही जाना जाता है। इसके ज्ञान से मन का क्षय हो जाता है। अतः आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए वैराग्य से, प्राणायाम के अभ्यास से, विवेक-विचार से, दुर्व्यसनों के विनाश से तथा परमार्थ तत्त्व के बोध से प्राणवायु का निरोध करना चाहिए। जड़ तथा स्वरूपहीन होने के कारण मन सदा ही मरा हुआ है। किन्तु आश्चर्य है कि उस मरे हुए मन के द्वारा ही लोग मारे जा जा रहे हैं। चक्र के समान घूमती हुई यह मूर्खता की परम्परा बड़ी विचित्र है। अहो! महामायावी मायासुर का भी निर्माण करने वाली यह माया अत्यन्त अद्‌भुत है जिसके कारण अत्यन्त चंचल चित्त के द्वारा भी यह लोक अभिभूत हो रहा है। जब मूर्खता आ जाती है, तब पुरुष सभी आपत्तियों का भाजन हो जाता है। भला अज्ञानी पर कौन-सी आपत्ति नहीं आती। देखो, अज्ञान ने ही मूर्खता से इस सृष्टि को उत्पन्न किया है। हाय! बड़े क्लेश की बात है कि यह सृष्टि दर्बुद्धि के कारण मूर्खता के वश में पड़ी हुई उसके द्वारा पीड़ित हो रही है, तथापि यह जीव असत् का अनुवर्तन करके उत्तरोत्तर दुःख उठाने के लिए इस सृष्टि को उपलब्ध करता है। इस मूर्खतामयी सृष्टि का एकमात्र विचार से ही बाध किया जा सकता है। श्री राम! इस मूर्खलोकमयी सृष्टि के रूप में असत् रूप मन ही प्रकट हुआ है अर्थात् यह मन का ही विकार है। जो पुरुष उस मन को वश में नहीं कर सकता, वह अध्यात्म शास्त्र के उपदेश का पात्र नहीं है। उस पुरुष की बुद्धि चारों ओर से विषयों में आरुढ़ है और उतने से ही वह परिपूर्ण मानती है, इसलिए परमात्मा की ओर अभिमुख नहीं होती, सूक्ष्म वस्तु के विचार में भी समर्थ नहीं हो पाती। इसलिए उसमें आत्यात्मिक शास्त्र का उपदेश पाने

की योग्यता नहीं होती।

(स) अनधिकारी को उपदेश देना व्यर्थ है (सर्ग-14)

रघुनन्दन! इस. भूतल पर जो मनुष्य पशु-पक्षियों के समानधर्मा होकर आहार, निद्रा और मैथुन आदि में ही लगे हुए हैं, उन्हें उपदेश देना उचित नहीं। भला, वन में ठूँठे काठ के निकट कथा का तात्पर्य कहने से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? जिन्होंने अपने मन को विषयों में फैला रखा है, उन मनुष्यों और पशुओं में क्या अन्तर है? पशु रस्सी से बाँधकर खींचे जाते हैं और मूढ़ चेता मनुष्य आसक्ति के कारण मन के द्वारा विषयों की ओर घसीटे चले जाते हैं। जिन लोगों ने अपने मन को नहीं जीता है, उन्हें सब ओर से दुःखदायिनी दशाएँ प्राप्त होती हैं। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने चित्त पर विजय प्राप्त कर ली है, उनके दुःख उत्तम विचार के द्वारा दूर किये जा सकते हैं। इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपंच का आश्रय लेना बन्धन में ही डालने वाला है। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो यह भव बन्धन से छुटकारा दिला सकता है। मैं चिन्मय ब्रह्म हूँ, जीव नहीं; क्योंकि वास्तव में एकमात्र परब्रह्म परमात्मा के सिवा जीव नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। यही चित्त की शांति है और इसी को परम सुख कहते हैं। यह संसार परमात्मा का ही स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जाने पर निस्संदेह चित्त की कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती है। इस प्रकार परमार्थ तत्त्व का बोध होने से यह जगत् परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। उस दशा में मन भलीभाँति गल जाता है। योग.से इसे मार भगाने पर भय के लिए अवसर ही कहां रह जाता है।

(द) तृष्णा का त्याग (सर्ग-15)

श्री राम! तृष्णा विष-लता के समान है। यह बढ़ते हुए महान् मोह को देने वाली और भयंकर है। यह मनुष्य को केवल मूर्छा ही देती है, मन में अनन्त विकार उत्पन्न करने वाली है। संसार में जो महान् दुःख हैं वे तृष्णा रूपी विषलता के ही फल हैं। तृष्णा से पीड़ित मनुष्य में दीनता प्रत्यक्ष देखी गई है। वह मन मारे रहता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है, वह बहुत नीचे गिर जाता है। वह मोह ग्रस्त होता है, रोता और गिरता रहता है। तृष्णा के नाश से सत्कर्म ही बढ़ते हैं। इस तृष्णा को क्रूर सर्पिणी के समान दूर से ही त्याग देना चाहिए।

(य) जीवन्मुक्त के लक्षण (सर्ग 16-18)

श्री राम! वासना का त्याग ज्ञेय और ध्येय के भेद से दो प्रकार का होता है। सबको ब्रह्मरूप के समान समझकर मनुष्य ममता से रहित हो जिस वासनाक्षय का सम्पादन करके शरीर का त्याग करता है, वह ज्ञेय नामक वासनाक्षय कहा जाता है। जो अहंकार रूपी वासना का त्याग करके लोक संग्रहोचित व्यवहार में संलग्न रहता है, वह ध्येय नामक वासनाक्षय से युक्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जनक आदि महात्मा पुरुष ध्येय नामक वासना त्याग सम्पादन करके जीवन्मुक्त हो लोक संग्रह के लिए व्यवहार में स्थित हुए हैं। पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं। दोनों ही प्रकार के त्याग वाले पुरुष मुक्त-पद पर प्रतिष्ठित है। ये दोनों ही ब्रह्मभाव को प्राप्त है और दोनों ही चिन्ता और ताप से छुटकारा पा चुके हैं। प्रथम त्याग वाले व्यक्ति को 'विदेहमुक्त' कहते हैं। मुक्त पुरुष

सुख और दु:ख में, हर्ष और शोक में वशीभूत नहीं होता, इष्ट वस्तु से राग और अनिष्ट से द्वेष नहीं होता, जिसके ग्रहण और त्यागरूपी संकल्प क्षीण हो गये हैं जो हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कायरता की दृष्टियों से रहित है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्री राम! जो विदेहमुक्त है, वे वाणी के विषय नहीं होते इसलिए उनकी स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अध्याय : 24

तृष्णा त्याग और वैराग्य

(सर्ग 19-29)

(अ) पुण्य और पावन की कथा (सर्ग 19-21)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! इसी विषय में गंगा जी के तट पर मुनिकुमारों में जो परस्पर भाई थे, जो संवाद हुआ था तुम उसे सुनो।

गंगा के तट पर एक महर्षि निवास करते थे। जिनका नाम दीर्घतया था। उन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो चुका था। उनके दो पुत्र थे जिनका नाम पुण्य और पावन था। इनमें पुण्य तो ज्ञान सम्पन्न थे किन्तु पावन का ज्ञान अधूरा ही रह गया। तदन्तर दीर्घतया ने सौ वर्ष पूरे होने पर अपना शरीर त्याग दिया एवं ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये। तत्पश्चात् उनकी पत्नी ने भी यौगिक क्रिया द्वारा शरीर को त्याग दिया। दोनों के परलोकवास हो जाने पर ज्येष्ठ पुत्र पुण्य स्थिर चित्त हो उनकी अन्त्येष्टि-कर्म में प्रवत्त हुए किन्तु पावन विलाप करने लगा। तब पुण्य ने उसे कहा वत्स! यह शोक अन्धता (मोह) का एकमात्र कारण है। तुम इसे घनीभूत क्यों बना रहे हो? तुम्हारे पिता तुम्हारी माता जी के साथ परमात्मपद को प्राप्त हो गये। वही सबका अपना ही स्वरूप है तथा सब प्राणियों का अधिष्ठान है। तुम अपनी मोहजनित ममतामयी भावना के कारण ही पिता के लिए शोक कर रहे हो। न वे ही तुम्हारी माता थी न वे ही तुम्हारे पिता थे। तुम्हारे सहस्त्रों माता-पिता हो

चुके हैं, उन माता-पिता के भी असंख्य पुत्र हो चुके हैं, केवल तुम्हीं उनके पुत्र नहीं हो। मनुष्यों के जन्म-जन्म में बहुत से पुत्र हो-होकर काल के गाल में जा चुके हैं। वत्स! यदि स्नेह के कारण माता पिता और पुत्रों के लिए शोक करना ही उचित हो तो पहले के जन्मों में जो सहस्त्रों माता पिता हो चुके हैं, उनके लिए शोक क्यों नहीं किया जाता? बीते हुए दूसरे जन्मों में जो तुम्हारे बन्धु और धन-वैभव नष्ट हो गये, उनके लिए भी शोक क्यों नहीं करते? तुम्हारे बहुत से बन्धु मृग-शरीर धारण करके रहे हैं, उनके लिए तुम्हें शोक क्यों नहीं हो रहा है? इसी जम्बू द्वीप में तुम पहले अन्यान्य बहुत-सी योनियों में सैकड़ों हजारों बार जन्म ले चुके हो। मैं अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा तुम्हारे और अपने पूर्व जन्म के वासना क्रम को देख रहा हूँ। मेरी भी बहुत-सी योनियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं। आज मैं अपनी सूक्ष्म बुद्धि से उनको देखता और स्मरण करता हूँ। उनमें से किन-किन के लिए हम दोनों शोक करें और किनके लिए न करें। संसार तो ऐसी ही गति है। पावन मन में अहंभाव के रूप में स्थित इस प्रपंच भावना को त्याग करके तुम उस गति को प्राप्त करो, जो आत्म ज्ञानी पुरुषों को उपलब्ध होती है। वत्स! तुम शान्तचित्त होकर आत्मा को जो भाव और अभाव से मुक्त तथा जरा और मृत्यु से रहित है, स्मरण करो। मन में मूढ़ता न लाओ। न तुम्हारा जन्म हुआ है, न तुम्हारी कोई माता है और न पिता ही है। तुम केवल शुद्ध बुद्ध आत्मा हो, दूसरे कोई नहीं हो। यह पुण्य है, यह पावन है, इत्यादि कल्पनाओं के रूप में मिथ्या ज्ञान ही नृत्य कर रहा है।

पुण्य के इस प्रकार समझाने पर पावन को परमात्मतत्व का

दृढ़ निश्चय हो गया तदन्तर समय आने पर वे दोनों परम निर्वाण पद को प्राप्त हो गये। रघुनन्दन! इसलिए इन असंख्य तृष्णाओं की निवृत्ति का एकमात्र उपाय त्याग ही है, उनको पोसना नहीं। विषय भोगों के चिन्तन से चिन्ता बढ़ती जाती है तथा उसके चिन्तन न करने से चिन्ता मिट जाती है। मन वैराग्य से ही पूर्णता को प्राप्त होता है। जिनके चित्त में किसी लौकिक वस्तु की स्पृहा नहीं है, उन लोगों के लिए तीनों लोकों का ऐश्वर्य कमल गट्टे के समान अत्यन्त तुच्छ है। चित्त के नष्ट हो जाने पर पुरुष उस परम पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ फिर नाश का भय नहीं है।

(ब) राजा बलि के अन्तःकरण में वैराग्य का उदय (सर्ग 22-24)

वशिष्ठ जी ने कहा-रघुनन्दन! अब मैं राजा बलि कें उत्तम वृतान्त का वर्णन करता हूँ, सुनो? पाताल लोक में असुरों के बाहुदण्डों पर आधारित महान् साम्राज्य है जिस पर विरोचन-कुमार बलि राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुए। दैत्यराज बलि की साक्षात् भगवान् विष्णु रक्षा करते थे एक समय दानवराज बलि को भोगों से अत्यन्त वैराग्य प्राप्त हो गया। वे संसार की स्थिति पर विचार करने लगे कि इन भोगों से मेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है। इनका विनाश अवश्यंभावी है। इनका उपयोग मात्र करना मेरे लिए क्या सुखदायक हो सकता है? मैं नित्य, उत्तम और यथार्थ सुख क्या है-इसी पर विचार करता हूँ। ऐसा विचार कर राजा बलि तत्काल ध्यानमग्न हो गये। इस ध्यान से उनको अपने पिता विरोचन द्वारा दिये गये ज्ञानोपदेश का स्मरण हो आया।

विरोचन ने कहा था–महामते! मनुष्य से लेकर ब्रह्म पद तक सम्पूर्ण पदों का अतिक्रमण करने वाला जो मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर का स्वामी शुद्ध आत्मा है, वह एक राजा के समान है। उसने बुद्धि युक्त मन को अपना मन्त्री बनाया है। उस मन्त्री को जीत लेने पर सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है, परन्तु उसे अत्यन्त दुर्जेय समझना चाहिए। वह वज्र से नहीं, युक्ति से ही जीता जाता है।

विरोचन बोले–बेटा! सभी विषयों के प्रति सब प्रकार से जो अत्यन्त अनास्था (वैराग्य) है, वही मन पर विजय पाने के लिए उत्तम युक्ति है। इसी से महान् मदमत्त मन रूपी मतंग (गजराज) का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है। यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुलभ भी है। यदि इसके लिए भली-भाँति अभ्यास किया जाय तो यह अनायास ही प्राप्त हो जाती है। बेटा! यदि क्रमशः विषयों के विरक्त होने के अभ्यास किया जाय तो जैसे सींचने से लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब ओर से सुस्पष्टतः प्रकट हो जाती है। जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्ति के लिए अभ्यास न किया जाय तो विषय लोलुप पुरुष कितना ही क्यों न चाहे, यह विरक्ति उसे नहीं मिल सकती। तुम इसे अभ्यास के द्वारा दृढ़ करो। संसार रूपी गर्त में निवास करने वाले जब तक नाना प्रकार के दुःखों से भटकते रहते हैं। जब तक उन्हें विषयों से वैराग्य नहीं हो जाता। जैसे कोई अत्यन्त बलवान देह वाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देशान्तर में नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार कोई शारीरिक शक्ति से सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयों से वैराग्य नहीं प्राप्त कर

सकता। इसलिए देहधारी मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन्मुक्ति के हेतु भूतपूर्व कथित ध्येय नामक वासना त्याग की अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए भोगों की ओर से विरक्ति का अभ्यास पूर्वक विस्तार करे। बेटा! हर्ष और अमर्ष से रहित शुभ कर्मफल को प्राप्त करने के लिए इस संसार में परम पुरुषार्थ के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। पुरुषार्थ से ही उसकी प्राप्ति होती है। संसार में दैव की चर्चा बहुत की जाती है, परन्तु दैव कहीं देह धारण कर स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होने वाली जो भवितव्यता है नियति के द्वारा मिलने वाला जो अपने ही शुभाशुभ कर्मों का फल है, उसी को वहाँ दैव अथवा प्रारब्ध नाम दिया गया है। प्रारब्ध-भोग रूप जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थ से ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष शरीर धारण करके पुरुषार्थ से जिस पदार्थ का जैसे संकल्प करता है, इस लोक में वह पदार्थ उसे उसी रूप में प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूप में नहीं। इस जगत् में पुरुषार्थ के सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अतः उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय ले भोगों की ओर से वैराग्य प्राप्त करे। जब तक भोगों में वैराग्य, जो संसार-बंधन का विनाश करने वाला है, नहीं प्राप्त होता, तब तक विजयदायक परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक मोह में डालने वाली विषयासक्ति बनी हुई है, तब तक भवदशारूपी झूला चंचल गति से आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीव को संसार में भटकाने वाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है।

बेटा! आत्म साक्षात्कार होने पर विषयों से राग (आसक्ति) का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिए पुरुष विवेक-विचार द्वारा परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करे। साथ

ही विषयों की आसक्ति से सर्वथा रहित हो जाय। साधुस्वभाव (श्रेष्ठ आचरण) वाला पुरुष ही ज्ञानोपदेश पाने का अधिकारी होता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही उत्तम रंग को ग्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेश को अपने हृदय में धारण करता है। यह चित्त एक बालक के समान है। इसे पवित्र वचनों, युक्तियों और शास्त्र के अनुशीलन से धीरे-धीरे लाड़-प्यार के साथ रिझाकर वश में करना चाहिए। परमात्मा का साक्षात्कार होने पर तृष्णा एवं आसक्ति का अभाव हो जाता है और तृष्णा एवं आसक्ति का अभाव होने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसलिए दोनों साधनों को एक साथ करते रहना चाहिए सकाम भाव से किये गये यज्ञ, दान, तप और तीर्थ सेवन से तो स्वर्गादि सुख ही प्राप्त होते हैं। सकाम साधनों से कभी जीव को वैराग्य नहीं हो सकता। बुद्धिमान पुरुष परम पुरुषार्थ का आश्रय ले दैव (प्रारब्ध) को दूर से ही त्याग दे।

(स) शुक्राचार्य का बलि को उपदेश (सर्ग 25-27)

अपने पिता के दिये गये उपदेश का स्मरण करके राजा बलि में वैराग्य भावना का उदय हो गया तथा वे संसार एवं भोगों की निस्सारता का चिन्तन करने लगे। उन्होंने अपने ध्यान में भगवान् शुक्राचार्य का चिन्तन किया जो इन्हें आत्म बोध करा सके। शुक्राचार्य को जब यह ज्ञात हुआ तो वे स्वयं राजा बलि के पास आये। राजा बलि ने कहा-प्रभो! मैं महान् मोह प्रदान करने वाले भोगों से विरक्त हूँ, इसलिए ऐसे परम तत्त्व को जानना चाहता हूँ, जो अपने ज्ञान मात्र से महान् मोह

का नाश कर दे।

शुक्राचार्य बोले–सर्व दानव राजेन्द्र! मैं आकाश में जाने के लिए उद्यत हूँ; इसलिए संक्षेप में सार-तत्त्व बता रहा हूँ, सुनो। इस संसार में एकमात्र चेतन ही है, यह सब जगत् भी चेतन मात्र है–चिन्मय ही है। तुम भी चिन्मय, मैं भी चिन्मय, और ये लोक भी चिन्मय है। अर्थात् जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है यह समस्त सिद्धान्तों का सार है। यदि तुम श्रद्धालु हो तो इस निश्चय से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो, और यदि तुम में श्रद्धा नहीं हो तो तुम्हें दिया गया बहुत सा उपदेश भी राख में डाली गई आहुति के समान व्यर्थ है। चेतन की जो विषयाकार कल्पना है, वही बन्धन है। उससे छूटना ही मोक्ष कहलाता है। विषयाकार रहित चेतन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है, यह समस्त सिद्धान्तों का सार है। इस सिद्धान्त को ग्रहण करके यदि तुम स्वयं अखण्डाकार वृत्ति से अपने द्वारा अपने आपका यथार्थ अनुभव करोगे तो अनन्त परमपद स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाओगे। मैं इस समय देवलोक को जाता हूँ। मुझे यहीं पर सप्तर्षि मिले थे। वहाँ देवताओं के किसी कार्य के लिए मुझे रहना होगा। ऐसा कहकर शुक्राचार्य जी आकाश मार्ग से चले गये।

(द) राजा बलि का समाधिस्थ हो जाना (सर्ग-28)

शुक्राचार्य जी के चले जाने पर राजा बलि उनके दिये गये उपदेश पर बार-बार चिन्तन करते हुए सारे संकल्प शान्त हो गये, समस्त कल्पनाएँ विलीन हो गईं। उनके भीतर किसी प्रकार की शंका नहीं रह गई। वे ध्याता, ध्येय और ध्यान से

रहित हो गये। वे वायु रहित दीपक की भाँति निश्चल हो गये। वे महान पद परमात्मा को प्राप्त हो गये थे। उनका मन सर्वथा शान्त हो गया था। वे ध्यान में मौन हो समाधिस्थ हो गए थे। उनकी यह स्थिति देखकर दानव मंत्रियों ने दैत्य गुरु शुक्राचार्य का स्मरण किया। स्मरण करते ही भृगुनन्दन शुक्र वहाँ उपस्थित हुए। शुक्राचार्य जी ने देखा कि बलि का संसाररूपी भ्रम नष्ट हो गया है तो वे दैत्य मंडली से कहने लगे–दानवों! बलि चित्त की भ्रान्ति से रहित हो परम विश्राम को प्राप्त हुए हैं। इनका अज्ञान दूर हो गया है। इस समय तुम लोक इनसे बातचीत न करो। समय आने पर ये स्वयं ही समाधि से जाग उठेंगे।

(य) राजा बलि का समाधि से जागना (सर्ग-19)

तदन्तर एक सहस्त्र दिव्य वर्ष व्यतीत होने पर असुरराज बलि समाधि से जागे और विचार करने लगे– न बन्धन है न मोक्ष है। मेरे अज्ञान का नाश हो गया। अब न मैं ध्यान करने की इच्छा करता हूँ, न ध्यान न करने की, न भोग चाहता हूँ, न भोगों का त्याग। मैं चिन्ता रहित होकर समभाव से ही स्थित हूँ। राज्य वैभव की सम्पत्ति से मेरा क्या प्रयोजन है? जो आता है, वह आये। न वह मैं हूँ, न कहीं कुछ मेरा है। न मेरा कुछ कर्तव्य है न अकर्तव्य। ऐसा विचार कर राजा बलि वासना रहित हो समस्त कार्य करने लगे।

जब तक मनुष्य आत्म साक्षात्कार के लिए परम पुरुषार्थ करके स्वयं अपने ऊपर अनुग्रह नहीं करता, तब तक विवेक-विचार का उदय नहीं होता। जब तक अपने आपका यथार्थ रूप से अनुभव नहीं होता, तब तक वेदों और वेदान्त शास्त्र

के अर्थों से तथा तार्किक दृष्टियों से भी इस आत्मा का ·प्राकट्य नहीं होता।

अध्याय : 25

प्रहलाद का उपाख्यान

(सर्ग 30-65)

(अ) दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध (सर्ग 30-32)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! जैसे दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गये थे, ज्ञान प्राप्ति के उस उत्तम क्रम का मैं वर्णन करता हूँ; सुनो! पाताल लोक में हिरण्यकशिपु नाम से प्रसिद्ध एक दैत्य था, जिसका पराक्रम भगवान् नारायण के समान था। उसने युद्ध भूमि में देवताओं और असुरों को भी मार भगाया था। उसने समस्त भुवनों पर आक्रमण किया और इन्द्र के हाथ से त्रिलोकी राज्य छीन लिया। वह तीनों लोकों पर राज्य करने लगा। इससे खिन्न हो देवताओं ने ब्रह्मा जी से उसके बध के लिए प्रार्थना की। तदन्तर भगवान् विष्णु ने नृसिंह रूप धारण करके उसको मार डाला।

हिरण्यकशिपु के वध के बाद उसके पुत्र प्रह्लाद ने श्री हरि का पूजन किया तथा अपने आपको उनके चरणों में भेंट कर दिया तथा उनकी स्तुति की।

(ब) प्रह्लाद का आत्मचिन्तन एवं आत्मज्ञान

(सर्ग 34-36)

भगवान् विष्णु से प्रह्लाद ने कहा–विभो! आप जिस वस्तु को सबसे श्रेष्ठ समझते हो, वही मुझे देने की कृपा कीजिये। भगवान् विष्णु ने कहा जब तक तुम्हें ब्रह्मत्व की प्राप्ति न हो

जाए, तब तक तुम सम्पूर्ण संशयों की शांति तथा परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति रूप फल के लिए विचार परायण बने रहो। ऐसा कर कर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान् विष्णु के अन्तर्धान होने पर प्रह्लाद विचार करने लगे–यह बाह्य और जड़ जगत् मैं नहीं हूँ, अचेत शरीर भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि यह विनष्ट होने वाला है। मैं तो यह शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मन के व्यापार से शून्य, शान्त, पाँचों इन्द्रियों के भ्रमों से रहित और माया के सम्बन्ध से हीन है। मैं वह आत्मस्वरूप ही हूँ। यह आत्मा, जो सर्व व्यापक और विकल्प रहित चिन्मय बोधस्वरूप है, वह मैं ही हूँ। यह आत्मा ही जगत् का आदि कारण है, परन्तु इसका कोई कारण नहीं है। इसी आत्मा से सारे पदार्थों का पदार्थत्व उत्पन्न होता है। ब्रह्मा के रूप में मैं ही सदा इस जगत् में उत्पन्न होता हूँ। मैं ही शिव होकर प्रलय काल में इस जगत् का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्र रूप से मन्वन्तर के क्रम से इस सम्पूर्ण त्रिलोकी का पालन करता हूँ। यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम रूप जगत् परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ। ऐसे परम पद को छोड़कर मूर्ख ही तुच्छ विषय भोगों में आसक्त होता है, विवेकशील ज्ञानी नहीं किन्तु मुर्खता के कारण ही मनुष्य उसे चाहता है। ॐ ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्म का सर्वोत्तम नाम है वह परमात्मा ही भूतल के समस्त पदार्थों के रूप में विराजमान है। वही अग्नि को उष्णता युक्त करता है और जल को रसमय बनाता है। इसी का सदा अन्वेषण, स्तवन और ध्यान करना चाहिए। समस्त प्राणियों के शरीरों के अन्दर अपने हृदय कमल में स्थिर यह परमात्मा अत्यन्त सुलभ है। हृदय की थोड़ी-सी भी सच्ची पुकार से वह तत्क्षण स्मुख

प्रकट हो जाता है। वह परमात्मदैव सभी शरीरों में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पों में सुगन्ध, तिलकणों में तेल और रसयुक्त पदार्थों में माधुर्य। परन्तु हृदय में विद्यमान रहने पर भी यह चेतन विवेक-विचार के अभाव के कारण जाना नहीं जा सकता है। विचारणा के द्वारा ही उस परमेश्वर का ज्ञान होता है। उसे भलीभाँति जान लेने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति से उसका फिर कभी वियोग नहीं होता, सांसारिक स्नेह के समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, तृष्णाएँ मन को चचंल नहीं कर पातीं। यह परमात्मा समस्त पदार्थों में सत्ता रूप से स्थित है।

विष्णु कृपा से मुझे इस परमतत्व का ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञान का परित्याग कर दिया है। मेरा यह शरीर अहंकार से रहित होकर परम पवित्र हो गया है। विवेकरूपी धनराशि की प्राप्ति के कारण मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये हैं, मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गई है, अब मैं परमेश्वर के रूप में स्थित हूँ। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गई है, जिसके पा लेने पर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता। इस पारमार्थिक भूमि में अनर्थों का नाम-निशान नहीं है, विषयरूपी सर्पों का अत्यन्त अभाव हो गया है, अज्ञान रूपी कुहरा सर्वथा नष्ट हो गया है, मृग-तृष्णा शान्त हो चुकी है, मेरा मोह पूर्णतया शान्त हो चुका है। अहंकार रूपी राक्षस नष्ट हो गया है, अतः मेरा संताप मिट गया है। मैंने सच्चिदानन्दघन परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है और उन्हें भली-भाँति जान भी लिया है। मैं अब संसार से विरक्त होकर परमात्मा में लीन हो गया हूँ।

प्रह्लाद इस प्रकार परमात्मा का चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्द स्वरूप परमात्मा में समाधिस्थ हो गये।

(स) विष्णु का प्रह्लाद को तत्त्व ज्ञान का उपदेश

(सर्ग 37-41)

प्रह्लाद के समाधि में स्थित होने से सारे लोक में अव्यवस्था हो गई जिसे देखकर भगवान विष्णु क्षीर सागर से चल पड़े तथा उन्होंने प्रह्लाद के महल में प्रवेश किया तथा उसे शंख बजाकर समाधि से जगाया तथा उन्हें तत्त्व ज्ञान का उपदेश देते हुए अनासक्त भाव से पुनः राज्य कार्य करने का आग्रह किया। इसके बाद विष्णु ने उनका राज्याभिषेक किया और उन्हें आशीर्वाद देकर वहाँ से विदा होकर पुनः अपने लोक में चल दिये।

वशिष्ठ जी कहते हैं-श्री राम! अज्ञान ही पाप कहलाता है और उसका नाश विवेकपूर्वक विचार करने से होता है। इसलिए विचार का परित्याग नहीं करना चाहिए। प्रह्लाद की इस सिद्धि का विवेकपूर्वक विचार करने वाले लोगों के पूर्व के सात जन्मों के किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं-इसमें संशय नहीं है।

(द) जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति (सर्ग 42-49)

निर्दोष स्वरूप वाले राम! लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है-एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो जाता है, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम

जीवन्मुक्त अवस्था-सदेहमुक्ति समझो। फिर देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही जाती है। जिन्हें विदेहमुक्ति हो गई है वे फिर जन्म धारण करके दृष्यता को नहीं प्राप्त होते, ठीक उसी तरह, जैसे भुना हुआ बीज जमता नहीं है।

(य) चित्त निरोध (सर्ग 50-65)

वशिष्ठ जी ने कहा-राघव! यह संसाररूपी माया चक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है। तुम चित्त को इस चक्र की महानाभि समझो। जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धि द्वारा इस, चित्त को स्तंभित कर देता है तब जिसकी नाभि पकड़ ली जाती है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़ने से रुक जाता है। इस दृष्टि के प्राप्त होने से दुःखों को क्षण मात्र में नष्ट हुआ समझो। यह संसार एक महाभयंकर रोग है। चित्त निरोध ही इस रोग की परमोत्तम औषधि है। इस औषधि के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न से उस व्याधि की शांति नहीं होती। जैसे घड़े के भीतर घटाकाश रहता है, परन्तु घड़े के नष्ट होने पर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्त के अन्दर ही है, अतः चित्त का नाश होने पर संसार भी विनष्ट हो जाता है। यह चित्त जब भूत और भविष्य के पदार्थों का चिन्तन न करके वर्तमान समय का बाह्य बुद्धि द्वारा अनायास ही उपयोग करने लगता है, उसी क्षण अचित्तता को प्राप्त हो जाता है क्योंकि चित्त की वृत्तियाँ तभी तक रहती है, जब तक संसार की कल्पना बनी रहती है। संकल्प कल्पना भी तभी तक रहती है, जब तक चेतन जीवात्मा मन के साथ है। यदि ऐसी भावना की जाए कि चेतन जीवात्मा मन से

पृथक् है तो संसार को मूल-वासनाएँ मूल-अविद्या सहित जलकर भस्म हुआ समझो। चित्त से शून्य हुआ चेतन शुद्ध आत्मा कहा जाता है। वही सत्यता, वही कल्याणरूपता है, वही सर्वज्ञता एवं वास्तविक दृष्टि है। किन्तु जिस समय उसका विनाश-शील मन के साथ संयोग बना रहता है, उस समय उसकी उपर्युक्त स्थिति नहीं रहती क्योंकि जहाँ मन रहता है, वहाँ उसके आसपास अनेक प्रकार की आशायें और सुख-दु:ख उसी प्रकार सदा आते रहते हैं, जैसे श्मशान भूमि में कौए मँडराया करते हैं। किन्तु जब परमार्थ वस्तु रूप परमात्मा के तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, तब उस पुरुष के मन में संकल्प में आशा आदि सम्पूर्ण भावों की व्यवस्थापिका संसाररूपी लता का बीज उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि उस समय उसका मन भुने हुए बीज के समान हो जाता है। शास्त्राध्ययन और सज्जनों की संगति का निरंतर अभ्यास करने से सांसारिक पदार्थों की अवास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। इसलिए निश्चयपूर्वक परम प्रयत्न के साथ मन को अविवेक से हटाकर उसे बलपूर्वक शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषों के संग में लगाना चाहिए; क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने में शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

श्री राम! जो इस सत्त्वादि गुणों के समाहार रूप जड़ संसार को अनित्य और मिथ्या देखता है, उस पुरुष की यह परम शान्ति स्वरूप अन्त:शीतलता है, वही समाधि कहलाती है। यदि उनके अन्तकरण में परम शान्ति रूप शीतलता है वे ज्ञानी चाहे व्यवहार परायण हो, चाहे वन का आश्रय ले, दोनों समान है क्योंकि दोनों को ही परम पद की प्राप्ति हो चुकी है। चित्त में कर्तापन का अभाव ही उत्तम समाधान है और

वही मंगलमय परमानन्द पद है। जो मन वासनाओं से रहित हो गया, वह स्थिर कहा जाता है, वही ध्यान समाधि, वही केवल चिन्मय भाव है, और वही अविनाशी परम शान्ति है। वह अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है, उस साधन को 'समाधि' कहते हैं। जिन गृहस्थों के चित्त अच्छी प्रकार समाहित हो चुके हैं, तथा जिनके अहंकार आदि दोष शांत हो चुके हैं। उनके लिए ही घर निर्जन वनस्थलियों के समान है परन्तु जिसका चित्त अहंता, ममता, राग आदि वृत्तियों से युक्त होने के कारण उन्मत्त बना रहता है, उसके लिए निर्जन वन भी प्रचुरजनों के परिपूर्ण नगर जैसा ही है। जिन पुरुषों के अन्त:करण में परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, उनके लिए जगत् सदा शान्तिमय हो जाता है, परन्तु जिनका अन्त:करण तृष्णा की ज्वाला से संतप्त होता रहता है, उसके लिए जगत् दावाग्नि से दग्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है। क्योंकि समस्त प्राणियों के भीतर जैसा भाव होता है, वैसा ही बाहर अनुभव होता है। जो हर्ष शोक के वशीभूत नहीं होता, वह समाहित कहा जाता है। जो न किसी के लिए शोक करता है और न किसी की चिन्ता ही करता है, वह समाहित कहलाता है।

अध्याय : 26

बन्धन का कारण

(सर्ग 66-72)

(अ) देह और आत्मा का सम्बन्ध नहीं है

(सर्ग 66-67)

वशिष्ठ जी कहते हैं–राघव! सांसारिक पाश में जकड़े हुए चित्त को संसार सागर से पार होने के लिए परमात्मा के यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त और कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं है। यह उपर्युक्त दु.ख यद्यपि अज्ञानी के लिए अनन्त है तथापि ज्ञानी पुरुष के लिए वह अत्यन्त साधारण है। जैसे दर्शक पुरुष दूर से ही जन समूह का अवलोकन करता है, किन्तु उसके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, उसी तरह जो देहाभिमान से रहित तथा विज्ञानानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से स्थित है, वे ज्ञानी महात्मा पुरुष साक्षीभूत होकर दूर से ही शरीर को देखते रहते हैं। इसलिए भले ही देह दु:ख से भली-भाँति क्षुब्ध हो जाए, उससे आत्मा को कौन-सी क्षति पहुँचती है? शोभाशाली राम! भला हिमालय पर्वत और समुद्र का क्या सम्बन्ध? उसी तरह आत्मा और संसार बन्धन का भी वास्तव में परस्पर क्या सम्बन्ध है? अर्थात् कुछ नहीं है। जैसे कमल जल में रहकर भी निर्लेप बना रहता है, उसी तरह इस जगत् में शरीर का भी आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सुख दु:ख आदि के अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा को और केवल जड़ देह को नहीं होते किन्तु देह और आत्मा के

तादात्म्य के कारण होते हैं। अतः जब यथार्थ ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है, तब सुख-दुःखों का अत्यन्ताभाव होकर केवल शुद्ध चेतन आत्मा ही शेष रह जाता है। अज्ञानी पुरुष जिस रूप में संसार को देखता है, वह उसी रूप में उसे सत्य मान लेता है, परन्तु ज्ञानी के लिए वैसी बात नहीं हैं। वह उसी रूप में संसार को सत्य नहीं मानता; क्योंकि वह समझता है कि यह संसार अज्ञान से ही प्रतीत होता है।

जैसे वास्तव में सम्बन्ध न होने पर भी स्वप्न में स्त्री के साथ रति-क्रीड़ा आदि व्यापार में सम्बन्ध-सा हो जाता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होने पर भी अँधेरे में ठूँठ प्रेत-सा दीखने लग जाता है, उसी तरह यद्यपि वास्तव में आत्मा के साथ देहादि का सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अज्ञान के कारण सम्बन्ध-सा दीखता है। वस्तुतः तो शरीर और शुद्ध आत्मा का सम्बन्ध मिथ्या ही है। विद्वानों का कथन है कि देह में अहं भावना करने से ही आत्मा दैहिक दुःखों के वशीभूत होता है तथा देह भावना का त्याग कर देने से वह उस दुःख जाल से मुक्त हो जाता है। यद्यपि आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन परस्पर पूर्णतया सम्बन्ध है, तथापि अन्तःकरण में अहंता, ममता और आसक्ति का अभाव होने के कारण ज्ञानी महात्मा सदा सर्वथा दुःख रहित ही रहते है। श्री राम! अन्तःसंग अर्थात् अहंता, ममता और आसक्ति ही संसार में समस्त प्राणियों के जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षों का मूल कारण है। जो जीव अहंता, ममता और आसक्ति से युक्त है वह भवसागर में डूबा हुआ है, परन्तु जो इनसे मुक्त हो गया है, वह समझ ले कि मैं संसार सागर से पार हो गया। जो चित्त विषयों की आसक्ति से रहित और निर्मल है, वह संसारी होते हुए भी निस्संदेह

मुक्त है, परन्तु विषयासक्त चित्त दीर्घकाल की तपस्या से युक्त होता हुआ भी कामना के कारण सुदृढ़ बन्धन से बँधा हुआ है। जैसे नौका जल के गुण दोषों से लिपायमान नहीं होती, वैसे ही अहंता, ममता और आसक्ति से रहित पुरुष शरीर यात्रा के लिए न्याययुक्त कर्म करता हुआ भी कतृव्व से लिप्त नहीं होता। ऐसा पुरुष कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है।

(ब) आसक्ति ही बन्धन है (सर्ग 68-70)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का जो विभाग है अर्थात् शरीर जड़ है और आत्मा चेतन है–ऐसा जो अनुभव है, उसके अभाव में केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावना से उत्पन्न देहाभिमान ही संग है, और वही बन्धन का हेतु कहा जाता है। तथा देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण आत्मा का स्वरूप अनन्त है; किन्तु अज्ञानवश उसमें परिच्छिन्नता का निश्चय हो जाने पर जीव अपने अन्दर जो सुख की चाह करने लगता है, वही संग है और वही बन्धन का कारण कहा जाता है। यह दृश्यमान संपूर्ण संसार परमात्मा का संकल्प होने के कारण परमात्मा का स्वरूप है, तब फिर मैं उसमें से किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ–इस प्रकार की धारणा से उत्पन्न होने वाली जो जीवन्मुक्त की अवस्था है, उसे तुम असंग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विषयों से उत्पन्न सुख हों अथवा न हों–ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्ति से रहित हो गया, वह मनुष्य मुक्ति का अधिकारी कहलाया है। जो निष्कर्मभाव की प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होता,

सबमें समभाव रखता है, और कर्मफलों की इच्छा से रहित है, वही पुरुष 'असंसक्त' कहा जाता है। केवल परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थिति वाले जिस महात्मा का मन हर्ष, शोक और ईर्ष्या के वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है, और उसी की 'जीवन्मुक्त' संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उसके फल आदि का कर्म से नहीं, अपितु केवल मन से भली-भाँति त्याग कर देता है, वह 'असंसक्त' कहलाता है।

(स) कर्म फल

राम जी! वृक्ष एक स्थान पर स्थित रह कर अपने स्थावर शरीर से जो शीत, वात और घाम के क्लेशों को सहता रहता है, वह उसके पूर्वजन्मों के अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। पृथ्वी की दरार में पड़ा हुआ कीड़ा अंगों के पीड़ित होने के कारण विकल होकर जो कालक्षेप करता है, वह उसके पूर्वजन्म के अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। जिसका पेट भूख के कारण दुर्बल होकर पीठ से सट गया है तथा बुद्धि आघात के भय से सदा भीत बनी रहती है, ऐसा पक्षी जो वृक्ष की शाखाओं पर निवास करता हुआ कालयापन करता है, वह उसके पूर्वजन्मों के अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मों का ही फल है। घास खाने वाला मृग किरातों के बाणों की चोट से पीड़ित होकर जो मर जाता है, ये असंख्य भूतप्राणी जो बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो रहे, उसका कारण उनके पूर्व जन्म में अहंता, ममता और आसक्ति पूर्वक किये गये कर्मों का फल ही है।

राघव! विषयासक्त चित्त वाला मनुष्य दुःखों के कारण

सूख जाता है। इस जगत् में जो कुछ समूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सब की कल्पना विषयासक्त चित्त वाले मनुष्यों के लिए ही हुई है। सारी दुःख परंपरायें विषयासक्त चित्त वाले मनुष्य को आ घेरती है। जो मन आसक्ति शून्य, सब ओर से शान्त, आकाश के समान निर्मलरूप से स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्रूप से भासमान हो रहा है, वह साधक के लिए सुख का ही हेतु होता है।

रघुनन्दन! कल्याण कामी विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए, और सभी न्याययुक्त कर्मों में लगे हुए भी सर्वदा अपने मन को अनासक्त और सम बनाये रखें। उसे किसी भी प्रकार की चेष्टाओं में आसक्त नहीं करना चाहिए। इस प्रकार उस आत्मा में स्थित हुआ जीवात्मा संपूर्ण आसक्तियों से रहित व्यवहारों को करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाश का मेघों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्मस्वरूप में रत हुआ जीवात्मा क्रियाओं को करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रिया जनित फलों के साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता। रामभद्र! जिसने अपने स्वरूप में परम विश्राम को प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्म साक्षात्कार से सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा फलों में तनिक भी आसक्ति नहीं रह गई है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्ति से रहित होने के कारण कर्म जनित फलों से सम्बद्ध नहीं होता।

रघुनन्दन! जो साधनावस्था से ही तीव्र वैराग्य के कारण उपेक्षा बुद्धि से कर्म करता है तथा जिसकी बुद्धि परमात्मा में ही स्थित है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और फिर वह

कर्मों के फलों से नहीं बँधता। विवेकशील साधक को कर्मों का अनुष्ठान या परित्याग–कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किन्तु जिन्होंने आत्म तत्त्व को जान लिया है, वे महात्मा जो जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तदनुसार न्याययुक्त जीवन यापन करते हुए स्थित रहते हैं। सांसारिक विषयों के सम्बन्ध से रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मापद में भलीभाँति स्थित परमात्म प्राप्त पुरुष जो-जो कर्म करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तापन नहीं रहता। श्री राम! यही अखण्ड समाधिरूप सुषुप्ति-स्थिति अभ्यास योग से जब दृढ़ हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओं के द्वारा वह तुर्य-स्थिति कही जाती है। उपर्युक्त अखण्ड समाधि में स्थित रहने वाला ज्ञानी अतिशय प्रसन्नता से परिपूर्ण और परम आनन्द में निमग्न हुआ इस जगत् के व्यवहार को सदा लीला की भाँति देखता रहता है। तुर्यावस्था में स्थित ऐसा ज्ञानी फिर कभी संसार चक्र में नहीं गिरता।

(द) आत्मा का अनुभव (सर्ग-71)

शरीररूपी स्थान को छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासना के अनुसार जाता है, वहीं पर विचार करने पर आत्मा का अनुभव होता है। जहाँ पुष्प रहता है, वहीं पर जैसे गन्ध का ज्ञान रहता है, उसी प्रकार जहाँ चित्त रहता है, वहीं पर आत्मा का ज्ञान होता है। जिस प्रकार सर्वत्र स्थित आकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र स्थित आत्मा शुद्ध अन्तःकरण में दिखलाई पड़ता है। जैसे पृथ्वी के नीचे का भाग जल का आश्रय स्थान होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ही आत्मा के अनुभव का आश्रय स्थान है। महान्

बुद्धि वाले पुरुष कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति में अविचार, अज्ञान और मूर्खता ही सारभूत है और यही अन्तःकरण की उत्पत्ति में हेतु है। रघुनन्दन! जैसे प्रज्वलित दीपक से अन्धकार का तत्क्षण ही नाश हो जाता है, वैसे ही नित्य सिद्ध आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही चित्त का तत्क्षण नाश हो जाता है। जैसे बन्दर वन के एक वृक्ष को त्यागकर दूसरे वृक्ष पर चला जाता है, उसी प्रकार वासना के वशीभूत जीव कर्मानुसार एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में चला जाता है। श्री राम! जिस शरीर में वह चला गया, उस शरीर को भी त्याग कर फिर दूसरे समय में अन्य विशाल देश के अन्तर्गत दूसरे शरीर में चला जाता है। इस प्रकार जीवों के यथार्थ स्वरूप को आवृत्त करके रहने वाली अपनी वंचक वासना जीवों को इधर-उधर भटकाती रहती है। वासना रूपी रज्जु में बंधे हुए जीव पहले से ही जीर्ण तो है ही, फिर भी वे पर्वत तुल्य जड़ शरीरों में अत्यन्त दुःख पूर्वक आयु क्षीण कर रहे हैं तथा वे दुर्वासनाओं से दीर्घकाल तक नरकों में निवास करते हैं।

(य) आत्मा का स्वरूप (सर्ग-72)

रघुनन्दन! तुम देह के उत्पन्न होने पर उत्पन्न नहीं होते और देह के नष्ट हो जाने पर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूप में तुम विकार रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देह के नष्ट हो जाने पर शुद्ध आत्मा का नाश नहीं होता; इसलिए जो देह का विनाश हो जाने पर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ।' इस प्रकार के भावना से दुःखी होता है, उस अन्ध बुद्धि को धिक्कार है। जैसे मार्ग बटोहियों के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक का अनुभव नहीं करता, वैसी ही विशुद्ध आत्मा

शरीरों के संयोग-वियोग में हर्ष-शोक से रहित है। ये कल्पित, स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही है। इस पाँच भूतों के शरीर में पाँचों भूतों के संघात के सिवा और कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता। स्त्री की सुन्दरता, रूप लावण्य और शरीर संगठन को लेकर जो विलक्षणता दिखाई देती है उसमें तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है, किन्तु विवेकी पुरुषों को तो वह पाँच भूतों का पिंड ही दिखाई देता है। जैसे एक पत्थर से बनाई गई दो पाषाण प्रतिमाओं में परस्पर आलिंगन होने पर उनमें राग नहीं होता, उसी प्रकार चित्त और शरीर का परस्पर आलिंगन होने पर भी राग नहीं होना चाहिए। तथा जैसे पत्थर की बनाई गई प्रतिमाओं में परस्पर-स्नेह का सम्बन्ध नहीं होता, वैसी ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राणों में भी परस्पर स्नेह का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए यहाँ शोक किसका? यह जीवात्मा चित्ताकृति को प्राप्त कर देह और प्राणियों के साथ संयोग करता है तथा यथार्थ ज्ञान द्वारा विषय रूपी मलिनता का परित्याग करके स्वयं ही विशुद्ध आत्मरूपता को प्राप्त करता है। आसक्ति से रहित जीवात्मा दृष्टा-साक्षी हुआ देह को आत्मा से भिन्न देखता है। जैसे समुद्र की तरंगें अनेक प्रकार के रत्नों के साथ अनासक्त भाव से व्यवहार करती है, उसी प्रकार वासना रहित उत्तम महात्मा लोग भी चित्त की चेष्टाओं के साथ अनासक्त भाव से व्यवहार करते हैं। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला वह मनुष्य इस संसार में अपने सांसारिक व्यवहारों से मलिन नहीं होता।

श्री राम! मुक्त होने के अनन्तर वहाँ आत्मा का स्वरूप न स्थूल है न अणु, न प्रत्यक्ष है न अप्रत्यक्ष, न चेतन है न जड़, न असत् है न सत्, न अहंरूप है न अन्य रूप, न एक है न

अनेक, न समीप है न दूर, न सत्तायुक्त है न असत्तायुक्त, न ग्राप्य है न अप्राप्य, न सर्वात्मक है न सर्वव्यापक, न पदार्थ है न अपदार्थ, न पाँचों भूतों का आत्मा है और न पाँचों भूत ही। (वह मन, वाणी और बुद्धि का विषय ही नहीं है इसलिए उसे इंद्रियोंके द्वारा न कहा जा सकता है न समझाया जा सकता है। अतएव उसका यहाँ निषेधमुख से वर्णन किया गया है। श्रुति में भी उसका निषेधमुख से वर्णन किया गया है।) इन छः इन्द्रियों का विषय जो यह दृश्य जगत् है वह कुछ भी नहीं है। उसमें अतीत जो पद है, वही यथार्थ वस्तु है। यह आत्मा ही कठोरता, द्रवता, प्रकाश, स्पन्दन, और अवकाश क्रम से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप सम्पूर्ण जगत् भावों में विद्यमान है। पदार्थ की जो सत्ता है वह चेतन आत्मा के सिवा दूसरी वस्तु नहीं है; इसलिए जो यह कहता है कि 'मैं आत्मा से अतिरिक्त हूँ' उसके इस कथन को उन्मत्त के प्रलाप समान समझो।

अध्याय : 27

जीवन्मुक्त के लक्षण

(सर्ग 73-77)

(अ) अहंकार दृष्टि (सर्ग 73-74)

रघुनन्दन! दो प्रकार की अहंकार दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल है। उनकी तत्त्वज्ञान से उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करने वाली और परमार्थ स्वरूपा है। मैं सबसे परे, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थों से अतीत हूँ-यह पहली अहंकार दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ-यह दूसरी अहंकार दृष्टि है। इन दोनों से भिन्न तीसरी अहंकार दृष्टि यह है-देह मैं हूँ। इस सृष्टि को तुम केवल दुःखदायिनी जानो, यह कभी शाँतिदायिनी नहीं होती। तुम इन तीनों ही अहंकारों को छोड़कर सबके शेष में रहने वाले अहंभाव शून्य पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप का अवलम्बन करके उसी अवलम्बन योग्य परम तत्त्व में निरत हुए ही स्थिर रहो; क्योंकि इस मिथ्या जगत् में परिपूर्ण और सर्वप्रकाशक आत्मा वास्तव में अखिल प्रपंच स्वरूप से युक्त और समस्त पदार्थों की सत्ता से अतीत ही है।

(ब) आत्मा अनुभव से जाना जाता है

इसलिए श्री राम! तुम अपने ही अनुभव से शीघ्र देखो कि तुम सदा सर्वदा प्रकट सच्चिदानन्दघन परब्रह्म स्वरूप ही हो। आत्मा न तो अनुमान से प्रत्यक्ष होता है और न आप्तवचन

तथा शास्त्र आदि के श्रवण मात्र से ही; किन्तु वह सदा सर्वदा सब प्रकार से केवल अनुभव से ही प्रत्यक्ष होता है। वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालों में सदा-सर्वदा सब जगह स्थित है तथापि केवल सूक्ष्म और महान् होने के कारण वह अज्ञानी पुरुषों के द्वारा जानने में नहीं आता। जैसे लोक दृष्टि से सारे पदार्थों का अस्तित्त्व सर्वत्र विद्यमान है उसी प्रकार परमार्थ दृष्टि से सच्चिदानन्दघन परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा सर्वव्यापी है; वह कहीं एक देश में स्थित है-ऐसी बात नहीं है। सबका यह आत्मा किसी समय भी वास्तव में न तो उत्पन्न होता है न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है। जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति दुःख देने वाली ही होती है, वैसी ही आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न देह आदि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि रूप भ्रान्ति केवल दुःख देने वाली ही होती है। यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि वह अनादि है; और यह विनष्ट भी नहीं होता क्योंकि यह अजन्मा है। तथा यह आत्मभिन्न वस्तु की कभी भी अभिलाषा नहीं करता, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। यह आत्मा दिशा, देश और काल से परिमित न होने के कारण कभी भी बँधता नहीं, और जब बन्धन ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँ से होगा। अतएव आत्मा वास्तव में बन्ध-मोक्ष से रहित है। किन्तु लोग शरीर का विनाश होने पर अविचार से मोहित हुए व्यर्थ ही रुदन करते हैं। सम्पूर्ण विषयों में अनासक्ति से संकल्प और कामना का अभाव हो जाने के कारण जो स्वतः ही साधक के मन का विनाश हो जाता है, उसी को आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ महा-पुरुषों ने 'मोक्ष' नाम से कहा है।

(स) अविद्या नाश से ही मुक्ति

श्री राम! चित्त और अहंकार की कल्पना व्यर्थ ही की गई है। मन और अहंकार–इन दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर दोनों का विनाश हो ही जाता है। इसलिए अन्यान्य इच्छाओं का परित्याग करके अपने वैराग्य और आत्म-अनात्म के विवेक से केवल मन का ही विनाश कर देना चाहिए। जैसे वायु वृक्ष के पल्लवों की पंक्ति को चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देह में अंगों की पंक्तियों को पर्याप्त रूप से चलाता है; किन्तु सब पदार्थों को व्याप्त कर लेने वाला अति सूक्ष्म आत्मा न तो स्वत: चल है और न किसी से चलायमान होता है। यह प्राणादि वायु से कंपित नहीं होता।

श्री राम! वास्तव में असत्य होते हुए भी सत्य-सी दिखाई देने वाली यह अविद्या रूपी वासना विषयों की अभिलाषा से युक्त मन रूप मत्त मृग को मृगतृष्णा खींचती है, किन्तु उस अविद्यारूप वासना का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर उसका विनाश हो जाता है। फिर यह मन को नहीं खींच सकती। जैसे दीपक से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से वासना समूल (अविद्या सहित) नष्ट हो जाती है। अविद्या का अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है–इस तरह शास्त्र और युक्ति से दृढ़ निश्चय हो जाने पर अविद्या का तत्क्षण विनाश हो जाता है।

(द) जीवन्मुक्त के लक्षण

श्री राम! तत्त्वज्ञानी पुरुष इच्छाओं के कारण रूप अज्ञान को नष्ट कर देता है, वह परमशान्ति को पा लेता है, तथा अपने स्वरूप में सदा अचल स्थित रहता है। वह परम तृप्त

रहता है। वह किसी प्रकार की इच्छा नहीं करता, न वह किसी का अनुमोदन करता है—वह उदासीन रहता है। तत्त्वज्ञ पुरुष न तो त्याग करता है न ग्रहण, न किसी की स्तुति करता है न किसी को निन्दा, न मरता है न जन्म लेता है, न हर्ष करता है न शोक। वह समस्त आरंभों, संपूर्ण विकारों और सारी आशा, इच्छा, वासना आदि से रहित पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

श्री राम! आशा का त्याग ही सबसे बढ़-चढ़कर सुख शान्ति है। जिस परम निर्वाण रूप मोक्ष के लिए तीनों लोकों की सम्पत्तियाँ तिनके की तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशा के त्याग से ही प्राप्त होती है। मेरे लिए यह होना चाहिए और यह नहीं होना चाहिए—इस प्रकार की इच्छा जिसके चित्त में नहीं होती, उस स्वाधीन चित्त वाले ज्ञानी महात्मा पुरुष की मनुष्य कैसे तुलना कर सकते हैं?

जैसे वीर केशरी के पास से मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्य से संसार को मोहित करने वाली माया दूर भाग जाती है। जिसका अन्तःकरण किसी भी भोग पदार्थ में आसक्त नहीं है, वह तत्त्व मानों महात्मा पुरुष बिना प्रयत्न के अपने आप प्राप्त अनिषिद्ध भोग पदार्थ का केवल शरीर रक्षा के लिए अनासक्त भाव से लीला पूर्वक सेवन करता है। विशुद्ध प्रकाश स्वरूप परमात्मा का एक बार यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता। अपने हृदय की चिज्जड़-ग्रंथि का उच्छेद हो जाने पर माया के तीनों गुणों के द्वारा आत्मा का पुनः बन्धन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे वृक्ष से टूटा हुआ फल किसी के द्वारा पुनः नहीं जोड़ा जा सकता। अविद्या का असली स्वरूप

जान लेने के अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें फँसता है; क्योंकि सांसारिक वासना विवेकपूर्ण बुद्धि के विचार से निवृत्त हो जाती है।

श्री राम! वह तत्त्वज्ञ पुरुष प्रारब्ध भोग विधान के अनुसार चाहे दरिद्र अवस्था में रहे या संकटावस्था में, उत्तम नगर के महल में रहे या विस्तृत पहाड़ या वन में, वह सदा-सर्वदा सुख-दु:ख के उपद्रव से रहित ही होता है।

(य) जीवन्मुक्त महात्मा (सर्ग-75)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! अपने राज्य के व्यवहार में तत्पर होते हुए भी राजा जनक सम्पूर्ण चिन्तारूप ज्वर से तथा अन्त:करण की व्याकुलता से रहित होकर ही सदा-सर्वदा स्थित रहते हैं। आपके पितामह दिलीप ने अनेक तरह से उचित साँसारिक कर्मों को सुचारुरूप से करते हुए भी आसक्ति से रहित होकर ही दीर्घकाल तक पृथ्वी का पालन किया तथा आत्मज्ञान को प्राप्त हुए। आत्मज्ञान प्राप्त तथा जीवन्मुक्त महाराजा मनु ने चिरकाल तक प्रजाओं का संरक्षण करते हुए राज्य का पालन किया। महाराज मान्धाता भी परमपद प्राप्त हुए। पाताल के राजा बलि व्यवहार को करते हुए भी जीवन्मुक्त रूप में स्थित हैं। पाताल तल का परिपालन करत समय दानवोचित कर्मों का अनासक्त भाव से अनुष्ठान करते हुए भक्त प्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परम पद को प्राप्त हुए। स्वामी कार्तिकेय ने मुक्त होते हुए भी तारकादि असुरों से युद्ध किया। महामुनि नारद मुक्त स्वभाव होते हुए भी इस जगत् में कार्यशील और शान्त बुद्धि से विचरण किया करते हैं। जीवन्मुक्त होकर ही नागराज शेष,

पृथ्वी को धारण करते हैं। यमराज धर्माधर्म विचारपूर्वक लोगों का नियमन करते हैं। इनके सिवा दूसरे भी सैंकड़ों महात्मा मुक्तस्वरूप होते हुए ही संसार में अनासक्त भाव से विचरण करते हैं। कुछ महात्माओं ने परम ज्ञान का सम्पादन करके तपोवन का आश्रय लिया जैसे भृगु, भारद्वाज, विश्वामित्र, शुक्र आदि। कुछ तत्त्वज्ञ आकाश में ग्रह, नक्षत्र आदि का आधारभूत ज्योतिश्चक्र के मध्य में स्थित हैं-जैसे वृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियों में भी सदा से कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियों में भी मूर्ख बुद्धि वाले लोग विद्यमान हैं।

श्री राम! मुक्ति हो जाने पर फिर इस संसार में किसी प्रकार जन्म की प्राप्ति संभव नहीं। ज्ञान से मुक्ति सुलभ है और अज्ञान से दुर्लभ। अत: जिसको मुक्ति की अभिलाषा हो उसे आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए। आत्म-ज्ञान से सम्पूर्ण दु:खों का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस वर्तमान काल में भी अनेक जीवन्मुक्त महात्मा विद्यमान है। श्री राम! तुम भी जीवन्मुक्त होकर विचरण करो। मुक्ति और साधना के बिना तो गाय का खुर टिके, इतनी भूमि भी नहीं लांघी जा सकती।

(र) जीवन्मुक्त महात्माओं के गुण (सर्ग 76-77)

रघुनन्दन! यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, अविवेक से स्थिरता को प्राप्त होता है और परमार्थ के यथार्थ ज्ञान से निश्चय ही प्रशान्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ ज्ञान न होना ही संसार की स्थिति में कारण है और परमात्मा का यथार्थ ज्ञान ही इस संसार के विनाश का कारण है। यह

संसार सागर इतना घोर है कि युक्ति और प्रयत्न के बिना इसका हरण नहीं किया जा सकता।

श्री राम! तत्त्वज्ञानी पुरुष का मन विक्षेप रहित होता है, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है, वह जगत् व्यवहार को कठपुतली के खेल के समान देखता है, वह न भविष्य की परवाह करता है, न वर्तमान में किसी पदार्थ में तन्मय होता है, न भूत कालीन वस्तु का स्मरण करता है, वह सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञान में जागता रहता है और जागता हुआ भी संसार से निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्त्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता। वह समस्त कार्यों को करते हुए भी समभाव में स्थित रहता है। वह उदासीन मनुष्य की तरह स्थित रहता है। वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुई क्रियाओं में न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है। वह प्राप्त हुई दुःखावस्था की उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्था की परवाह ही करता है। न कार्यों के सफल होने पर हर्षित होता है और न कार्यों के विनष्ट होने पर खिन्न होता है। आश्चर्य समूहों के होने पर भी उसको आश्चर्य नहीं होता। वह कभी भी दीनता युक्त नहीं होता, न कभी उद्दंड होता है, न कभी उन्मत्त, और खिन्न ही होता है। श्री राम! तिलों के भस्म हो जाने पर तेल की कल्पना ही कैसी हो सकती है। इसी प्रकार मूल सहित मन के नष्ट हो जाने पर संकल्प की चर्चा ही क्या है। वह परमात्मा में एकीभाव से स्थित होकर आनन्दवान् रहता है।

अध्याय : 28

चित्त निरोध के उपाय

(सर्ग 78-93)

(अ) चित्त और संकल्प अभिन्न है (सर्ग-78)

वशिष्ठ जी कहते हैं-श्री राम! जैसे रात्रि में जलती हुई लुकाठी को गोल घुमाने से अग्निमय चक्र असत् होते हुए भी सत्-सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही चित्त के संकल्प से असत् जगत् सत्-सा दिखाई पड़ता है। जैसे आकाश में नेत्र दोष से असत् मोर के पंख और मोती के समूह सत्य से दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही चित्त के संकल्प से असत् जगत् सत्य-सा दिखाई पड़ता है। रघुनन्दन! जैसे तिल और तेल, पुष्प और सुगन्ध तथा अग्नि और उष्णता एक दूसरे से अभिन्न रूप है; वैसे ही चित्त और संकल्प एक दूसरे से मिले हुए और अभिन्न रूप हैं। उनके भेद की केवल मिथ्या कल्पना की गई है।

(ब) योग और ज्ञान

श्री राम! चित्त के विनाश के लिए दो उपाय शास्त्रों में बतलाये गये हैं-एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और परमात्मा का यथार्थ अपरोक्ष साक्षात्कार ही ज्ञान है।

श्री राम! इस देह में विद्यमान असंख्य नाड़ियों में चारों

ओर से जो वायु प्रवेश करके व्याप्त होता है, वह प्राणवायु है। स्पन्दन के कारण भीतर क्रिया के वैचित्र्य को प्राप्त हुए उसी प्राणवायु के अपान आदि नामों की योगी-विवेकी पुरुषों ने कल्पना की है। चित्त का आधार यह प्राण है। प्राण के स्पन्दन से चित्त का स्पन्दन होता है और चित्त के स्पन्दन से ही पदार्थों की अनुभूतियाँ होती है, जिस प्रकार जल के स्पन्दन से चक्र की तरह गोल आकार की रचना करने वाली लहरें उत्पन्न होती है चित्त का स्पन्दन प्राण-स्पन्दन के अधीन है। अतः प्राण का निरोध करने पर मन अवश्य उपशान्त (निरुद्ध) हो जाता है-यह बात वेद-शास्त्रों को जानने वाले विद्वान् कहते हैं। मन के संकल्प का अभाव हो जाने पर यह संसार विलीन हो जाता है।

(स) प्राणों का निरोध (प्राणायाम)

श्री राम! शास्त्रों के अध्ययन, सत्पुरुषों के संग, वैराग्य और अभ्यास से सांसारिक दृश्य पदार्थों में सत्ता का अभाव समझ लेने पर चिरकाल पर्यन्त एकान्तता पूर्वक अपने इष्ट के ध्यान से और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में स्थिति के लिए तीव्र अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामों के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त ध्यान योग से प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकार का उच्चारण और ॐकार के अर्थ का चिन्तन करने से बाह्य विषयों से ज्ञान का अभाव हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन रूक जाता है। रेचक प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से विशाल प्राणवायु के बाह्य आकाश में स्थित हो जाने पर नासिका के छिद्रों को जब

प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम बाह्य कुम्भक प्राणायाम है। पूरक का दृढ़ अभ्यास करते-करते पर्वत पर मेघों की तरह हृदय में प्राणों के स्थित हो जाने पर जब प्राणों का संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण स्पन्दन रुक जाता है। इसी का नाम 'आभ्यंतर कुम्भक' प्राणायाम है। कुम्भ की तरह कुम्भक प्राणायाम के अनन्त काल तक स्थिर हो जाने पर और अभ्यास से प्राण का निश्चय स्तंभन हो जाने पर प्राणवायु के स्पन्दन का निरोध हो जाता है। इसी का नाम 'स्तंभवृत्ति प्राणायाम' है। जिह्वा के द्वारा तालु के मध्य भाग में रहने वाली घण्टिका को प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करने से जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्र में प्रविष्ठ हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प विकल्पों से रहित होने पर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय आकाशरूप परमात्मा के ध्यान से बाह्याभ्यन्तर सारे विषयों के विलीन हो जाने पर प्राणवायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। नासिका के अग्रभाग से लेकर बारह अंगुल पर्यन्त निर्मल आकाश भाग में नेत्रों की लक्ष्यभूत संवित् दृष्टि (वृत्तिज्ञान) के शान्त हो जाने पर अर्थात् नेत्र और मन की वृत्ति को रोकने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

अभ्यास से यानि योगशास्त्रों में प्रदर्शित पवन-निरोध के अभ्यास से ऊर्ध्वरन्ध्र के द्वारा (सुषुम्ना मार्ग से) तालु के ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायु का स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटि के मध्य में चक्षु-इन्द्रिय की वृत्ति के शान्त होने से आज्ञा चक्र में प्राणों के विलीन हो जाने पर जब चिन्मय परमात्मा का अनुभव हो

जाता है, तब प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वर के अनुग्रह से तुरन्त उत्पन्न हुए दृढ़ीभूत तथा समस्त विकल्पांशों से रहित परमात्म ज्ञान के हो जाने पर प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। हृदय में स्थित एकमात्र चिन्मय आकाश स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से, विषय-वासना के अभाव से और मन के द्वारा परमात्मा का निरन्तर ध्यान करने से प्राणों का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

(द) हृदय का स्वरूप

श्री राम! इस जगत् में प्राणियों के दो प्रकार के हृदय हैं- एक उपादेय तथा दूसरा हेय। इयत्तारूप से परिच्छिन्न इस देह में वक्षः स्थल के भीतर शरीर के एक देश में स्थित जो हृदय है, उसे तुम हेय हृदय जानो। चेतन मात्र स्वरूप में स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है। वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर और बाहर नहीं भी है। अर्थात् संसार के प्रतीति काल में तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर-सब जगह परिपूर्ण है और वास्तव में वह संसार के भीतर बाहर नहीं है; क्योंकि संसार का अत्यन्त अभाव है। अतः परमात्मा ही अपने आप में स्थित है। यह उपादेय परमात्मा ही प्रधान हृदय है। उसमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थों का दर्पण है अर्थात् उसी में यह संसार दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति संकल्प रूप से स्थित है और वही सम्पूर्ण सम्पत्तियों का कोष है। श्री राम! चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियों का हृदय कहा जाता है। जड़ और जीर्ण पत्थर के सदृश देह के अवयव का मांस खण्ड रूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है। इसलिए चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय

परमात्मा में वासनाओं से रहित होकर बलपूर्वक चित्त को लगाने से प्राण का स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। इन पूर्वोक्त उपायों से तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्यों के मुख से उपदिष्ट नाना संकल्पों से कल्पित उपायों से प्राण स्पन्द निरुद्ध हो जाता है। ये पूर्वोक्त योग विषयक युक्तियाँ अभ्यास के द्वारा ही श्रेष्ठ साधक के लिए संसार का उच्छेदन करने में बाधा रहित उपाय है। भ्रू, नासिका, तालु संस्थान तथा कंठाग्र-प्रदेश से लेकर बारह अंगुल परिमित प्रदेश में अभ्यास से प्राणलीन हो जाता है अर्थात् प्राणों का निरोध हो जाता है।

श्री राम! जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओं के अन्तरूप उस परमपद का अवलम्बन करके स्थित रहता है वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है। ऐसा महात्मा सब पुरुषों में श्रेष्ठ है।

(य) ज्ञानयोग (सर्ग 79-88)

श्री राम! इस जगत् में आदि और अन्त से रहित प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है-इस प्रकार का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चय को ज्ञानी महात्मागण 'सम्यक् ज्ञान' यानि परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ये जो घट-घट आदि आकारों से युक्त पदार्थों के सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही है; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है-इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ही परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान न होने से जन्म होता है और उसके यथार्थ ज्ञान से मोक्ष होता है। रज्जु का यथार्थ ज्ञान न होने से रज्जु सर्प रूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होने से रज्जुरूप ही दिखाई देती है। इस मुक्ति में संकल्प से

रहित, समस्त विषयों से रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्द रूप से विराजमान रहता है, उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता। इन तीनों लोकों में यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णता को प्राप्त हो जाय। उस परमात्मा से भिन्न न तो दृश्य जड़ जगत् है और न मन है। ब्रह्म ही यह दृश्यरूप बन कर चेष्टा कर रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाश रूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है; अतः क्या मोक्ष है और क्या बन्धन है? जितने बड़े से बड़े पदार्थ है, उन सबसे भी ब्रह्म महान् है। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती। जो महात्मा उस विशुद्ध परमात्मा का अनुभव करके अन्तःस्थ बुद्धि से सदा-सर्वदा स्थित रहता है, वह तत्त्वज्ञानी आत्माराम पुरुष भोगों के द्वारा बन्धन में नहीं पड़ता, उसके अन्तःकरण को काम आदि शत्रु तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। यह दृश्य जगत् ब्रह्म से पृथक् नहीं है। केवल कल्पनाओं में ही नानात्व है, वास्तव में नानात्व नहीं है-इस प्रकार विवेकपूर्वक भलीभाँति अर्थ को जान लेने वाला एक निश्चय युक्त ज्ञानी पुरुष विमुक्त कहा जाता है।

श्री राम! ज्ञान से ही मनुष्य दुःख के अभाव को प्राप्त होता है, ज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, ज्ञान से ही परमात्मा की प्राप्ति रूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञान के बिना नहीं मिलती। इसलिए मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(र) सिद्धियों की अनावश्यकता (सर्ग-८९)

श्री राम! जो चित्र विचित्र आकाश गमन आदि

क्रियाकलाप दिखाई पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थों का स्वभाव है। इसलिए वह आत्म तत्त्वज्ञों के लिए वांछनीय नहीं है। आत्मज्ञान से शून्य अमुक्त जीव, मणि, औषध आदि द्रव्यों की शक्ति से, पूर्वकृत कर्म की जन्मजात शक्ति से, योगाभ्यास आदि क्रियाओं की शक्ति से और काल की शक्ति से आकाश गमन आदि सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है। इन सिद्धियों का होना आत्मज्ञ पुरुष के लिए गौरव का विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्मा को प्राप्त कर चुका होता है, इसलिए वह अपने आत्मा में ही तृप्त रहता है। अविद्या के कार्य की ओर नहीं दौड़ता। संसार में जो कोई भी पदार्थ है, उन सब को आत्मज्ञ अविद्यामयी ही मानते हैं। इसलिए अविद्या से रहित तत्त्वज्ञ इनमें कैसे फँस सकता है जो योगाभ्यास आदि साधनों से अविद्यारूप आकाश गमन आदि सिद्धियों को ही सुख का साधन बना लेते हैं; वे आत्म तत्त्वज्ञ है ही नहीं।

श्री राम! मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्र प्रयोगों में उक्त प्रकार की शक्तियाँ स्वभावतः सिद्ध है। जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र, द्रव्य आदि की शक्तियाँ विष का विनाश कर देती है, जैसे मदिरा उन्मत्त कर देती है, जैसे मधु आदि वस्तुएं वमन करा देती हैं, वैसे ही युक्ति द्वारा प्रयुक्त मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योग की क्रिया आदि उपाय स्वभाव से ही सिद्धियों को अवश्य उत्पन्न करते हैं। किन्तु ये युक्तियाँ आत्मज्ञान में उपकारक नहीं है।

(क) चित्त विनाश ही मुक्ति (सर्ग ९०)

श्री राम! चित्त का विनाश दो प्रकार का होता है–एक

सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होने से हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होने पर होता है। इस संसार में चित्त का अस्तित्व दु:ख का कारण है और चित्त का विनाश सुख का कारण है। अत: पहले चित्त के अस्तित्व का भुने हुए बीज के समान विनाश करके तदन्तर चित्त के स्वरूप का भी विनाश कर देना चाहिए। अज्ञान से उन्पन्न हुई वासनाओं से व्याप्त जो जन्म का कारण मन है, उसी को अज्ञानियों का विद्यमान मन समझो। यह विद्यमान मन केवल दु:ख का ही कारण होता है। इसलिए जब तक मन का अस्तित्व है, तब तक दु:ख का विनाश कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, तब प्राणी का यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। यह मन ही दु:ख रूपी वृक्ष का मूल है। जब बाह्य वस्तुएँ महात्मा को परमात्म निष्ठा से विचलित नहीं करती तो उस महात्मा का चित्त भुने हुए बीज के समान नष्ट हुआ समझो। यही जीवन्मुक्त पुरुष की चित्त दशा नाश है। ब्रह्म की वासना से ओत-प्रोत, पुनर्जन्म से रहित जीवन्मुक्त पुरुष के मन की सत्ता है, वह सत्व नाम से कही जाती है। अरूप-मनोनाश विदेहमुक्त का ही होता है।

(ख) परमात्मा सब का कारण है (सर्ग-91)

श्री राम! इस शरीर का कारण चित्त है जो भाव और अभाव तथा दु:ख रूपी रत्नों का खजाना है। प्रतीत होने के कारण सत् और विनाशशील होने के कारण असत् रूप ये शरीर चित्त से ही उत्पन्न हुए हैं। जैसे मिट्टी से घड़े उत्पन्न होते हैं वैसे ही चित्त से यह दृश्य जगत् उत्पन्न होता है। अनेक

तरह की वृत्तियाँ धारण करने वाले इस चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं-एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़ वासना। जब शरीर की नाड़ियों में प्राणवायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। जीवात्मा का संकल्प ही चित्त है।

योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए योग शास्त्र में बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान रूप योग की युक्तियों द्वारा प्राण का निरोध करते हैं। प्राण निरोध से ही परमात्मा में स्थिति हो जाती है। तीव्र संवेग से आत्मा के द्वारा जिस पदार्थ की भावना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य स्मृतियों को छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वह जीवात्मा जिस किसी को देख लेता है, उस सब को वह सत् वस्तु मान लेता है और वासना के वेगवश वह अपने स्वरूप को भूल जाता है। इससे वह अनेक मानसिक आपत्तियों में व्याकुल रहता है। जिससे देहादि अनात्मा में आत्म भावना रूप और अवस्तु संसार में वस्तु भावना का अभाव होने पर मन मनन से रहित हो जाता है, तब मन का अभाव हो जाता है, जो परम उपरति स्वरूप है। जिसका चित्त अचित्त हो जाय वही विशुद्ध सत्त्व है। वासना और प्राण-स्पन्द-दोनों चित्त के कारण हैं। इनमें से किसी एक का लय हो जाने पर दोनों का और चित्त का विनाश हो जाता है। विदेह मुक्त ज्ञानी का वासना सहित चित्त और प्राण ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। वासना का ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से वह जीवात्मा के क्षोभ कारक कर्म से प्राण-स्पन्दन का उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है।

वासना और प्राण स्पन्दन-इन दोनों का कारण विषय है,

क्योंकि उसी के सम्बन्ध से दोनों स्फुरित होते हैं। हृदय में प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों का चिन्तन करके ही प्राण स्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिए विषय ही इन दोनों का बीज (कारण) है। इसलिए विषय चिन्तन का परित्याग करने से प्राण स्पन्दन और वासना-दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं।

रघुनन्दन! जीवात्मा ही इस चित्त का बीज है। जीवात्मा से रहित कोई भी विषय नहीं है क्योंकि जीवात्मा सब विषयों में व्यापक है। समस्त वासनाओं का अत्यन्त अभाव होने पर निर्विकल्प समाधि से परम आनन्द रूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

(ग) परमात्म स्वरूप

जीवात्मा ब्रह्म का अंश है; अतएव एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्मा का कारण कहा जाता है। श्री राम! सत्ता के दो रूप हैं-एक तो अनेक आकार वाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूप वाली वास्तविक सत्ता। जो दृश्यरूप विशेषता से रहित, निर्लेप और केवल सत् स्वरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसी को विद्वान् परम पद कहते हैं। वही वास्तविक स्वरूप है जो कभी नष्ट नहीं होता। उसका अभाव कभी नहीं होता। इस सत्ता-सामान्य का कोई कारण नहीं है क्योंकि वही सबका परम कारण है। जिस परम पद में सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती है, उस निर्विकार परम पद में स्थित पुरुष इस दुःखमय संसार में कभी नहीं आता और वही वास्तव में परम पुरुषार्थी है। वह परमात्मा ही समस्त कारणों का कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। वही सम्पूर्ण

सारों का सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारवस्तु नहीं है। उस आनन्दमय परमात्मा में ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाता है। वह परब्रह्म भारी से भी भारी, हल्के से भी हल्का, स्थूल से भी स्थूल और सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है। वह दूर से भी दूर, निकट से भी निकट, छोटे से भी छोटा और बड़े से भी अत्यन्त बड़ा है तथा सब का प्रकाशक होने से ज्योतियों की ज्योति है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं से रहित और सर्ववस्तु रूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंता से रहित और अहंस्वरूप है। श्री राम! उसकी प्राप्ति होने पर चित्त परम शान्त हो जाता है।

(घ) मन को वश में करने के उपाय (सर्ग-92)

रघुनन्दन! जब तक मन विलीन नहीं होता, तब तक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होता, और जब तक वासना विनष्ट नहीं होती, तब तक चित्त शान्त नहीं होता। जब तक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक चित्त की शान्ति कहाँ और जब तक चित्त की शान्ति नहीं होती, तब तक परमात्मा के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जब तक वासना का सर्वथा नाश नहीं होता तब तक तत्त्व ज्ञान कहाँ से होगा, और जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता, तब तक वासना का सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिए परमात्मा का यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय-ये तीनों ही एक दूसरे के कारण है। अतः ये दुःसाध्य हैं, किन्तु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करने से ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्री राम! विवेक से युक्त पौरुष प्रयत्न से भोगेच्छा का दूर से ही परित्याग करके इन

तीनों साधनों का अवलम्बन करना चाहिए। यदि इन तीनों का एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया जाए तो सैकड़ों वर्षों तक भी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं। वासनाक्षय, परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और मनोनाश-इन तीनों का एक साथ दीर्घ काल तक अभ्यास किया जाए तो अत्यन्त दृढ़ हृदय ग्रन्थियाँ नि:शेष रूप से टूट जाती हैं।

श्री राम! यह संसार की दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरों से मनुष्यों के द्वारा अभ्यस्त है; अत: चिरकाल तक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती। इसलिए चलते-फिरते, खाते-पीते इन तीनों के अभ्यास में लग जाना चाहिए। तत्त्वज्ञों का मत है कि वासनाओं के परित्याग के समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है। इसलिए वासना परित्याग के साथ-साथ प्राण-निरोध का भी अभ्यास करना आवश्यक है। वासनाओं का परित्याग करने से चित्त भुने हुए बीज के समान अचित्तरूप हो जाता है। चिरकाल तक प्राणायाम के अभ्यास से योगाभ्यास में कुशल गुरु द्वारा बताई हुई युक्ति से, स्वास्तिक आदि आसनों की सिद्धि से और उचित भोजन से प्राण-स्पन्दन का निरोध हो जाता है। परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने पर वासना उत्पन्न नहीं होती। परमात्मा को भलीभाँति यथार्थ रूप से जान लेना ही ज्ञान है। यह ज्ञान वासना का सर्वथा विनाश कर देता है। वासना का विनाश हो जाने पर चित्त विषयों में नहीं भटकता। बुद्धिमान् पुरुष को एकाग्रचित्त से बारम्बार एकान्त में बैठकर प्राण-स्पन्दन के निरोध के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अंकुश के बिना दूसरे उपायों से वश में नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्ति के बिना मन

वश में नहीं होता। अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु संगति, वासना का सर्वथा परित्याग और प्राण स्पन्दन का निरोध ये ही युक्तियाँ चित्त पर विजय पाने के लिए निश्चित रूप से दृढ़ उपाय है। इनसे तत्काल ही चित्त पर विजय प्राप्त हो जाती है। जो इन युक्तियों के होते हुए भी हठ पूर्वक चित्त को वशीभूत करना चाहते हैं वे दीपक का परित्याग करके अंगारों से अन्धकार का विनाश करना चाहते हैं। ऐसे लोगों को विवेकीजन हठी कहते हैं।

श्री राम! जिसने अपने चित्त का निग्रह कर लिया है उसने जन्म का फल पा लिया है। यदि इसका विचाररूपी अंकुर भी प्रकट हो जाए तो वही अभ्यास योग से सैकड़ों शाखाओं में फैल सकता है।

(ङ) ज्ञान और ज्ञेय भिन्न नहीं है (सर्ग-93)

श्री राम! परमात्मस्वरूप का अनुभव ही ज्ञान है। उसी ज्ञान के अन्दर ज्ञेय उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार दूध के अन्दर माधुर्य छिपा रहता है। सम्यक् ज्ञान से आलोकित पुरुष स्वयं ज्ञेय स्वरूप हो जाता है। सम और विशुद्ध स्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही ज्ञेय कहा जाता है। जिस प्रकार हंस मरुभूमि में रमण नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषय भोगों में भी आसक्ति न रखने वाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषय में रमण नहीं करता।

श्री राम! आसक्ति ही संसार का कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थों का हेतु है, आसक्ति ही वासनाओं की जड़ है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियों का मूल है। अतः आसक्ति के त्याग से ही मनुष्य जन्म-मरण से छूट जाता है।

वासना से जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धन का ही हेतु होता है।

॥ उपशम प्रकरण सम्पूर्ण ॥

द्वितीय खण्ड

निर्वाण प्रकरण

(पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध)

''अज्ञानी को ही यह जगत् दुःखमय और
ज्ञानी को सच्चिदानन्दमय प्रतीत होता है।''

अध्याय : 29

6. निर्वाण प्रकरण (पूर्वार्द्ध)
रामचन्द्रजी की ब्रह्मरूपता

(सर्ग 1-5)

(अ) विशुद्ध चित्त ही 'सत्त्व' है (सर्ग 1-2)

वशिष्ठ जी ने कहा–श्री राम! अब मैं तुम्हें समझाने के लिए यह और भी शाश्वत सिद्धिदायक उपदेश करता हूँ, इसे सुनो। परमात्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान का क्षय तथा वासना का विनाश हो जाने पर शोक शून्य परम पद प्राप्त हो जाता है। देश, काल और वस्तु से रहित एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है। उसके सिवा द्वित्वरूप जगत् तो अज्ञान से प्रतीत होता है। वास्तव में परमात्मा के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जब तक देह में अहंभावना रहती है तभी तक चित्त रूप भ्रम रहता है। जब तक जगत् की वासना शिथिल नहीं हो जाती तभी तक चित्त आदि प्रतीत होते हैं। जो जीवन्मुक्त महात्मा है, उनका पवित्र अन्तःकरण ही 'सत्त्व' नाम से कहा जाता है। उनमें द्वैतभाव, एकभाव और वासना नहीं हो सकती उनके चित्त आदि भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। विवेक से विशुद्ध हुआ चित्त 'सत्त्व' कहलाता है। वह फिर मोहरूपी फल उत्पन्न नहीं कर सकता। मूढ़ पुरुषों के भीतर पुनर्जन्म का

विधायक वासनायुक्त चित्त होता है; किन्तु तत्वज्ञान हो जाने पर वही वासना रहित सत्त्वरूप होकर पुनर्जन्म का बाधक हो जाता है।

(ब) राम की ब्रह्मरूपता (सर्ग 3-4)

श्री राम! तुम प्राप्तव्य वस्तु को प्राप्त कर चुके हो। तुम्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं है। तुम्हारा चित्त शुद्ध है और ज्ञान रूपी अग्नि से दग्ध हो चुका है; अतः वह भावी जन्म का कारण नहीं हो सकता। तुम जन्म-मरण से रहित हो। तुम चेतन स्वरूप ही हो अतः तुम अपने स्वरूप का स्मरण करो। उसे कभी भूलो मत। तुम वही परिपूर्ण, परम शान्त, सच्चिदानन्द, परब्रह्म रूप परमात्मा हो। सारा चराचर चेतन-समूह तुम्हारे अन्दर है। तुम सत् भी हो असत् भी हो। तुम स्वयं प्रकाशरूप हो। तुम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में नित्य स्थित हो। तुम्हें नमस्कार है। तुम आदि और अन्त से रहित, चेतनघन हो। तुम आकाश की तरह निर्मल और स्वस्थ हो। तुम लीला से ही सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश में धारण किये हुए हो। ऐसे ब्रह्म स्वरूप तुम्हें नमस्कार है।

निष्पाप राम! जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली असंख्य तरंगों का मूल कारण जल ही है, उसी प्रकार नाना प्रकार के असंख्य ब्रह्मांडों की उत्पत्ति और धारण करने वाला चेतन है, वह तुम हो। यह चराचर-जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है क्योंकि ब्रह्म ही सब का कारण है। चेतन से उसका अनुभव भिन्न नहीं है, अहम् से जीव भिन्न नहीं है, जीव से मन भिन्न नहीं है, मन से इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं है, देह से यह जड़ दृश्य जगत् भिन्न नहीं है, जगत् से भिन्न अन्य कोई

पदार्थ नहीं है। यह दृश्यमान जगत् रूपी चक्र चिन्मय परमात्मा ने ही अनादि काल से अपने संकल्प द्वारा प्रवृत्त किया है। श्री राम! जिसका त्रिकाल में अस्तित्व नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ता का ज्ञान कराने के लिए 'माया' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह माया इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने से विनष्ट हो जाती है। जब भोग तृष्णा रूपी विष का आवेश नष्ट हो जाता है–संसार के विषय भोगों से तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे गत रात्रि के अन्धकार के नष्ट हो जाने पर रतौंधी भाग जाती है, अध्यात्मशास्त्र रूपी विचार से तृष्णा विषरूपी महामारी क्षीण हो जाती है। जैसे विस्तृत आकाश में अव्यक्त वायु स्थिर है, वैसे ही भावाभाव से रहित हुए तुम उस अत्यन्त विस्तृत परम पद रूप अपने ब्रह्मस्वरूप में स्थिर हो।

(स) राम का आत्मबोध (सर्ग-5)

श्री रामचन्द्र जी ने कहा–भगवन्! मैं केवल परम शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ और परमानन्दमय स्वरूप में सुख पूर्वक स्थित हूँ। मुझे यह समस्त जगत् वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप दीख रहा है। मैं राग और वैराग्य से रहित हूँ। मैं अपने प्राकृत स्वरूप में स्थित हूँ–स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ। लोक जहाँ विश्राम करते हैं, उस सुख का केंद्र स्वरूप मैं हूँ। अतएव मैं वास्तविक राम हूँ। सदा शुद्ध आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है। सब कुछ आत्मा ही है।

अध्याय : 30

दुःखों का कारण अज्ञान

(सर्ग 6-13)

(अ) आत्मा शरीर से भिन्न है (सर्ग 6-8)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! जिस अज्ञानी पुरुष को अज्ञानवश देह में ही आत्म भावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुष को इन्द्रियाँ रोषपूर्वक शत्रु बनकर पराजित कर देती हैं। किन्तु जिसको ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्मा के स्वरूप में स्थिति रहती है, उस निर्दोष पुरुष की इन्द्रियाँ संतोषपूर्वक मित्र बनकर रहती है, उसका पतन नहीं कर सकतीं। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण है क्योंकि शरीर जड़ और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसी से न आत्मा शरीर का सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्मा का; अर्थात् परस्पर विरुद्ध होने के कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। पत्थर के समान जड़, ज्ञान रहित, तुच्छ, कृतघ्न तथा विनाशशील इस शरीर का जो कुछ भी होने वाला हो वह हो, इससे आत्मा की न तो हानि है और न इससे उसका कोई सम्बन्ध ही है। देह और आत्मा के यथार्थ ज्ञान से देह की असत्ता और आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सभी प्राणियों में अविनाशी चेतन रहता ही है, किन्तु जीवात्मा को इसका भली प्रकार ज्ञान न होने के कारण उसमें कायरता आ जाती है। ऐसे अज्ञानियों का जीवन व्यर्थ है।

(ब) अज्ञान ही दुःखों का कारण है।

श्री राम! अज्ञान ही आपत्तियों का आश्रय स्थान है। देश, धन, स्त्री आदि में आसक्ति रखने वाले अज्ञानी का यह दुःख कभी भी शान्त नहीं होता। यह माया बिना ज्ञान के नष्ट नहीं हो सकती। अज्ञानी जीव ही संसार में बार-बार जन्मता-मरता रहता है। विषयों की मधुरता अज्ञानरूपी वृक्ष के ही फल हैं। जो कुछ बारम्बार प्राप्त होने वाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य-यौवन-जरा-मरणरूपी महान् संताप हैं, जो सुख-दुःख की परंपरारूप संसार सागर में गोते लगाता है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकार की विभूतियाँ है।

(स) विद्या और अविद्या का स्वरूप (सर्ग-९)

श्री राम! ये सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु अविद्या के ही फल हैं। यह अविद्या अज्ञान से वृद्धि प्राप्त करती है और अज्ञानरूप ही फल देती है। यह अनेक प्रकार के विषयभोगों की वासनारूप गन्धों से अज्ञों को उन्मत करने वाली है। यह अविचार से उत्पन्न होती है तथा सत्-असत् के विचार से नष्ट हो जाती है। इसलिए यह विवेकी के लिए तो नष्ट हो जाती है और अविवेकी के लिए स्थित रहती है। उसका विवेक-वैराग्य पूर्वक यथार्थ ज्ञान द्वारा विनाश हो जाने पर परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

श्री राम! जिस प्रकार जल में तरंगें प्रकट होती हैं उसी प्रकार उस परमात्मा के संकल्प से कलारूप प्रकृति प्रकट होती है। यह प्रकृति सत्व, रज, तम-त्रिगुणमयी है। यह तीन गुण वाली प्रकृति की अविद्या (माया) है। यही प्राणियों का संसार है। इस प्रकृति के पार हो जाना ही परम पद की प्राप्ति है। यह सब दृश्य

प्रपंच अविद्या का कार्य होने से उसी के आश्रित हैं। ये सब ऋषि, मुनि, देवता आदि इस प्रकृति के सत्त्विक अंश स्वरूप है। प्रकृति का जो शुद्ध सत्त्व अंश है वह विद्या है। उस विद्या से अविद्या उसी प्रकार उत्पन्न होती है जिस प्रकार जल से बुद्‌बुद् उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार बुद्‌बुद् जल में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्या में ही यह अविद्या विलीन भी हो जाती है। जैसे जल और तरंग में एकरूपता है वैसे ही विद्या और अविद्या भी एक रूप ही है, पृथक् नहीं। परमात्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। अत: विद्या और अविद्या दृष्टि का परित्याग करने पर जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही वास्तव में विद्यमान है, दूसरा नहीं। क्योंकि न अविद्या नाम का पदार्थ है, और न विद्या नाम का ही। इसलिए यह कल्पना व्यर्थ है। वास्तव में परमात्मा को छोड़कर बच रहने वाला कुछ भी नहीं है। जब परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब वह अज्ञान ही अविद्या कहलाता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब वह ज्ञान ही अविद्या क्षय-इस नाम से कहा जाता है। आतप और छाया की तरह परस्पर विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनों में से विद्या का अभाव होने पर अविद्या नामक मिथ्या कल्पना प्रकट होती है, जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर छाया रह जाती है। श्री राम! विद्या का विनाश हो जाने पर विद्या और अविद्या दोनों ही कल्पनाओं का विनाश हो जाता है। इन दोनों का अभाव हो जाने पर एकमात्र परब्रह्म ही बच रहता है। वही चराचर प्राणियों का खजाना है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सकाशमात्र से जड़ लोह क्रियाशील हो जाता है, वैसे ही एकमात्र चिन्मय परमात्मा के सकाश से जड़ देहादि पदार्थ क्रियाशील होते हैं।

(द) स्थावर योनियों में चित्त सुषुप्ति की भाँति रहता है (सर्ग 10-12)

श्री राम! अज्ञानी बालक की तरह जीवात्मा अज्ञान के कारण चित्त स्वरूप को प्राप्त हुआ है, इसलिए चित्त के चलने पर अपने आप को चलता हुआ देखता है। यह आत्मा अज्ञान से ही इस उपद्रव युक्त चित्त विवेक शून्य है इसलिए रेशम के कीड़े की तरह अपने को चित्त गत वासना तंतुओं से भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता।

श्री राम! यह जीवात्मा सुषुप्ति की भाँति मननशीलता से च्युत हुआ स्थावर योनियों (वृक्ष, पहाड़ आदि) में साक्षी (उदासीन) की भाँति रहता है। वह मन न तो विलीन होता है न जंगम प्राणियों की भाँति चंचल ही रहता है, बल्कि मूढ़ मनुष्यों की तरह वह बीज की सी स्थिति में रहता है। स्थावर योनियों में जीवात्मा विवेक शून्य और दुःख का प्रतिकार करने में असमर्थ रहता है, अतः उन स्थावर शरीरों में मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा मैं मानता हूँ क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मेन्द्रियों से, ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से तथा मानस व्यापारों से शून्य हुआ केवल सत्तामात्र से स्थित रहता है। श्री राम! स्थावरों के भीतर भी अपनी वासना स्थित है।

इस आत्म दृष्टि का जो अभाव है, उसी को विद्वान् लोग अविद्या कहते हैं। अविद्या जगत् की कारणभूत है, अतः उसी से संपूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है। 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप नहीं है' इस प्रकार का निश्चय ही अविद्या स्वरूप है। 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है।

श्री राम! यह अज्ञान अत्यन्त बलवान् है। इसी का दूसरा

नाम 'अविद्या' है। यह अन्य असंख्य जन्मों से चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है। इन्द्रियाँ सर्वत्र अविद्या का ही अनुभव करती है इसलिए वह अविद्या दृढ़ हो गई है। यह जीवात्मा चेतन है। और यह पदार्थ जड़-इस प्रकार का मोह अज्ञानी को ही होता है, ज्ञानी को कभी नहीं होता। अज्ञानी को यह जगत् दु:खमय और ज्ञानी को सच्चिदानन्दमय प्रतीत होता है।

(य) योग से सिद्धि (सर्ग-13)

श्री राम! संसार सागर से पार उतरने के साधन का नाम 'योग' है। चित्त को शान्त करने के दो साधन हैं ज्ञान तथा योग। परमात्मा का यथार्थ ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है तथा प्राणों के निरोध को 'योग' कहा जाता है। यद्यपि शास्त्रों में 'योग' शब्द से उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के कहे गये हैं तथापि इस 'योग' शब्द की प्राण निरोध के अर्थ में ही अधिक प्रसिद्धि है। दोनों एक ही फल देने वाले हैं। किसी के लिए योग का साधन असाध्य-सा और किसी के लिए ज्ञान का साधन असाध्य-सा है, परन्तु मैं तो परमात्मा विषयक ज्ञान के साधन को ही सुसाध्य मानता हूँ। यह प्राण निरोध रूप योग देश, काल, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि उपायों से सिद्ध होता है; अत: वह सुसाध्य नहीं है। किन्तु साधक को सुसाध्य और दु:साध्य का विचार नहीं करना चाहिए। रघुकुल तिलक! ज्ञान और योग-ये दोनों ही उपाय शास्त्रोक्त हैं। अब तुम यह योग सुनो, जो प्राण और अपान के निरोध के नाम से प्रसिद्ध है तथा अणिमादि अनन्त सिद्धियों को देने वाला और परमार्थ ज्ञान प्रदान करने वाला

अध्याय : 31

वायसराज भुशुण्ड का उपाख्यान

(सर्ग 14-27)

(अ) भुशुण्ड का कथा प्रसंग (सर्ग 14-16)

वशिष्ठ जी कहते हैं–वत्स राम! इस ब्रह्माण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति के कारण तथा पूर्वकृत कर्मों के अनुसार प्राणीसमूह की रचना में संलग्न कमलयोनि ब्रह्मा पितामह रूप से स्थित है। उन्हीं ब्रह्मदेव का मैं सदाचार सम्पन्न मानसपुत्र हूँ। मेरा नाम वशिष्ठ है। मैं ध्रुवतारा धारण किये गये सप्तर्षि मण्डल में वैवस्वत मन्वन्तर पर्यन्त निवास करता हूँ। एक समय की बात है मैं स्वर्गलोक में देवराज इन्द्र की सभा में बैठा हुआ था। वहाँ देवर्षि नारद आदि विराजमान थे। वे चिरजीवियों की कथा सुना रहे थे। मैंने भी यह कथा सुनी थी। उस समय किसीकथा प्रसंग में मुनिवर शातातप कहने लगे 'मेरुगिरी के ईशान कोण में एक ऊँचा शिखर है। उसी चोटी पर एक विशाल कल्पतरु है। उसकी कोटर के एक घोंसले में एक परम ऐश्वर्यशाली कौआ निवास करता है। उस वीतराग वायस का नाम भुशुण्ड है। वह चिरकाल से जी रहा है। वैसा चिरजीवी तो स्वर्गलोक में न कोई हुआ है न होगा। वह रागरहित, ऐश्वर्ययुक्त शांत और सुन्दर रूप वाला भी है। वह काल की गति का पूर्ण ज्ञाता है। यह सुनकर मैं उस पक्षी को देखने चल दिया तथा वहाँ पहुँचा जहाँ वह रहता था। वहाँ अनेक पक्षी रहते थे। वहाँ मैंने अनेक कौओं के मध्य

आत्मज्ञान से परिपूर्ण भुशुण्ड को देखा। वह प्राण क्रिया के निरोध से अन्तर्मुख वृत्ति वाला और सुखी है। वह भूतकालीन सुर, असुर और महीपालों के इतिहास का ज्ञाता, प्रसन्न और गम्भीर मन से युक्त, चतुर तथा कोमल एवं मधुर वाणी बोलने वाला है। वह परमात्मा के सूक्ष्म तत्व का वक्ता तथा विज्ञाता है।'

मेरे वहाँ पहुँचते ही भुशुण्ड ने मुझे पहचान लिया तथा मेरा स्वागत किया तथा मेरे वहाँ आने का कारण पूछा। मैंने कहा-वायसराज! मेरे मन में एक सन्देह है, उसे तुम अपने यथार्थ वचनों द्वारा दूर करो। वह संशय यह है कि तुम किस कुल में उत्पन्न हुए हो? किस प्रकार तुम्हें ज्ञेय तत्व का ज्ञान प्राप्त हुआ? तुम्हारी आयु कितनी है? तुम्हें किस कल्प का चरित्र याद है? तुम्हारा यह निवास स्थान किसने निश्चित किया?

(ब) भुशुण्ड का वशिष्ठ के प्रश्नों का उत्तर देना

(सर्ग 17-23)

भुशुण्ड बोला-मुनिवर वशिष्ठ जी! इस जगत् में देवाधिदेव महादेव समस्त स्वर्गवासी देवताओं में श्रेष्ठ हैं। उनकी प्रधान आठ मातृ देवियाँ हैं जिनमें अलम्बुसा अत्यन्त विख्यात है। उनका वाहन कौआ है जिसका नाम चण्ड है। एक बार किसी महोत्सव में ब्राह्मी देवी के रथ को हाँकने वाली हंसियाँ इस चण्ड पर आसक्त हो गईं। चण्ड ने इनके साथ रमण किया जिससे वे सभी गर्भवती हो गयीं। समय आने पर इन हंसियों ने इक्कीस अण्डे दिये जिनसे हम इक्कीस भाई चण्ड के पुत्र रूप में कौए की योनि में उत्पन्न

हुए। हम लोग भगवती ब्राह्मी के अनुग्रह से जीवन्मुक्त होकर यहाँ स्थित हैं। पिताजी की आज्ञा से ही हम लोगों ने यहाँ अपना निवास बनाया है। हम लोगों को यहाँ लम्बा समय व्यतीत हो गया, यहाँ तक कि दिनों की भाँति युगों की पंक्तियाँ समाप्त हो गईं। मेरे सभी भाई शरीरों का त्याग कर चुके हैं।

ब्रह्मन्! मैं प्राणायाम के द्वारा योग बल से सम्पूर्ण कल्प की बात जान लेता हूँ। मेरा मन ज्ञान की प्राप्ति से उत्तम शांति को प्राप्त हो गया है। भयंकर दशा में भी हमारी बुद्धि पर्वत के समान स्थिर रहती है। युगान्त काल में जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्प वृक्ष सुस्थिर रहता है। अन्य लोकों में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए यह अगम्य है इसलिए हम लोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। कल्पान्त के समय प्रलय काल में मैं इन घोंसलों को छोड़ देता हूँ और आकाश में ही स्थित रहता हूँ। नई सृष्टि रचना होने पर मैं पुनः इस घोंसले में आ जाता हूँ।

मुनिश्रेष्ठ! मुझे इस पृथ्वी के विषय में ऐसा स्मरण है कि किसी समय यह शिला और वृक्षों से रहित थी। इस पर तृण और लता आदि भी नहीं थे। पर्वत, वन और भांति-भांति के वृक्ष ये कुछ भी नहीं थे और यह मेरु के नीचे स्थित थी। यहाँ यह ग्यारह हजार वर्षों तक भस्म से परिपूर्ण रही, ऐसा मुझे सम्यक् रूप से स्मरण है। मुझे असुरों का घोर संग्राम भी याद है। फिर यह एक चतुर्युगी असुरों के अधिकार में रही। अन्य चतुर्युगी के दो युगों तक यह भूमि वनैले वृक्षों से खचाखच भरी रही। उस समय इन वृक्षों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का

निर्माण नहीं हुआ था। एक समय यह वसुधा चारों युगों से भी अधिक काल तक घने पर्वतों से आच्छादित रही। उस पर मनुष्य चल-फिर भी नहीं सकते थे। एक समय यह पृथ्वी शून्य होकर अन्धकार से आच्छादित हो गई थी। ब्रह्मन्! मुझे तो यहाँ तक स्मरण है कि मेरे सामने सैंकड़ों चतुर्युगियाँ बीत गईं और ऐसे असंख्य मनु समाप्त हो गये। मुझे एक ऐसी सृष्टि का स्मरण है, जिसमें पर्वत और भूमि का नाम निशान भी नहीं था। चन्द्रमा और सूर्य के बिना ही पूर्ण प्रकाश छाया रहता था और देवता और सिद्ध मानव आकाश में ही रहते थे। मुझे ऐसी भी एक सृष्टि का स्मरण है, जिसमें न कोई इन्द्र था न भूपाल तथा उत्तम, मध्यम और अधम का भेद भी नहीं था। सब एक रूप था और दिशा मण्डल अन्धकार से व्याप्त था।

मुनिराज! पहले सृष्टि रचना का संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकों का निर्माण हुआ। उस त्रिलोकी में अवान्तर प्रदेशों का विभाग होने के बाद उनमें सात कुल पर्वतों की स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशों में जम्बू द्वीप की पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्मा जी ने उस जम्बू द्वीप में ब्राह्मणों आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णों के लिए योग्य विद्या विशेषों की सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनि मण्डल एवं नक्षत्र चक्र की स्थिति और ध्रुव मण्डल का निर्माण किया। तात! तदन्तर चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति, इन्द्र और उपेन्द्र की व्यवस्था, हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी का अपहरण, वराह रूपधारी भगवान् द्वारा उसका उद्धार, भूपालों की रचना, मत्स्य रूपधारी भगवान् द्वारा वेदों का लाया जाना, मन्दराचल का उन्मूलन, अमृत के लिए क्षीर सागर का मन्थन, गरुड़ का शैशव, जबकि उसके पंख नहीं जमे थे और सागरों कि उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टि की स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो

मेरी अपेक्षा अल्प आयु वाले योगी भी स्मरण करते हैं।

मुनिवर! आप तो ब्रह्मा के पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्म में मेरा आपसे समागम होगा- यह मुझे पहले से ही ज्ञात था। इस वर्तमान सृष्टि जैसी तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं जिसका मुझे भली-भाँति स्मरण है। मुझे यह बारहवाँ समुद्र मन्थन याद है। प्रत्येक युग में वेद आदि शास्त्रों के ज्ञाता व्यास आदि महर्षियों द्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद है। रामायण नाम से प्रसिद्ध जो दूसरा आश्चर्यजनक इतिहास है जिसकी श्लोक संख्या एक लाख है, उस ज्ञान शास्त्र का भी मुझे स्मरण है उसके निर्माता महर्षि बाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत् में जो (वशिष्ठ राम संवाद रूप) दूसरे ज्ञान शास्त्र की रचना की जायेगी, उसका भी मुझे ज्ञान है।

महाराज! जो वासना पाप से रहित है, उसको मृत्यु मारने की इच्छा नहीं करती लोभरूपी सर्प जिसको नहीं डसता, क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, कामदेव जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, जिसका मन परमात्मा में ही स्थित है, जिसका मन चंचल नहीं है, उसे मृत्यु नहीं मार सकती। तात! जगत् में कोई भी स्थिर और मंगलदायक पदार्थ नहीं है। त्रिलोकमय सम्पूर्ण संसार में आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक ही भरे हैं, वास्तविक सुख-शांति का नामोनिशान भी नहीं है। इसलिए नाशवान् क्षणभंगुर संसार से तीव्र वैराग्य करना चाहिए।

(स) प्राणों की गति (सर्ग-24)

भुशुण्ड जी कहते हैं-मुनिराज! इडा और पिंगला नाम की दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देह रूपी घर के बीच दाहिने

और बायें भाग में स्थित कोष्ठ में यानि कुक्षि में रहती हैं। उनका किसी को भान नहीं होता, वे केवल नासापुट में प्राण संचार द्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देह में यन्त्र के सदृश तीन कमल के जोड़े हैं। वे अस्थि मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओर से नालदण्ड लगे हुए हैं और वे संपुटित होकर एक-दूसरे से मिले हुए कोमल सुन्दर दलों से सुशोभित हैं। उन तीन हृदय कमल यंत्रों में प्राण की समस्त शक्तियाँ ऊपर ओर नीचे की ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं जिस प्रकार चन्द्र बिम्ब से किरणें फैलती हैं। हृदय कमल में स्थित वही वायु पण्डितों द्वारा प्राण के नाम से कही जाती है। इसी की कोई एक शक्ति नेत्रों को स्पन्दित करती है, उसी की एक शक्ति स्पर्श का ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिका द्वारा श्वास-उच्छ्वास का निर्वाह करती है, कोई वाक्यों का उच्चारण करती है। शरीर के सभी व्यापार वह शक्ति सम्पन्न वायु ही करती है। मुने! मैं इस प्राण और अपान नामक प्राणों का अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ।

(द) प्राणायाम से मुक्ति (सर्ग-25)

भुशुण्ड ने कहा-ब्रह्मन्! प्राण में स्पन्दन शक्ति तथा निरन्तर गति क्रिया रहती है। यह प्राण हृदय देश में स्थित रहता है। अपान वायु में भी निरन्तर स्पन्द शक्ति तथा सत् गति रहती है। यह अपान वायु नाभि-देश स्थित रहता है। किसी भी प्रकार के यन्त्र के बिना प्राणों की हृदय कमल के कोश से होने वाली जो स्वभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान् लोग उसे 'रेचक' कहते हैं। बारह अंगुल पर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो

शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। अपान वायु के शान्त हो जाने पर तब तक हृदय में प्राण वायु का अभ्युदय नहीं होता, तब तक वह वायु की कुंभकावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं इसी को 'आभ्यन्तर कुंभक' कहते हैं। ब्रह्मन्! मृतिका के अन्दर असिद्ध घट की स्थिति के सदृश बाहर नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुल पर्यन्त आकाश में जो अपान वायु की निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग 'बाह्य कुंभक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण वायु के अस्तंगत होने पर जब तक अपान वायु का उद्‌गम नहीं होता, तब तक एक रूप से स्थित पूर्ण 'दूसरा' बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। प्राण और अपान वायु के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुंभकादि प्राणायाम है, उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता। प्राणायाम के तत्त्व-रहस्य को जानने वाले योगी के स्वभावतः अत्यन्त चंचल ये वायु चलते, उठते, बैठते, जागते, सोते-सभी अवस्थाओं में उसके इच्छानुसार निरुद्ध हो जाते हैं। मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकार से इन कुम्भक आदि प्राणायामों का स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या खाता है, उनमें वह कर्त्तव्य आदि के अभिमान से तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

महर्षि! इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर ही बाह्य विषयों में रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धि वाले महात्मा इस प्राण विषयक दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया है और वे ही

समस्त खेदों से रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और जागते– सदा सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व–रहस्य समझ कर प्राणायाम का अभ्यास करे तो वे कभी बन्धन को प्राप्त ही न हों! प्राण और अपान की उपासना द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान से युक्त पुरुषों का मन, जो मलस्वरूप मोह से रहित एवं स्वस्थ है, इस अन्त:स्थित परमात्मा में ही सदा-सर्वदा लगा रहता है। इसे जानकर वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मन्! हृदय कमल से प्राण का अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुल पर्यन्त प्रदेश में यह प्राण विलीन होता है। बाह्य बारह अंगुल की चरम सीमा से अपान का उदय होता है और हृदय प्रदेश में स्थित कमल में उसकी गति अस्त होती है। यह प्राण–वायु अग्नि शिखा की भाँति बाह्य आकाश के सम्मुख होकर बहता है और अपान वायु जल की तरह हृदयाकाश के सम्मुख होकर निम्न भाग में बहता है। चन्द्रमा रूप अपान वायु शरीर को बाहर से पुष्ट करता है और सूर्य रूप प्राण वायु इस शरीर को भीतर से परिपक्व कर देता है। प्राण–वायु उत्तम सूर्य ही है। अपान वायु का प्राण वायु से हृदयस्थ ब्रह्म के साथ जब सम्पर्क होता है तो मनुष्य शोक को प्राप्त नहीं होता तथा प्राण वायु का अपान वायु से बाह्य कुंभक में सम्पर्क होने पर बाह्य ब्रह्म से सम्बन्ध होता है। उस ब्रह्मपद को प्राप्त मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

जब अपान के प्रकट होने से पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, वह स्वाभाविक सिद्ध हुई बाह्य कुंभक अवस्था है, उसी को योगी लोग 'परम पद' कहते हैं। इसी प्रकार अन्तस्थ कुंभक ब्रह्म रूप परम पद है। यही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है तथा यही परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर

मनुष्य शोक रहित हो जाता है।

हम लोग उस चेतन परमात्मा की उपासना करते हैं जिसकी सत्ता-स्फूर्ति से मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है, एवं अहंकार अहंता को प्राप्त है। जिस परमात्मा में समस्त पदार्थ विद्यमान है, और जो सब ओर स्थित है, और जो सर्वमय है, हम लोग उस चिन्मय परमात्मा की निरन्तर उपासना करते हैं।

जो सम्पूर्ण ज्योतियों का प्रकाशक है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओं से रहित है, उस चेतन परब्रह्म परमात्मा की हम उपासना करते हैं। जहाँ पर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है, तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हम लोग उस चेतन तत्त्व रूप परमात्मा की उपासना करते है।

•

(य) भुशुण्ड का अपनी स्थिति का वर्णन

(सर्ग 26-27)

भुशुण्ड ने कहा-महामुने! मैंने प्राण समाधि के द्वारा पूर्वोक्त रीति से विशुद्ध परमात्मा में यह चित्त विश्राम रूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायाम का अवलम्बन करके दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ इसलिए सुमेरु पर्वत के विचलित होने पर भी मैं चलायमान नहीं होता। मैं चलते, फिरते, सोते, जागते इस ब्रह्माकार रूप समाधि से विचलित नहीं होता। मैं परम पद को प्राप्त हो गया हूँ। महाप्रलय से लेकर प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश को देखता हुआ, मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी है और जो होने वाली है उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता।

न्याय युक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फलाभिलाषाओं से रहित होकर अनुष्ठान करता रहता हूँ। इसलिए मैं दोष रहित होकर चिरकाल से जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया है और भविष्य में दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं कभी किसी की स्तुति या निन्दा नहीं करता। शुभ की प्राप्ति होने पर मेरा मन हर्षित नहीं होता क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने! मेरे मन की चंचलता शान्त हो चुकी है, मेरा मन शोक से रहित, स्वस्थ समाहित एवं शान्त हो चुका है। इसलिए मैं विकार रहित हुआ चिरकाल से ही रहा हूँ। जरा और मरण आदि से मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य प्राप्ति आदि से हर्षित नहीं होता। ब्रह्मन्! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है, एवं यह दूसरे का है–इस प्रकार की भेद बुद्धि से मैं रहित हूँ। ज्ञान के पारंगत ब्रह्मन्! एक मात्र आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए ही धृष्टतापूर्वक मैंने जो और जैसा हूँ, वह सब आपसे यथार्थ रूप से बता दिया है।

वशिष्ठ जी ने कहा–ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज! आपने मुझसे बुद्धि को पवित्र करने वाला अपना सम्पूर्ण जीवन वृतान्त ज्यों-का-त्यों ठीक-ठीक कहा है। मैंने इस जगत् में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानी को नहीं देखा। आप जैसे ज्ञानी महात्माओं का प्राप्त होना तो इस जगत् में अत्यन्त दुर्लभ है। पक्षिराज! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं देवलोक में जा रहा हूँ। यह कर कर मैं आकाश मार्ग से चल दिया।

श्री राम! सत्युग के दो शतक व्यतीत होने पर मैंने भुशुण्ड के साथ पहले पहल भेंट की थी। इस समय सत्युग के क्षीण

हो जाने पर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुग के मध्य में आप प्रकट हुए हैं। आज से आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वत के उसी शिखर पर मैं भुशुण्ड से फिर मिला था। इसका वृतान्त मैंने तुमसे कहा। इस पर विचार करो।

वाल्मीकि जी कहते हैं–भारद्वाज! भुशुण्ड की इस उत्तम कथा का जो विशुद्ध बुद्धि मनुष्य विचार करेगा वह इस मायानदी को पार कर जाएगा।

अध्याय : 32

मानस शिव पूजा

(सर्ग 28-43)

(अ) आसक्ति त्याग (सर्ग-28)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! भुशुण्ड की तरह प्राण और अपान की उपासना करने वाले सभी अनासक्त बुद्धि मनुष्य परम पद परमात्मा में स्थिति प्राप्त कर सकते हैं।

श्री राम! इस शरीर का किसी ने भी निर्माण नहीं किया। यह शरीर केवल आभास रूप ही है। यह देह प्रतीत होता है इसलिए इसे सत् कहा जाता है और वास्तव में यह नहीं है, इसलिए असत् कहा गया है। देह की प्रतीति होने पर यह सत्य-सी है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर असत्य है। यह अज्ञान काल में ही प्रतीत होती है। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है–इस प्रकार की जो भ्रम जनित प्रतीति होती हैं, वह भी अज्ञान से ही होती है।

परमात्मा के तत्त्व का साक्षात्कार होने पर जगत् चिन्मय परमात्मरूप ही अनुभव होने लगता है। यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसार को कल्पित समझ कर भयभीत नहीं होता।

इसलिए असत्यरूप इस संसार में तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। जैसे रज्जु से बैल बँध जाता है वैसे ही आसक्ति से मनुष्य बँध जाता है। अत: 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार समझकर तुम आसक्ति रहित हुए इस संसार में विचरण करो।

मनुष्य को आसक्ति और अनासक्ति का त्याग करके शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्र निषिद्ध कर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर देना चाहिए।

(ब) शरीर के लिए शोक करना व्यर्थ है (सर्ग-29)

रघुनन्दन! परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन की युक्तियों के द्वारा ज्ञानरूपी बल से चित्तरूपी संसार की नाभि का अवश्य अवरोध करना चाहिए। क्योंकि कहीं पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो शास्त्र सम्मत परम पुरुषार्थ से प्राप्त न की जा सके। संकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्मा के साथ इसका सम्बन्ध ही है अत: इस शरीर के लिए यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेश का भाजन क्यों बनता है? इनका विनाश हो जाने पर आत्मा की कुछ भी हानि नहीं होती। अत: शरीर के लिए शोक करना निरर्थक ही है।

श्री राम! देह का विनाश होने पर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होती। जड़ पदार्थ के द्वारा जो कुछ किया जाता है वह किया हुआ नहीं माना जाता। यह जड़ देह तो इच्छा से रहित है। इसलिए यह देह कार्य करता हुआ भी कुछ नहीं करता। आत्मा में इच्छा नहीं है; इसलिए कोई कर्ता है ही नहीं। आत्मा शरीर का दृष्टामात्र है। अहंकार युक्त बुद्धि से जो क्रिया की जाती है, उसका फल मरणरूप ही होता है। जिसने अहंकार का अवलम्बन किया उसे तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो। यह शरीर रूपी यंत्र जो कुछ करता या लेता है वह अहंकार की ही चेष्टा है।

श्री राम! इस जड़ चित्त का भी आत्मा के साथ कोई

सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। चित्त ही आत्मा- यह अज्ञान से ही प्रतीत होता है। आत्मा ज्ञान स्वरूप, चेतन, अविनाशी और व्यापक है, जबकि अहंकार रूप चित्त तो मूर्ख और सबसे बड़ा अज्ञान है। इस जगत् रूपी महान् अरण्य में अपने द्वारा ही स्वयं दृढ़ता से धैर्य धारण कर अपना उद्धारकर लेना चाहिए। मनुष्य को अपवित्र, तुच्छ, भाग्य रहित तथा दुष्ट आकृति वाले इस शरीर के आराम के लिए विषय भोग में कभी नहीं फँसना चाहिए।

(स) मानस-शिव पूजा (सर्ग 29-30)

श्री राम! आगे अज्ञान को नाश करने वाली मानस-शिव पूजा को सुनो जो चन्द्रमौलि भगवान् शंकर ने कैलाश पर्वत की कन्दरा में मुझसे कही थी।

महादेव जी ने कहा-ब्रह्मज्ञानियों में अग्रगण्य मुनिवर! मैं तुम्हें वह सर्व श्रेष्ठ देवार्चन का विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करने से तत्काल ही मनुष्य मुक्त होता है। जो आदि और अन्त से रहित, वास्तविक ज्ञान स्वरूप है वही 'देव' कहलाता है। सबको सत्ता-स्फूर्ति देने वाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही 'देव' शब्द का वाच्य है, इसलिए उसी की पूजा करनी चाहिए। एकमात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजा सामग्री में ज्ञान, समता और शांति ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। इनसे जो पूजा की जाती है, उसी को आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञान स्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण स्वरूप है। यह जीवात्मा परमात्मस्वरूप ही है। उसके सिवा कोई पूज्य नहीं है। वह परमात्मा आपका, मेरा

तथा समस्त जगत् का स्वरूप भूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्ण स्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्री से पूजा करने योग्य उस देव का मैंने आपसे वर्णन कर दिया है।

इस रीति से वह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है। ब्रह्म ही सबसे बड़ा देव कहा गया है। इस परम देव का पूजन सबसे कल्याणकर है। उसी से सब कुछ प्राप्त होता है। वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ', 'तत्', 'सत्'–इन नामों से कहा गया है।

पापशून्य महामुने! अरुन्धती का और आपका जो चैतन्य तत्त्व है, पार्वतीजी का, मेरा और गणों का चैतन्य तत्त्व है तथा जो चैतन्य तत्त्व तीनों जगत् में परिपूर्ण है, उसे ही परमदेव परमात्मा कहते हैं। वह सर्वव्यापी होने से किसी से भी दूर नहीं है, अतः किसी के लिए दुष्प्राप्य नहीं है। वह शरीर के बाहर भीतर–सर्वत्र स्थित है। चेतन परमात्ममा ही भगवान विष्णु के नाभि कमल में ब्रह्माजी का रूप धारण करता है।

(द) जीवात्मा और परमात्मा (सर्ग 30-36)

ब्रह्मन्! वस्तुतः इस शरीर में दो प्रकार का सर्वभूतस्वरूप चेतन है एक तो चंचल स्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्प से जीवात्मा के रूप में अपने से भिन्न-सा होकर स्थित है। वही परब्रह्म नारायण होकर समुद्र में शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोक में ध्यान स्थित रहता है, हिमालय में महादेवजी का रूप धारण कर निवास करता है, और बैकुण्ठ में देव श्रेष्ठ विष्णु का रूप धारण कर रहता है। वही सूर्य बन कर दिवस का निर्माण करता है, मेघ बन कर जल बरसाता है,

वायु बन कर बहता है। वह चिन्मय ब्रह्म जगत् रूप हो जाता है।

महादेव जी ने कहा–ब्रह्मन्! चेतन जीवात्मा अज्ञान के कारण व्यर्थ ही दु:खी है। वह शुद्ध होता हुआ भी मलिन-सा, निर्विकल्प होता हुआ भी सविकल्प सा, चेतन हुआ भी जड़-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एक देशीय सा प्रतीत होता है। मुने! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टक (मन, बुद्धि, अहंकार, एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ–इन आठों का समूह 'पुर्यष्टक' कहा जाता है। यही 'आतिवाहिक' देह है) में ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। यह पुर्यष्टक आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसी में स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध आत्म स्वरूप ही है, दूसरा नहीं–यह जानिये।

जिस प्रकार जड़ लोहा चुम्बक के सान्निध्य से संचरणशील होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सत्स्वरूप परमात्मा के सान्निध्य से यह जीवात्मा संचरणशील होता है, अर्थात् परमात्म शक्ति से ही चेष्टा करता है। यह जीव अज्ञान से अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाने के कारण देह के सम्बन्ध से जड़-सा हो गया है तथा चित्त सा बन गया है।

ब्रह्मन्! परमात्मा ने ही शरीररूपी गाड़ी खींचने के लिए मन शक्ति और प्राण शक्ति ये दो सुदृढ़ बैल उत्पन्न किये हैं। जब तक देह में पुर्यष्टक विद्यमान है जब तक यह देह जीवित रहती है। जब यह पुर्यष्टक विलीन हो जाता है तब यह देह 'मृत' कही जाती है। मन और प्राण से शून्य यह शरीर शवरूप हो जाता है।

मुनीश्वर! इस समस्त जगत् का उपादान वही परमदेव है

इस ज्ञान से यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। कर्तापन के अभिमान से रहित होने के कारण वह परमात्मा कुछ न करते हुए भी संसार की रचना करता है और यह संसार का महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्मा को बार-बार नमस्कार है।

(य) परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ (सर्ग-37)

महादेव जी ने कहा–सौम्य! उस सच्चिदानन्द सदाशिव परमात्मा की इच्छा सत्ता, व्योमसत्ता, कालसत्ता, तथा नियति सत्ता और महासत्ता–ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। सबसे पहले इच्छा-सत्ता अभिव्यक्त हुई। इसके बाद क्रमशः अन्य सत्ताएँ अभिव्यक्त हुईं। इनके सिवा ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृव्य शक्ति और अकर्तृव्य शक्ति आदि परमात्मा की अनेक शक्तियाँ हैं। इनका कोई अन्त नहीं है। परमात्मा की चिन्मात्र रूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। वह कल्पना से ही भिन्न प्रतीत होती है, वास्तव में कुछ भी भेद नहीं है। तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादा में रखने वाली नियति कही जाती है।

(र) परमात्म देव का पूजन (सर्ग 38-43)

महर्षे! इस परमात्म देव के पूजन में सबसे पहले देहाभिमान को छोड़ देना चाहिए। ध्यान ही इस परमात्म देव की पूजा है, ध्यान ही उसके लिए अर्घ्य, पाद्य, पुष्प है। यह परमात्म देव ध्यान से ही प्रसन्न होता है। आठों पहर ध्यान

द्वारा पूजन करने से मनुष्य परम धाम में निवास करता है। ध्यान ही परम योग है, यही उत्तम कर्म है। यह ध्यान सम्पूर्ण अज्ञानों का नाशक है।

वशिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन! ऐसा उपदेश देकर महादेव शंकर जी पार्वती सहित आकाश मार्ग से चले गये। महादेव शंकर जी ने ध्यान रूप जो सर्वोत्तम पूजन मुझसे कहा है और स्वयं मैं भी उसे तत्त्व से जानता हूँ, तब से लेकर आज तक मैं करता आ रहा हूँ।

अध्याय : 33

सब कुछ ब्रह्म ही है

(सर्ग 44-51)

(अ) अज्ञान नाश से चित्त का विनाश (सर्ग 44-48)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! आसक्ति से तथा कर्तृत्वाभिमान से रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने वाले अन्तःकरण से इन्द्रियों के साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म, कर्म नहीं है, जिस तरह प्राप्ति काल में विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे काल में नहीं। इसलिए बाल बुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देने वाले विषयों में आसक्त होता है, विवेकी नहीं। वासना के त्याग से, परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से अथवा प्राणों के निरोध से चित्त से संकल्प रहित हो जाने पर जगत् कहाँ से उत्पन्न होगा।

जहाँ चित्त का अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्म सुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोग भूमियों में नहीं सकता। चित्त का विनाश होने पर जो ब्रह्म विषयक सुख होता है, वह वाणी से भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है-न घटता है न बढ़ता है। चित्त का स्वरूप भ्रांन्ति से प्रतीत होता है। इसलिए भ्रांन्ति का नाश होने पर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्व ज्ञान से शान्त हो जाती है।

(ब) ब्रह्म का स्वरूप (सर्ग-49)

श्री राम! वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टि का विषय है। और न उपदेश का ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है, किन्तु केवल अनुभव से ही प्राप्य है तथा सब जगह समभाव से स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देह स्वरूप है न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्त स्वरूप है, न वासनारूप है, न स्पन्दन स्वरूप है, न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है न असद्रूप है और न सत् एवं असत् के मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्वरूप हैऔर न अशून्यस्वरूप ही है। वह देश, काल और वस्तु भी नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थों से रहित है और जिसके रहने पर यह जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदि रूप से स्पन्दित होता है, वह परमात्म पद ही है वे हजारों देहरूप घड़े उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, किन्तु बाहर और भीतर व्याप्त इस परमात्मास्वरूप आकाश का नाश नहीं होता।

उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किन्तु यह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मा से पृथक-सा प्रतीत होता है। स्थावर एवं जंगम स्वरूप जो यह जगत दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है। किन्तु वास्तव में वह ब्रह्म लक्षणों और गुणों से, सदा से, विकारों से तथा आदि और अन्त से रहित एवं नित्य, शांत और समस्वरूप है।

श्री राम! दही बन जाने से दूध पुनः अपने दूध रूप में नहीं आता, किन्तु ब्रह्म ऐसा नहीं है। आदि, मध्य और अन्त किसी भी दशा में ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही ज्ञान होता है।

इसलिए दूध आदि के समान ब्रह्म में विकारिता नहीं है। जो विकार दिखाई देता है, उसे तुम जीवात्मा का भ्रम समझो क्योंकि अविकारी ब्रह्म में कोई विकार नहीं हो सकता। उस ब्रह्म में दृश्य-दर्शन का अभाव है। वास्तव में वह ब्रह्म संसार के सम्बन्ध से रहित, सच्चिदानन्दघन कहा गया है।

आदि और अन्त में जिस वस्तु का जो स्वरूप है, वही उसका नित्य स्वरूप है। यदि मध्य में उसका अन्य रूप दिखलाई पड़ता है तो वह केवल अज्ञान के कारण ही दिखलाई पड़ता है। वास्तव में परमात्मा तो आदि, अन्त और मध्य में सर्वत्र सदा एक रूप है क्योंकि वह कभी विषमभाव को प्राप्त नहीं होता।

(स) परमात्मा और प्रकृति भिन्न नहीं है

श्री राम! विकार तथा आदि अन्त से रहित यह पूर्ण ब्रह्म तत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्य में भी सदा रहेगा। वास्तव में अविद्या का किंचिद् मात्र भी अस्तित्त्व नहीं है यह मेरा दृढ़ निश्चय है। मुनि लोग 'अविद्या' को भ्रम मात्र और असत् कहते हैं। जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेदरूप वाणी का रहस्य जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ विद्वानों ने 'यह विद्या है और यह जीव है।' इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनों को उपदेश देने के लिए ही की है। क्योंकि जो कार्य युक्ति से सम्पादित होता है, वह सैंकड़ों अन्य उपायों से नहीं होता। अज्ञानी दुर्मति के सम्मुख 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो पुरुष कहता है उसका वह कथन ठूँठ को दुःख निवेदन करने के समान है। उससे कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मूर्ख युक्ति से प्रबोधित होता है और प्राज्ञ

तत्त्व से। युक्ति से बोध कराये बिना मूर्ख को ज्ञान नहीं होता।

श्री राम! मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म है, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म से पृथक कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। सोते-जागते, चलते-फिरते, बैठते, श्वाँस लेते-सब समय अपने हृदय में 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिए। ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति-ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय, नित्य परमात्मस्वरूप ही है। जैसे मिट्टी से घड़ा पृथक नहीं है, वैसे ही परमात्मा से प्रकृति पृथक नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ है और नाम से दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं है, वैसे ही परमात्मा और प्रकृति-ये दोनों एक है और नाम से भिन्न होते हुए भी वास्तव में भिन्न नहीं है। अज्ञान से ही दोनों में भेद की प्रतीति होती है और यह भेद यथार्थ ज्ञान से ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि परमात्मा के सिवा-उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

(द) ब्रह्म ही सबकी सत्ता है (सर्ग-50)

श्री राम! ब्रह्म के सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थ का पृथक अस्तित्व नहीं है। वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है। उसी प्रकृति के अंश से इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं किन्तु ब्रह्म माया से रहित है। यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञान के कारण अपनी भावना के अनुसार संसार का रूप धारण करती है। वह 'अहं' भावना से 'अहंकार' मनन से 'मन' निश्चय की भावना से 'बुद्धि' इन्द्रियों की भावना से 'इन्द्रिय' देह की भावना से 'देह' और घट की भावना से घट बन जाता है। इस प्रकार

अपनी भावना के कारण यह जीवात्मा 'पुर्यष्टक' बन जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को लेकर 'मैं कर्ता हूँ' दोनों के व्यापारों से जनित सुख-दु:खों का आश्रय होने से 'मैं भोक्ता हूँ' उदासीन होकर सबका प्रकाशन करने से 'मैं साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त जो चैतन्य है वही 'जीव' कहा गया है। वही जीवात्मा अपनी भावना से समय-समय पर स्वयं ही अनेक रूप हो जाता है जैसे-

जल सींचने से बीज के पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावना के अनुसार उस जीव के भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं क्योंकि यह जीवात्मा अज्ञान से यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किन्तु शरीर आदि हूँ। वासनाओं के वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकाल तक स्वर्ग-नरक में आवगमनों द्वारा जगत् में घूमता ही रहता है। इनमें से कोई तो विशुद्ध जन्म के कारण पहले जन्म में ही परमात्मा को यथार्थ जानकर परमपद को प्राप्त हो जाता है। कोई बहुत काल तक अनेक योनियों में प्राप्त सुख-दु:खादि भोगों के अनन्तर परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा परम पद को प्राप्त होता है।

श्री राम! बाह्य विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियों का सम्बन्ध चित्त से युक्त जीवित पुरुष में ही संभव है, मृत पुरुष में कदापि नहीं। जब शान पर चढ़े हुए नवीन रत्न के समान आँखों के तारे में बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थ का हृदय में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण, देहाभिमानी जीव के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इस रीति से बाह्य वस्तु जीव द्वारा हृदय में जानी

जाती है।

(य) जीवात्मा को तत्त्व ज्ञान से ब्रह्म प्राप्ति

(सर्ग-51)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भ में चक्षु आदि इन्द्रियों के प्रादुर्भाव से सम्पन्न पुर्यष्टक स्वरूप हो जाने पर जिस वस्तु की जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावना से तत्काल ही अनुभव करने लगता है। किन्तु शुद्ध आत्मा में दूसरे किसी पदार्थ का अस्तित्व है ही नहीं।

अतः वह चेतन आत्मा दृश्य के सम्बन्ध से कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता और पुर्यष्टक रूपता को प्राप्त नहीं होता। वही परमात्मा इस नाम से कहा गया है। वह इन्द्रिय और मन से अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मा से चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्यों को समझाने के लिए ही कही गई है।

वास्तव में परमात्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं। आभासरूप पदार्थ प्रयत्न से नहीं पाये जाते जैसे मृगतृष्णा जल को प्रयत्न से नहीं पाया जाता। जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तो ज्ञान से ही उसे जाना जाता है। द्वैत एवं अद्वैत रूप यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मा से ही बना है, जैसे ईख के रस से खांड और मिट्टी से घट। परमात्मा से चेतनता और जड़ता दोनों रहती है। यह चेतन ब्रह्म ही जड़ जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ इन आठों का समूह पुर्यष्टक कहा जाता है और यही आतिवाहिक

देह कहा गया है। जड़ पदार्थों में यह आतिवाहित देह (लिंग शरीर) सुषुप्ति अवस्था की स्थिति में स्थित रहती है। यथार्थ ज्ञान का बोध पुरुष प्रयत्न से साध्य है। जहाँ-जहाँ यह जगत् प्रतीत होता है वह माया का ही परिणाम है। संसार माया नहीं है बल्कि इसके प्रति जो भ्रमपूर्ण दृष्टि है कि यह सत्य है तथा ब्रह्म से भिन्न है, ऐसे दृष्टि का होना ही माया है। इसके विपरीत ज्ञान दृष्टि है जिससे वह यह संसार ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है तथा जो दिखाई देता है वही असत् है। ब्रह्म ही सत् है। ऐसी दृष्टि ज्ञान दृष्टि है।

श्री राम! वासनाओं का बन्धन ही जीवात्मा का बन्धन है। वासनाओं का अभाव ही इसका मोक्ष है और वासनाओं का लय ही सुषुप्ति अवस्था है। जब यह जीव वासनाओं की घनता से मोहित होता है तब वह स्थावर आदि योनियों को प्राप्त होता है, जब मध्यम प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है तब पशु-पक्षी आदि योनियों को प्राप्त होता है, और जब क्षीण वासनाओं से समन्वित होता है, तब मनुष्य देव-गन्धर्व आदि योनियों को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओं के क्षय के तारतम्य से उत्तरोत्तर शुभ योनि की प्राप्ति होती है।

अध्याय : 34

श्री कृष्ण अर्जुनोपाख्यान

(सर्ग 52-58)

(अ) आसक्ति त्याग (सर्ग 52-53)

वशिष्ठ जी ने कहा—महाबाहु राम! अब भगवान श्री कृष्ण के द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति योग को तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेश को सुनकर महाराज पाण्डु का पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्ति रूप सुख से युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

श्री राम! एक समय यह पृथ्वी मृत्युलोक में आये हुए भार स्वरूप पापी प्राणियों से व्याप्त, और दीन हो जायेगी। यह दीन पृथ्वी भगवान् विष्णु के शरण में जाएगी तब भगवान् श्री हरि नर और नारायण के अवतार रूप में दो शरीरों से पृथ्वी पर प्रकट होंगे। नारायण रूप का अवतार 'श्री वासुदेव' नाम से विख्यात होगा। और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाँडु पुत्र 'अर्जुन' नाम से विख्यात होगा। वह पाँडु पुत्र धर्मज्ञ होगा, उस का चचेरा भाई 'दुर्योधन' नाम से विख्यात होगा। पृथ्वी को अपने अधिकार में करने के लिए कुरुक्षेत्र में महाभारत की लड़ाई में दोनों की भयंकर अट्ठारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। विष्णु भगवान् (श्री कृष्ण) पृथ्वी को भार से मुक्त करेंगे। युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन विषाद् को प्राप्त हो जाएगा और युद्ध करना अस्वीकार कर देगा। उस समय श्री कृष्ण उसे

इस प्रकार उपदेश देंगे।

''यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है, तथा यह न उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते। क्योंकि यह आत्मा न किसी के द्वारा मारा जाता है न किसी को मारता ही है। अर्जुन! तुम स्वयं जरा मरण से रहित नित्य चिन्मय आत्म स्वरूप हो। तुम मारने वाले नहीं हो। अतः तुम इस दोषपूर्ण अभिमान का त्याग कर दो। जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है वह पुरुष न तो मारता है न पाप से बंधता है। इसलिए इदम् सोऽहम, अयम् तन्मे आदि वृत्ति का त्याग करो। जो ममता और अहंकार से रहित है वह कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।

पाण्डुपुत्र! क्षात्रकर्म तुम्हारा स्वकर्म है। कर्तव्य बुद्धि से किया जाने वाला कर्म सुख, अभ्युदय और कल्याणजनक है। तुम आसक्ति को त्यागकर योग में स्थित हो कर्तव्य कर्म को करो क्योंकि आसक्ति रहित होकर कर्म करने वाला कर्मो से नहीं बँधता। तुम कर्मफल त्याग रूपी संन्यास योग में आत्मा को युक्त करके कर्म करते हुए ही मुक्त हो जाओ।

परमात्मा की प्राप्ति का साधन ही 'ज्ञान' है। उसी को 'योग' कहा गया है। 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है और मैं भी ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अपना अर्पण ही 'ब्रह्मार्पण' है। सम्पूर्ण कर्मफलों के त्याग को ही 'संन्यास' कहा है। संकल्प समूहों का जो त्याग है, वही असंग (आसक्ति का अभाव) कहा

गया है। आसक्ति के अभाव का नाम ही संगत्याग है।

(ब) शास्त्र सम्मत कर्म कर्तव्य है (सर्ग-54)

हे अर्जुन! तुम कर्मों में वासना तथा कर्तापन के अभिमान से रहित हो जाओ। तुम्हारी कर्मों के न करने में आसक्ति न हो, और तुम योग में स्थित हुए अनासक्त भाव से शास्त्र विहित कर्मों का आचरण करो। जिसके सम्पूर्ण शास्त्र सम्मत कर्म बिना कामना और संकल्प के होते हैं, तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं; उस महापुरुष को ज्ञानी जन भी पंडित कहते हैं। जो मूढ़ बुद्धि पुरुष समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन में उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है। सब भोग जिस स्थित प्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शांति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाले नहीं।

(स) प्रारब्ध भोगों का त्याग उचित नहीं (सर्ग 55-57)

हे पार्थ! बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि प्रारब्धानुसार न्याय से प्राप्त भोगों का त्याग न करे और अप्राप्त भोगों को पाने की इच्छा न करे एवं न्याय से प्राप्त भोगों का शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभाव में स्थित रहे। महाबाहु अर्जुन! देह का नाश होने पर अविनाशी आत्मा का नाश नहीं होता। तुम चिन्मय आत्मा में ही आत्मा की भावना करो। चित्त रहित पुरुष का पतन नहीं होता। वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमान

नहीं होता। अज्ञानी मनुष्य देह को ही आत्मा मानते हैं।

(द) वासना त्याग से लिंग देह नष्ट हो जाता है

अर्जुन! यह शरीर वासना के अनुसार ही उत्पन्न होता है, अन्य किसी दूसरे कारण से नहीं। अतएव वासना के त्याग से लिंग देह नष्ट हो जाता है और लिंग देह के नष्ट होने पर वह जीवात्मा परम पद को प्राप्त हो जाता है। वासना के कारण ही जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता है। यही जीवात्मा का जन्म-मरण है। जब शरीर जीवात्मा से रहित हो जाता है, तब वह 'मर गया' ऐसा कहा जाता है। मूढ़ बुद्धि यह जीव अपने कर्म और वासना के अनुसार नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म आदि का अनुभव करता है। चिरकालिक अभ्यास से प्रौढ़ हुई स्वप्नतुल्या वासना ही जीव को संसार रूप भूलभुलैया में डालती है। इसलिए तत्त्वज्ञान के अभ्यास से वासना का समूल क्षय ही जीव के लिए कल्याणकारक है।

(य) वासना ही बन्धन है

कौन्तेय! अनात्म वस्तु देह में आत्मभावना रूप यह वासना अज्ञान स्वरूप मोह से उत्पन्न हुई है और परमात्मा के यथार्थ अनुभव ज्ञान से यह विनष्ट हो जाती है। वासना का छूट जाना ही जीवात्मा का 'मोक्ष' है। वासना रूप रज्जु के बन्धन से छूटा हुआ मनुष्य 'मुक्त' कहलाता है। जो वासना से रहित नहीं है-भले ही वह समस्त धर्मों में परायण क्यों न हो, सर्वज्ञ यानि समस्त साँसारिक विषयों का पंडित ही क्यों न हो-फिर भी वह पिंजरे में स्थित पंछी की भांति सब ओर से वासना जाल में बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और

वासना क्षय ही मोक्ष है।

(र) अर्जुन का वासना और मोह का नाश (सर्ग-58)

श्री कृष्ण ने कहा–अर्जुन! सदा से आने वाला स्वधर्मरूप कर्म जो समभाव से किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तों के लिए स्वाभाविक ही है और वही जीवनमुक्तता है। कर्म के त्याग और ग्रहण का जो निर्णय है वह एकमात्र अज्ञानियों के मन का स्वरूप है, ज्ञानियों की तो उनमें समस्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुए के अंगों की भाँति इन्द्रियों के विषयों से हटकर अन्त:करण में स्थिर हो जाती है। वही स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त है।

अर्जुन ने कहा–अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त करली है। अब मैं संशय रहित होकर स्थित हूँ। अत: आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! इस प्रकार के वचन कह कर और उठकर गाण्डीव धनुर्धारी वह पाण्डु पुत्र अर्जुन जिसके सारथी श्री कृष्ण होंगे संदेह रहित हुआ रण लीला करेगा।

अध्याय : 35

मनोनाश ही मुख्य साध्य है

(सर्ग 59-76)

(अ) परमात्मा की नित्य सत्ता (सर्ग 59-68)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत् स्वरूप है, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसी को नित्य परमात्मा समझो। वही परमपद सब की पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियों में सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओं की सर्वोत्तम महिमा है, तथा वही गुरुओं का भी गुरु हैं। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मंगलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मा में यह जगत् अविचार से ही सत्य सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में विवेक पूर्वक विचार करने से असत् है। आदि और अन्त से रहित आकाश के समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ–यों निश्चय हो जाने पर वह बाहर से लोकशास्त्र की मर्यादा के अनुसार कार्य करने पर भी वास्तव में उत्पत्ति और विनाश से रहित है। जिसकी बुद्धि में मन का अभाव है, वह महात्मा ब्रह्मरूप ही है। वह व्यवहार करता हुआ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। वही मुक्ति का अधिकारी है।

परमात्मा का संकल्प ही संसार है और उसका अभाव ही

परमपद है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से ही भोग वासना समाप्त हो जाती है और भोग वासना का अभाव ही ज्ञानी का उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्य के कारण तत्त्वज्ञ पुरुष को संसार के भोग स्वभाव से ही रुचिकर नहीं होते ऐसा मनुष्य ही 'जीवन्मुक्त' कहा गया है।

(ब) सत्ता सामान्य का स्वरूप

श्री राम! आकाश के समान अनन्त परमात्मा के सत्तासामान्य स्वरूप का यदि जीव थोड़ी देर और थोड़ा-सा भी चिन्तन करता है तो वह मुक्त चित्त मुनि बन जाता है और उस अवस्था में संसार के समस्त कार्यों को करते हुए कभी संतप्त नहीं होता।

श्री राम! जो सर्व-व्यापक, आदि, अन्त से रहित तथा सदा समभाव से स्थित है, वह ब्रह्म ही सत्ता-सामान्य है। वह सर्वव्यापी ब्रह्म ही सभी रूपों में विद्यमान है तथा वह सब में अभिन्न रूप से स्थित है। सब में समान भाव से सत्ता रूप में व्यापक होने के कारण वह परमात्मा ही सत्ता-सामान्य कहा गया है।

(स) सृष्टि सत्य भी है और असत्य भी

श्री राम! परमात्मा के सर्वव्यापी होने के कारण यह जीव भी सर्वव्यापी है और उस परमात्मा की सत्ता से ही यह संसार सत्य-सा भासित होता है। किन्तु वास्तव में यह संसार अज्ञान से उत्पन्न होता है और तत्त्व ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न मिथ्या है वैसे यह संसार भी मिथ्या है। जो स्वप्न का संसार पुरुष से उत्पन्न है, वह पुरुष का स्वरूप ही है-जैसे

किसी बीज से उत्पन्न वृक्ष सहित फल बीज रूप ही है। जो असत्य से उत्पन्न होता है उसे असत्य ही समझो। अत: स्वप्न पुरुष से उत्पन्न जो असत् पदार्थों की भावना है, वह दृढ़ सत्यरूप से प्रतीत होने पर भी असत्य ही है, इसलिए त्याग कर देने योग्य प्रजापति के संकल्प से रचित यह सृष्टि उसी प्रकार मिथ्या है जैसे हमारे संकल्प से प्रतीत होने वाली स्वप्न सृष्टि।

चिन्मय ब्रह्म के संकल्प से ही यह सृष्टि स्फुरित हो रही है। इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो; क्योंकि सब कुछ ब्रह्म का संकल्प होने से ब्रह्म का स्वरूप ही है एवं ब्रह्म का स्वरूप होने से सत्य ही है। साथ ही ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो असत्य न हो; क्योंकि सब कल्पना मात्र होने से असत्य ही है। जैसे स्वप्न में निमग्न पुरुष स्वप्न काल में वस्तुओं की स्थिर स्थिति ही देखता है, उसी प्रकार इस सृष्टि में जिस अज्ञानी की बुद्धि निमग्न है, वह सब विषयों की स्थिर स्थिति ही देखता है, किन्तु यह सृष्टि वास्तव में स्वप्नवत कल्पना मात्र है। संसार को अत्यन्त स्थिर समझने वाला यह जीव एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश करने वाले की तरह मोह के कारण एक भ्रम से दूसरे भ्रम में पड़ जाता है।

(द) सांख्य योग और अष्टांग योग (सर्ग 69-76)

श्री राम! परमात्मा की प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से और नित्य एक रस समाधि से जो सांख्य योग के द्वारा ज्ञानी हुए हैं, वे सांख्य योगी कहे गये हैं। जो प्राणादि वायुओं के संयमपूर्वक अष्टांग योग के द्वारा

अनामय, आदि-अन्त से रहित परमपद को प्राप्त हो गये हैं, वे योग-योगी कहे गये हैं। वह स्वाभाविक परमपद सभी योगियों के लिए उपादेय है। कुछ लोग इस पद को सांख्य योग द्वारा प्राप्त कर चुके हैं और कुछ लोग इसी देह से अष्टांग योग द्वारा प्राप्त कर चुके हैं। जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही ठीक समझता है। क्योंकि जो परमपद सांख्य-योगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है; वही अष्टांग योगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। जहाँ प्राण, मन की वृत्ति तथा वासनारूपी जाल का अत्यन्त अभाव है, उसी को परमपद समझो।

वासना को ही 'चित्त' कहते हैं। यही संसार का कारण है। वह चित्त सांख्य या योग दोनों में से किसी एक साधन के द्वारा विलीन होकर संसार की निवृत्ति का कारण हो जाता है। यह संसार मन के संकल्प से उत्पन्न हुआ है। ममता, अहंता, संसृति, बन्ध और मोक्ष की सत्ता नहीं है, सब संकल्प मात्र है। परमार्थतत्त्व का दृढ़ अभ्यास, प्राणों का विलीन होना तथा मनोनाश यही 'मोक्ष' शब्द के अर्थ का संग्रह है यानि ये ही मोक्ष के साधन हैं।

श्री राम! इन तीनों उपायों में मनोनाश को ही मुख्य साध्य जानो। मनोनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। परमार्थ के यथार्थ ज्ञान से सभी पदार्थों का अभाव हो जाता है, जिससे वासना का विनाश होने पर प्राण और चित्त का वियोग हो जाता है। फिर भली-भाँति शान्त हुआ मन देह-रूपता को नहीं प्राप्त होता। मन के विनाश से ही जीवात्मा को परमपद की प्राप्ति होती है, अतः मुनिगण वासना को ही मन जानते हैं। चित्त का स्वरूप केवल वासना ही है।

इस चित्त का अभाव होने पर परमपद प्राप्त हो जाता है। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्व का दृढ़ अभ्यास, प्राण-निरोध और मनोविनाश–ये जो तीन उपाय हैं, उनमें से किसी एक की सिद्धि हो जाने पर ही दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। जब प्राणवायु का स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने आप शान्त हो जाता है, वैसे मन का चलना रुक जाने पर प्राण-वायु का चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियों के प्राण और चित्त दोनों उसी प्रकार एक दूसरे से निरन्तर मिले जुले रहते हैं। अग्नि और उष्णता के समान दोनों में से किसी एक का विनाश हो जाने पर दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाश के द्वारा वे दोनों जीवात्मा के लिए एक महान् मोक्ष नामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं।

एक ब्रह्म तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से द्वैत वासना से रहित होकर मन शान्त हो जाता है और इससे प्राण भी शान्त हो जाते हैं, क्योंकि प्राण का स्वभाव मन के साथ विलीन हो जाता ही है। मनुष्य को एक सुदृढ़ परमात्म तत्त्व में तब तक तदाकार वृत्ति बनाये रखनी चाहिए, जब तक उस वृत्ति का ही अभ्यास के द्वारा अभाव न हो जाय। क्योंकि निग्रह वृत्ति से युक्त पुरुषों का चित्त स्वयं ही प्राणों के साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है। चित्त जिस वस्तु में तन्मय हो जाता है, वह शीघ्र ही तद्रूप ही बन जाता है। अतः दीर्घकाल तक परमात्म तत्त्व के अभ्यास से वह समस्त विषयों से मुक्त होकर निर्विशेष ब्रह्म रूप ही हो जाता है।

श्री राम! यदि परमपद में चित्त मुहुर्तमात्र भी विश्राम को प्राप्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्म रूप ही परिणत हुआ समझो। जिसमें अविद्या का अभाव हो चुका है, ऐसा विशुद्ध चित्त

'सत्त्व' शब्द से कहा जाता है। जिसमें संसार की बीज रूपा वासना दग्ध हो गई है, वह चित्त फिर कभी ब्रह्मरूपता से अलग नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्म में तद्रूप हो गया है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो गई है, जो सत्त्वभाव में स्थित है, जो वासना रहित हो चुका है, ऐसा कोई विरला मनुष्य आकाश के समान निर्गुण-निराकार विज्ञानानन्दघन परमतत्त्व को देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है।

अध्याय : 36

राजा शिखिध्वज और चुड़ाला का आख्यान

(सर्ग 77-82)

(अ) चुड़ाला का आत्मबोध (सर्ग 77-78)

वशिष्ठ जी कहते हैं—श्री राम! अतीत कालीन सातवें मन्वन्तर की चतुर्थ चतुर्युगी के द्वापर युग में कुरु वंश में इसी महासर्ग में शिखिध्वज नाम का राजा हुआ था। वह उज्जयिनी नगरी में राज्य करता था। वह धैर्य, औदार्य, क्षमा, शम, दम आदि सभी गुणों से सम्पन्न था। इस प्रकार वह अनेक गुणों का खजाना था। उसका विवाह सौराष्ट्र देश के राजा की कन्या के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। उसकी पत्नि का नाम चुड़ाला था। अनेक वर्षों तक दृढ़ प्रेम से सम्पन्न उस दम्पत्ति ने प्रतिदिन यौवन की आनन्द लीलाओं द्वारा रमण किया।

यों एक के बाद एक करके अनेक वर्ष बीत गये। धीरे-धीरे तारुण्य का क्षय होने लगा तथा वृद्धावस्था आते देख संसाररूपी व्याधि की असली औषधि अध्यात्म शास्त्र का दीर्घकाल तक विचार किया। वे दोनों आत्मा का ज्ञान सम्पादन करने में तत्पर हो गये। वे दोनों संसार से विरक्त हो गये थे।

तदन्तर चुड़ाला आत्मा के विषय में अहर्निश विचार करने लगी, ''यह देह तो जड़ है, इसलिए मैं नहीं हूँ, ये इन्द्रियाँ भी शरीर से अभिन्न होने से जड़ ही हैं, यह मन भी जड़ है, बुद्धि

भी जड़ है, अहंकार भी मुर्दे के सदृश है इसलिए जड़ ही है। यह चेतन जीव परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् है। यह चेतन आत्मा मिथ्या जड़ विषयों के साथ तादात्म्य होने से जड़ जैसा बन गया है और अपने असली चिन्मय स्वरूप को भूल गया है।''

इस प्रकार विचार कर फिर उस चुड़ाला ने यह सोचा कि किस उपाय से यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो। बहुत समय के बाद उसने आत्म तत्त्व को जान लिया और कहने लगी, ''अहो! बड़े आनन्द का विषय है कि मुझे दीर्घकाल के बाद उस जानने योग्य निर्विकार के स्वरूप का अनुभव हो गया। जिसे जान लेने पर पुरुष फिर उससे च्युत नहीं होता। एक बार उसका साक्षात्कार हो जाने पर फिर सदा प्रत्यक्ष रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता।'' इस प्रकार परमात्मा के मनन में परायण वह चुड़ाला यथार्थ ज्ञान के द्वारा उस परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को तत्त्व से जानकर राग, भय, मोह आदि विकारों के शान्त होने से उसी प्रकार शान्त हो गई जैसे शरद् काल में आकाश बादलों से रहित हो जाता है।

आत्मबोध होने से चुड़ाला राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हो गई थी। वह न किसी पदार्थ को ग्रहण करती थी और न किसी का त्याग करती थी। केवल न्याय के द्वारा आचरण करती थी। वह संदेह जाल से मुक्त हो गई थी।

(ब) सिद्धियाँ (सर्ग 79-80)

एक समय ही बात है चुड़ाला को आकाश गमन की सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा हुई। वह निर्जन स्थान में सम्पूर्ण भोगों की उपेक्षा करके एकान्त में आसन लगाकर प्राण

वायु का निरोध करने के लिए अभ्यास करने लगी।

वशिष्ठ जी ने कहा-श्री राम! आकाश गमन आदि सिद्धियों का क्रम कैसा है, यह सुनो। देश, काल, क्रिया एवं द्रव्य की अपेक्षा रखने वाली सब सिद्धियाँ यहाँ जीव को मोहित करती हैं। मणि, औषधि, तप, मन्त्र और क्रिया से होने वाली सिद्धि के क्रम का निरूपण आवश्यक है; क्योंकि यह अध्यात्म विषय में विघ्न ही है।

श्री राम! सिद्ध देश के नाम से प्रसिद्ध श्री शैल अथवा मेरु पर्वत पर निवास करने वाले पुरुष को सिद्धि होती है-इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना अध्यात्म विषय में हानिकर है। इसलिए प्राणादि वायु की अभ्यास क्रिया का तुम श्रवण करो। साध्य अर्थ से भिन्न पदार्थों की वासनाओं का त्याग करके गुदा आदि द्वारों के संकोच से, सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दन की समता, निश्चयता तथा नासिका के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करना आदि योग शास्त्रोक्त क्रियाओं से, भोजन और आसन की पवित्रता से, भली-भाँति योग शास्त्र के परिशीलन से, उत्तम आचरण से, सज्जनों के संग से, सर्व त्याग से, सुखासन से बैठकर कुछ काल तक प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से क्रोध, लोभ मोह आदि के सर्वथा त्याग से, तथा भोगों के त्याग से एवं रेचक, पूरक और कुम्भक का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर प्राणों पर पूर्ण प्रभुत्व हो जाने पर योगी के पांचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजा के सेवक राजा के वश में हो जाते हैं।

(स) कुण्डलिनी शक्ति

श्री राम! प्राण, अपान वायु के अधीन हो जाने पर राज्य से

लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सुख साध्य हो जाती है। गोल कुण्डलाकार से युक्त, नाभि स्थान में समाश्रित सौ नाड़ियों की आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नाम की नाड़ी है। यह नाड़ी सब प्रकार के प्राणियों में स्थित है गुदा से लेकर भौंह के बीच तक सब छिद्रों का स्पर्श करती हुई यह सुषुम्ना नाड़ी मन की वृत्तियों से भीतर चंचल और बाहर प्राणादि से स्पन्दनयुक्त सदा स्थित रहती है। वह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिए 'कुण्डलिनी' नाम से कही जाती है।

वह सब प्राणियों की परमा-शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियों की सत्तास्फूर्ति की निर्वाहक होने से सब को वेग प्रदान करने वाली है। वही अपने मुख से प्राणवायु को ऊपर फेंकती है और अपान को नीचे को नीचे खींचती है। वह ऊपर की ओर मुँह किये कुपित सर्विणी की तरह स्थित रहती है। यह देह में जैसे-जैसे स्फुरित होती है वैसे-वैसे अन्तःकरण में ज्ञान होता है। इस कुंडिलिनी में हृदय कोश की समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ सागर में नदियों की तरह उसी से बारम्बार उत्पन्न होती हैं तथा उसी में विलीन होती जाती हैं। सब वह सम्पूर्ण ज्ञानों की साधारण बीज कही गई है।

निष्पाप राम! यह जीवात्मा अपनी कल्पना से पंचभूतों के रूप में स्थित होता है। ये पंचभूत समूहात्मक मेरु पर्वत आदि तो जड़ हैं, वृक्षादि स्थावर बाहर की वायु से स्पन्दनशील होते हैं। ये स्थावर प्राणी चेतन है। इनमें वृक्ष आदि स्थावर जाति की वासना निद्राग्रस्त मनुष्यों की वासना की भाँति प्रसुप्त है तथा मनुष्य और देवता आदि में बुद्धि की अधिकता के कारण उनकी वासना प्रबुद्ध है। पशु, पक्षी आदि मलिन वासना से

युक्त है किन्तु मनुष्य में कुछ मोक्षगामी मनुष्य वासनाओं से रहित है; क्योंकि वे विवेक को प्राप्त हो गये हैं। अतः वे इस संसार में पुनः जन्म धारण नहीं करते, किन्तु इनसे भिन्न अविवेकी मनुष्य बारम्बार संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

(द) आधि-व्याधि का नाश (सर्ग-81)

वशिष्ठ जी ने कहा-श्री राम! आधि (मानसिक) और व्याधि (शारीरिक) रोग-ये दोनों दुःख के कारण हैं। औषधादि के द्वारा इनकी निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है और ज्ञान के द्वारा इनका समूल नाश होता है। वही 'मोक्ष' कहलाता है। शरीर के अन्दर आधि और व्याधियाँ कभी परस्पर एक-दूसरे की कारण बनकर उत्पन्न होती है, अर्थात् कभी आधि से व्याधि हो जाती है और कभी व्याधि से आधि हो जाती है-कभी आधि-व्याधि दोनों एक साथ हो जाती है, और कभी सुख के अनन्तर दुःखरूप ये आधि-व्याधि क्रम से उत्पन्न होती है। शारीरिक दुःख को 'व्याधि' कहते हैं और वासनामय मानसिक दुख को 'आधि'। अज्ञान ही इन दोनों का कारण है।

यथार्थ ज्ञान होने पर इन दोनों का विनाश हो जाता है। यथार्थ परमात्म ज्ञान और इन्द्रिय निग्रह के अभाव से, राग-द्वेष में फंस जाने से तथा यह प्राप्त हो गया है, यह प्राप्त होना शेष है-इस तरह रात-दिन चिन्ता करने से जड़ता के कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) उत्पन्न होती हैं। प्रबल इच्छाओं के पुनः-पुनः स्फुरित होने से, मूर्खता से, चित्त के न जीतने से, दुष्ट अन्न खाने से तथा श्मशान आदि निकृष्ट स्थानों में निवास करने से शरीर में व्याधियाँ (शारीरिक रोग)

उत्पन्न होती है। आधी रात में तथा प्रदोषादि काल में भोजन एवं मैथुनादि व्यवहार से, दुष्कर्म करने से, दुर्जनों की संगतिरूप दोष से तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदि का मन में भय होने से शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है। नाड़ियों के छिद्रों में अन्न के रस का प्रवेश न होने के कारण नाड़ियों के क्षीण होने से अथवा इन छिद्रों में अन्न के रस एवं वायु आदि के अधिक प्रवेश हो जाने के कारण नाड़ियों के एकदम भर जाने से, कफ, पित्त, आदि के प्रकोप से, प्राण तथा शरीर के व्याकुल हो जाने आदि अनेक दोषों के द्वारा रोग उत्पन्न होता है।

राघव! आत्मज्ञान के बिना जन्मादि विकारों की जड़ व्याधि (अज्ञान) नष्ट नहीं होती। सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त औषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मों से अथवा वृद्धों की परम्परा से कथित औषधों से नष्ट हो जाती है।

श्री राम! मानसिक पीड़ाओं से चित्त की व्याकुल हो जाने पर शरीर में क्षोभ हो जाता है; इसलिए क्रोधी मनुष्य अपने आगे का उचित मार्ग नहीं देख पाता जिससे वह कुमार्ग की ओर ही दौड़ता है। प्राण वायु के विषम बहने पर कफ, पित्त आदि के भर जाने से नाड़ियाँ विषम स्थिति को प्राप्त हो जाती है, जैसे राजा के अव्यवस्थित हो जाने पर वर्णाश्रम की मर्यादा विषम स्थिति को प्राप्त हो जाती है। प्राण-वायु के संचार का क्रम बिगड़ जाने से खाया हुआ अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता, या अतिजीर्णता रूप दोष को ही प्राप्त होता है। इस तरह आधि से व्याधि उत्पन्न हो जाती है और आधि के अभाव से व्याधि भी नष्ट हो जाती है।

अब मन्त्रों से व्याधियाँ किस प्रकार विनष्ट होती है-यह

क्रम भी सुनो। जिस तरह हर्रे का फल खाने से स्वाभाविक ही दस्त लग जाते हैं, उसी तरह वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल आदि के बीज रूप य र ल व आदि मन्त्रों के वर्ण भी माँत्रिक भावना के वश से नाड़ियों में रोगाकार में परिणत अन्न रसों का उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं। साधु सेवा रूप पुण्य क्रिया से मन निर्मलता को प्राप्त होता है। चित्त सेवा रूप पुण्य क्रिया से मन निर्मलता को प्राप्त होता है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द बढ़ता है। अन्तःकरण की शुद्धि से प्राण वायु अपने क्रम से बहते हैं और अन्न का उचित परिपाक करते हैं इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(य) योग द्वारा सिद्धि (सर्ग-82)

राघव! पुर्यष्टक नामक लिंगात्मक जीव की आधारभूत कुंडिलिनी को तुम सुगन्ध की आधारभूत पुष्प मंजरी की भाँति जानो। पूरक के अभ्यास से जड़ प्राणों कुंडलिनी को भर करके यानि कूर्माकार नाड़ी में प्राणवायु को रोककर समरूप से स्थित होता है, तब मेरु पर्वत के समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा काया की गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है। जिस समय पूरक के पूर्ण शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त लंबा करके प्राणवायु को ऊपर खींचकर प्राणवायु के निरोध से उत्पन्न गर्मी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करने के लिए संवित् (कुँडलिनी) ऊपर की ओर पहुँचाई जाती है, उस समय प्राण वायु को ऊपर खींचने से दण्ड के सदृश लंबी होकर वह कुँडलिनी देह में बँधी हुई लता के समान सब नाड़ियों को अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होने के कारण

सर्पिणी की भाँति शीघ्र ऊपर चली जाती है। उस समय नाड़ियों में वायु भर जाने से पैर से लेकर मस्तक तक बिल्कुल हल्के हुए इस शरीर को कुंडलिनी इस प्रकार उठा ले जाती है जिस प्रकार पवन से पूर्ण जलगत भाथी मनुष्य को जल के ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियों का आकाशगमन है। इस अभ्यास से योगी लोग ऊर्ध्व गति को प्राप्त होते हैं।

जिस समय दूसरी नाड़ियों के व्यापार को रोक देने वाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से ऊपर की ओर खींच ली गई कुंडलिनी रूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्राणवायु के प्रवाह से मस्तक के दोनों कपोलों की संधिरूप कपाट के बारह-बारह अंगुल स्थान मुहूर्त भर के लिए स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धों के दर्शन होते हैं। वे सिद्ध अभीष्ट अर्थों को भी देते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थों का अवलोकन होता है उसी प्रकार सिद्धों के भी दर्शन होते हैं। इससे संवाद, वरदान आदि फलस्वरूप पदार्थों की प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायाम के अभ्यास रूप युक्ति से मुख से बारह-बारह अंगुल परिमित देश में प्राण को चिरकाल तक स्थित रखने में योगी अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है। सारे शरीर में प्रदीप्त उस जठराग्नि से स्वभावत: शीतवातात्मक वह शरीर ऐसे ही उष्णता को प्राप्त होता है जैसे सूर्य से तीनों लोक। तारों के आकार के समान तथा हृदयपक्ष में सुवर्ण-भ्रमर के सदृश वह तेज इस शरीर में चारों ओर विचरता है, जो योगियों का चिन्त्य दशा को प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकार से उपासित वह तेज प्रकाश स्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाखों योजन की

दूरी पर स्थित वस्तु भी सदा आंखों के सामने दिखाई देती है।

(र) परकाया प्रवेश

श्री राम! ऊपर योग द्वारा सिद्धि का वर्णन तुमने सुना। अब ज्ञान द्वारा प्राप्त सिद्ध का वर्णन सुनो। जिस तरह वायु पुष्पों में से गन्ध खींचकर उसका घ्राणेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी तरह योगी रेचक के अभ्यास रूप योग से कुंडलिनी रूप घर से बाहर निकल कर ज्यों ही दूसरे शरीर में जीव का सम्बन्ध करता है त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है। जीव रहित यह देह चेष्टाओं से रहित होकर काठ और मिट्टी के ढेले के सदृश पड़ा रहता है। वह अपनी रुचि के अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जंगम सब में उनकी सम्पत्ति का भोग करने के लिए जीव को प्रविष्ट किया जाता है। यदि उसका पहला शरीर विद्यमान रहा तो वह उसमें पुनः प्रविष्ट हो जाता है। यदि वह न रहा तो उसकी इच्छानुसार दूसरे शरीर में स्थित रहता है। परमात्म तत्त्व को जानकर वह जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे वह तत्काल प्राप्त कर लेता है।

अध्याय : 37

चुड़ाला का कुम्भ के रूप में शिखिध्वज को उपदेश

(सर्ग 83-94)

(अ) चुड़ाला की सिद्धि (सर्ग-83)

वशिष्ठ जी ने कहा–रघुवनन्दन! इस प्रकार योग का अभ्यास करने वाली चुड़ाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गई। वह कभी आकाश मार्ग से गमन करती, कभी समुद्र के भीतर द्वीपों में पहुँच जाती थी। वह स्वेच्छानुसार भूतल पर विचरण करती थी किन्तु राजा शिखिध्वज को ज्ञान प्राप्त न हो सका। श्री राम! गुरु द्वारा उपदेश प्राप्त करने का क्रम केवल शास्त्र मर्यादा का पालनमात्र है। ज्ञान प्राप्ति का कारण तो शिष्य की विश्वास युक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है; क्योंकि जानने योग्य ब्रह्म शास्त्रों के श्रवण से अथवा किसी पुण्य कर्म से नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है। ब्रह्म सम्पूर्ण इन्द्रियों से अतीत है और शास्त्रोपदेश से इन्द्रिय सम्बन्धी वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, इसलिए गुरुपदेश से आत्म-तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आत्मज्ञान में उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरु उपदेश के बिना आत्म तत्त्व की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

(ब) शिखिध्वज का वैराग्य (सर्ग-84)

राघव! राजा शिखिध्वज का मन दुखाग्नि से संतप्त हो उठा। वैराग्य के कारण उनका मन भोग सामग्री में तनिक भी सुख का अनुभव नहीं करता था। वे खुले हाथों सम्पत्ति का दान करने लगे तथा तीर्थों, वनों में भ्रमण करने लगे। एक दिन उन्होंने चुड़ाला से कहा कि मुझे वैराग्य हो गया है, मैं वन में जाना चाहता हूँ।

चुड़ाला बोली–नाथ! जिनके शरीर बुढ़ापे से जर्जर हो गए हैं, उन्हीं के लिए वन का आश्रय लेना उचित है, आप जैसे युवकों के लिए नहीं। राजन्! बिना समय के ही प्रजापालन रूप कर्म का परित्याग कर देने वाले राजा के राज्य का विनाश हो जाता है, जिससे उसे महान् पाप का भागी होना पड़ता है।

शिखिध्वज ने कहा–प्रिये! तुम मेरे अभीष्ट कार्य में विघ्न न डालो। अब तुम मुझे यहाँ से दूर एकाँत वन में गया हुआ ही समझो।

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! उस दिन आधी रात के समय जब सारे देश में सन्नाटा छाया हुआ था, सारी जनता गाढ़ निद्रा में लीन हो गई थी और चुड़ाला भी गाढ़ निद्रा निमग्न थी राजा अपने पलंग से उठकर राजमहल से चल पड़े। वहाँ से चलकर वे एक दुर्गम अरण्य में पहुँचे तथा वहाँ अपनी पर्णशाला बना ली। वे मन्दराचल की तलहटी में रह कर जप करते हुए खेदरहित दिन बिताने लगे।

(स) चुड़ाला का राजा से वन में मिलना (सर्ग 85-86)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! इधर जब चुड़ाला की नींद

खुली तो उसने देखा कि राजा अपने राज्य का परित्याग करके घर से वन को चले गए हैं तो वह राज्य की देखभाल करने लगी। इस प्रकार अठारह वर्ष बीत गए। फिर उसके मन में राजा के पास जाने का विचार उत्पन्न हुआ। वह आकाश मार्ग से उड़ती हुई मन्दराचल की उस कन्दरा के पास पहुँची जहाँ उसके पति पर्णशाला में निवास करते थे। वहाँ अदृश्य रूप से स्थित रहकर राजा की उस अवस्था को देखा तो उसने मन में विचार किया कि मैं इनको सर्वोत्तम ज्ञान प्रदान करने के लिए अपने इस रूप का परित्याग करके किसी अन्य रूप से इनके समीप जाऊँगी। मैं तपस्वी का वेश धारण करके इन्हें क्षण भर में प्रबुद्ध कर दूंगी।

ऐसा विचार कर चुड़ाला ने ब्राह्मण कुमार का रूप धारण किया और अपने पतिदेव के सामने जाकर खड़ी हो गई। राजा ने उस ब्राह्मण कुमार को देवपुत्र समझ कर नमस्कार किया तथा बैठने को पत्ते का आसन दिया तथा शास्त्र विधि के अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प, माला आदि समर्पित किए। इसके बाद उनका परिचय एवं वहाँ आने का कारण पूछा।

तब ब्राह्मण कुमार (चुड़ाला) बोला-राजन्! एक समय नारद मुनि मेरुगिरी की कन्दरा में ध्यानावस्थित थे। उस गुहा के समीप गंगाजी बह रही थीं। उस गंगा में स्नान करने रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराएँ आई थीं। उनको देखकर नारद मुनि का चित्त क्षुब्ध हो उठा और उनका वीर्य स्खलित हो गया। नारद ने उस स्खलित वीर्य को पास ही पड़े हुए एक कुम्भ में स्थापित कर दिया तथा उसे दूध से परिपूर्ण कर दिया। कुछ ही दिनों में वह गर्भ वृद्धि को प्राप्त होकर एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। तदन्तर नारद उसे लेकर ब्रह्मा जी के पास

गये। ब्रह्मा ने अपनी पौत्र को गोद में बिठा लिया तथा उसे ज्ञानोपदेश दिया। साधु शिरोमणि! मैं वही कुम्भ हूँ। कुम्भ से उत्पन्न होने के कारण ही मेरा नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारद मुनि का पुत्र और ब्रह्मा का पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। चारों वेद मेरे सुहृद हैं। मैं स्वेच्छानुसार सभी लोकों में विचरता हूँ। आज मैं आकाशमार्ग से जा रहा था कि सामने आप दिखाई पड़े, इसलिए यहाँ चला आया हूँ।

(द) कुंभ (चुड़ाला) द्वारा शिखिध्वज को ज्ञान और कर्म का उपदेश (सर्ग 87-91)

शिखिध्वज ने कहा-देवकुमार! मेरी संचित पुण्यराशि ने अप्रकट रूप से फलदानोन्मुख होकर आपको यहाँ भेजा है, ऐसा मैं समझता हूँ। आर्य! मैं शिखिध्वज नाम का राजा हूँ। मैं अपने राज्य का परित्याग करके यहाँ चला आया हूँ। मैं संसार से भयभीत हो गया हूँ। मुझे अभी तक वास्तविक शांति नहीं मिली है। यह सुनकर देवपुत्र के रूप में चुड़ाला बोली-साधो! पहले मैंने अपने पितामह ब्रह्माजी से ऐसा प्रश्न किया था कि 'ज्ञान और कर्म-इन दोनों में जो एकमात्र श्रेयस्कर हो उसे मुझे बताने की कृपा कीजिए।'

तब ब्रह्माजी ने कहा-बेटा-ज्ञान और कर्म में ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे भलीभाँति कैवल्य स्वरूप परमात्मा का साक्षात् अनुभव हो जाता है। किन्तु जिन्हें ज्ञान दृष्टि की प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिए कर्म ही सबसे बढ़कर है। क्योंकि जिनके पास रेशमी शाल नहीं है, वह क्या साधारण कम्बल को छोड़ देता है? अज्ञानी के सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म-मरण रूप फल प्रदान करने वाले, क्योंकि कर्मों

की सफलता में प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं। परन्तु जो ज्ञान सम्पन्न है, उसके सभी कर्म निष्फल हैं, अर्थात् वे जन्म-मरण रूप फल नहीं देते, क्योंकि उनकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

वासना का क्षय हो जाने पर कर्मफल भी नष्ट हो जाता है। वत्स! यह वासना मूर्खता के कारण अज्ञानी में अहंकार आदि का रूप धारण करके असत्य रूप से प्रकट होती है। परन्तु 'सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करने से जिसके अज्ञान का नाश हो गया है, उसके मन में वासना उत्पन्न ही नहीं होती। अपने भीतर से वासना मात्र का पूर्णतया परित्याग कर देने से जीव जरा-मरण से रहित एवं पुनर्जन्म शून्य परमपद को प्राप्त हो जाता है। राजर्षे! जब ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ज्ञान को ही परम श्रेष्ठ बतलाते हैं, तब आप ज्ञान से रहित क्यों है? भूपाल! इधर कमण्डलु है, इधर दण्ड काष्ठ है, इधर कुश की चटाई है-ऐसे अनर्थों से परिपूर्ण इस संसार में क्यों सुख मान रहे हैं। आप क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं? इस कठोर तपस्या में आप अपना जीवन क्यों बिता रहे हैं? किसी महात्मा के पास जाकर ''बन्धन कैसे हुआ और मोक्ष का उपाय क्या है?'' यों प्रश्न करते हुए आप उनके चरणों की सेवा क्यों नहीं करते?

शिखिध्वज ने कहा-देवकुमार! बहुत काल के पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। आपके इस उपदेश से मेरे सम्पूर्ण पापों का विनाश हो गया। अब आप ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मेरे मित्र हैं। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ पर कृपा कीजिए तथा उस परब्रह्म-तत्त्व का मुझे शीघ्र ही उपदेश दीजिए।

(देवपुत्र रूप में) चुड़ाला बोली–राजर्षे! यदि आप मेरे वचनों को सुनने में श्रद्धा रखते हों तो मैं अपनी जानकारी के अनुसार उस ब्रह्म का उपदेश करूँगा, क्योंकि अश्रद्धालु के सामने कुछ कहना निरर्थक होता है तथा जिसके वचनों में श्रोता की श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौतूहल से प्रश्न किया जाता है, उस वक्ता के वचन निष्फल हो जाते हैं। राजन्! जैसे छोटा शिशु अपने पिता के वचन को बिना न–नु–नच किये प्रमाण बुद्धि से स्वीकार कर लेता है, वैसे ही आप भी मेरे इन वचनों को ग्रहण कीजिये।

राजन्! भला उद्योगी पुरुष के लिए ऐसी कौन–सी वस्तु है जो सुलभ नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा नियम भी है कि जो वस्तु जिसे जिस समय (प्रारब्ध के कारण) प्राप्तव्य नहीं होती, वह उसे उस समय पा नहीं सकता क्योंकि अवहेलना करने वालों को सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती है जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण प्रत्यंचा का परित्याग कर देता है। सिद्धियाँ जब आती हैं, तो वे सभी अभीष्ट पदार्थों को देती रहती हैं, परन्तु अवहेलना करने पर वे वापस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुष की बुद्धि का विनाश कर देती हैं। मोह ग्रस्त अज्ञानी पुरुष मिट्टी को भी सोना समझने लगता है। अतः एकमात्र मूर्खता ही सम्पूर्ण दुःखों की प्राप्ति में कारण है। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान क्रियाओं द्वारा आगामी काल का शोधन नहीं कर लेता, वह दुःख का ही भागी होता है। भला मूर्खता कहाँ बाधा नहीं पहुँचाती?

महात्मन्! बद्ध हुआ भी मैं बन्धन रहित हूँ' इस प्रकार की चित्तगत मूर्खता को ही परम बन्धन समझना चाहिए। इससे छुटकारा पाने के लिए सम्पूर्ण त्रिलोकी को परमात्मा का

स्वरूप समझना चाहिए। जिसे इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, और जो मूर्खता में स्थित है, उसके लिए वह स्वयं ही सहसा समस्त बन्धनों का कारण बन जाता है।

(देवपुत्र के रूप में) चुड़ाला बोली–राजन्! अकृत्रिम सर्वस्व त्याग ही दु:खों का अन्त करने वाला है। वास्तविक शुद्ध सर्व–त्याग से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, कृत्रिम त्याग से नहीं। यद्यपि आपने सम्पूर्ण राज्य का परित्याग कर दिया है किन्तु अभी अहंकार का त्याग शेष रह गया है। जो थोड़ी-सी भी चिन्ता को अपने हृदय में स्थान देता है, उसका त्याग कैसे सिद्ध हो सकता है?

राजन्! चिन्ता ही 'चित्त' कहलाता है। संकल्प तो उस चित्त का दूसरा नाम है। चिन्ता के रहते उस चित्त का त्याग कैसे सम्भव है? आपने इस दु:खभूत तपस्या में ही दृढ़ ग्रास भावना करली है। पहले तो आपने मन को वासना शून्य करके अनासक्त भाव से सर्वत्याग का उपक्रम किया और पीछे वासनायुक्त होकर अनन्त तपस्या की क्रिया स्वीकार करली। इस क्रिया में तो दु:ख ही दु:ख है। आप राज्यरूपी फंदे से निकल कर वनवास नामक एक दूसरे सुदृढ़ बन्धन में बँध गये हैं। इस समय आपको शीत, वात और आतप आदि की चिन्ता पहले से दुगुनी हो गई है। यह वनवास बन्धन से भी अधिक कष्टप्रद हो जाता है। अत: आप स्वयं ही उस निर्मल बोध्य वस्तु का विचार कीजिये तथा सर्व-त्याग और तपस्या–इन दोनों में आपको जो उत्तम प्रतीत हो, उसे हृदय में धारण कर परिपक्व बनाइये।

राजसिंह! आशा लोह की जंजीर से भी बढ़कर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर

पुराना होने पर नष्ट भी हो जाता है, परन्तु आशा तृष्णा तो दिनों-दिन बढ़ती ही चली जाती है।

(य) सर्वत्याग का स्वरूप (सर्ग 92-93)

(देवपुत्र के रूप में) चुड़ाला ने कहा-राजन्! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धु-बान्धव ये सब आपके तो हैं नहीं, फिर आपका सर्वत्याग हुआ कैसे? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं। उसका पूर्णरूप से परित्याग कर देने पर ही आप सर्वत्यागी शोक रहित हो सकेंगे।

राजा ने इस सर्वत्याग की बात सुनकर उस पर्वत के तट, वन, जल, वृक्ष के नीचे भूमि का भी त्याग कर दिया। साथ ही अपने पात्र, मृगचर्म, कुटीर आदि सबको निकाल कर यहाँ तक कि अपनी लंगोटी को भी अग्नि के समर्पित कर दिया तथा कुम्भ से बोले कि मैं अपनी समस्त वस्तुओं का त्याग कर रहा हूँ। अब मैं सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ।

कुम्भ ने कहा महाराज! अभी आपने पूर्ण त्याग नहीं किया है।

यह सुनकर राजा अपने शरीर को ही नष्ट करने को तैयार हो गये जिससे सर्वत्याग पूरा हो जाए। इस पर कुम्भ ने उन्हें रोक कर कहा कि आप इस निरपराध शरीर को क्यों महान् गर्त में गिराना चाहते हैं? आप तो उस अज्ञानी बैल के सदृश प्रतीत होते हैं जो कुपित होने पर अपने बछड़े को ही मारता है। यह शरीर तो बेचारा जड़, तुच्छ और मूकात्मा है। इसने कोई अपराध भी नहीं किया। व्यर्थ ही इसका परित्याग मत कीजिये। फिर शरीर का त्याग करने से भी आपका सर्व त्याग

तो होगा नहीं।

नरेश्वर! यह चित्त ही राज्य, देह और आश्रय सबका बीज है। अत: इस मन का परित्याग कर देने से ही सर्वत्याग हो जाता है। जैसे बीज समय पाकर वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है वैसे ही यह चित्त ही जगत् रूप में दिखाई दे रहा है। इस शरीर का संचालक भी चित्त है। अत: उसका त्याग हो जाने पर सर्वत्याग अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ राजन्! चित्त त्याग को ही सर्वत्याग कहा जाता है। चित्त का अभाव हो जाने पर वह परमपद ही शेष रह जाता है। चित्त को इस संसाररूपी धान का खेत कहा जाता है। अत: चित्त विनाश रूपी सर्वत्याग से एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

राजन्! सर्वत्याग सारी सम्पत्तियों का आश्रय स्थान है, इसलिए जो कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसे सब कुछ दिया जाता है। पहले आप सारी वस्तुओं का त्याग कर दीजिये फिर जिस मन से उनका त्याग किया है, उस मन का भी लय कीजिये। फिर त्याग रूपी मल से रहित होकर जीवन्मुक्त स्वरूप हो जाइये।

(र) चित्त नाश का उपाय (सर्ग-94)

कुम्भ बोले–महाराज! वासना को ही चित्त का स्वरूप समझिये। उसका त्याग अत्यन्त सुगम और सुख साध्य है। राज्य की अपेक्षा उस त्याग में अधिक आनन्द है। मूर्ख के लिए तो चित्त का परित्याग करना उतना कठिन और दु:साध्य है जितना कि पामर के लिए साम्राज्य प्राप्त करना। इस चित्त का सर्वदा नाश ही संसार का भी नाश है, वही चित्त का

अच्छी प्रकार त्याग है ऐसा दीर्घदर्शी महात्माओं ने कहा है।

राजन्! इस चित्त रूपी वृक्ष का अहंकार ही बीज है। अत: आप इस वृक्ष को मूल सहित उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाश के सदृश निर्मल बना डालिये। यह अहंकार ही इस चित्तरूपी वृक्ष का बीज (मूल) है। परमात्मा की माया ही इस मायामय संसार का खेत हैं, बुद्धि ही इसका अंकुर है, ये इन्द्रियाँ ही इसकी शाखाएँ है, तुच्छ विषयभोग इसकी अवान्तर शाखाएँ हैं। इस प्रकार इसके मूल रूप अहंकार को उखाड़ फेंक देने वाले परमात्म चिन्तन में पूर्ण प्रयत्न कीजिये। तीव्र विवेक-वैराग्य से वे वासनारूपी शाखाएँ नष्ट हो जाती है किन्तु मूल का छेदन करना प्रधान है। इसलिए आप अहंकार रूप मूल का विवेक-विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान ही चित्त रूपी वृक्ष के मूल को जलाने की अग्नि कही गई है।

अध्याय : 38

कुम्भ का शिखिध्वज को ज्ञानोपदेश

(सर्ग 95-110)

(अ) जगत् की सत्ता नहीं है (सर्ग 95-101)

कुम्भ बोले–राजन्! वास्तव में पितामह (ब्रह्मा) की भी सत्ता नहीं है, फिर उनके द्वारा निर्मित प्रपंच की सत्ता हो ही कैसे सकती है। यह भूत सृष्टि मृग-तृष्णा जल के सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिए शुक्ति में रजत ज्ञान के सदृश विचार से ही उसका विलय हो जाता है। कारण का अस्तित्व न होने से कार्य की सत्ता हो ही नहीं सकती। मिथ्याज्ञान के कारण दिखाई देने वाला पदार्थ किसी काल में भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसी ने मृग-तृष्णा जल से घड़े भरे हैं?

(ब) शिखिध्वज को आत्मबोध

राजन्! वास्तव में शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है क्योंकि निर्विकार होने से उसमें कारणत्व और कार्यत्व का अभाव है। इसलिए वस्तुतः ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। वह तर्क का विषय नहीं है अतः वह अविज्ञेय है। अतः यह जगत् वास्तव में किसी से उत्पन्न नहीं है और न इसकी सत्ता ही है। इसलिए आप न कर्ता है न भोक्ता; किन्तु सब कुछ शान्त, अजन्मा, कल्याणमय ब्रह्म ही

है। वास्तव में कारण की सत्ता ही नहीं है। इसलिए यह जगत् किसी का भी कार्य नहीं है। किसी का कार्य न होने से इस सृष्टि का तीनों कालों में अत्यन्त अभाव है। इस प्रकार अहंकार का कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिए राजन् आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्ष की बात क्या है?

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीति से परब्रह्म में विश्राम पाकर दो घड़ी तक वायु रहित स्थान में दीपशिखा की तरह निश्चल तथा शान्त चित्त हो गये। जब राजा निर्विकल्प समाधि में स्थित थे तब कुम्भ ने उन्हें तत्काल जगाया।

कुम्भ ने कहा–राजन्! अब आप अज्ञानरूपी निद्रा से जाग गये हैं और कल्याणरूप होकर स्थित हैं। जब परमात्मा का एक-बार स्पष्टरूप से अनुभव हो जाता है, तब उसके लिए समस्त अनिष्टकारक पदार्थों का अभाव हो जाता है। अत: अब आप समस्त कल्पनारूपी दोषों से रहित हो जीवन्मुक्त बन गये हैं। महाराज! परमात्मा से भिन्न कोई भी दूसरी कल्पना इस संसार में है ही नहीं। आपको जो निर्मल परमात्म तत्त्व ज्ञात हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ब्रह्म है। वही सर्वस्वरूप हो सदा ही स्थित रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अगम्य होने के कारण वह अनिर्वचनीय, अति उत्तम और विलक्षण पदार्थ है।

महाराज! अपनी ही सत्ता में स्थित ब्रह्म वास्तव में तो न किसी का उपादान कारण है और न किसी का निमित्त कारण है। वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है। ''देह आदि मैं हूँ'' इस तरह की भावना अत्यन्त विनाश कारक बन्धन के लिए होती है। तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरह की भावना

विशुद्धमोक्ष के लिए होती है। अहंकार-ज्ञान का अभाव मोक्ष है तथा अहंकार-ज्ञान ही बन्धन है। यह सृष्टि ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है क्योंकि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति वाक्य का अर्थ है। वहाँ वाणी की भी गति नहीं है।

(स) कुम्भ का अन्तर्धान होकर पुनः प्रकट होना

(सर्ग 102-105)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! कुम्भ के ऐसा कहने पर राजा शिखिध्वज हाथ में फूल लेकर कुम्भ को प्रणाम करने के लिए प्रति वचन बोलना ही चाहते थे कि तब तक कुम्भ अन्तर्धान हो गये। फिर वे सोचने लगे-'अहो ब्रह्मा की लीला बड़ी विचित्र है, जो कुम्भ के ब्याज से मुझे सदा अभ्युदय स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन देवकुमार के प्रभाव से मैं प्रबुद्ध हो गया। अब मैं पूर्ण शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ, पूर्णतः तृप्त हो रहा हूँ, और केवल आनन्द में ही स्थित हूँ। मैं अपने वास्तवकि स्वरूप में स्थित हूँ।' इस प्रकार विचार करते हुए वे मौन होकर अचलरूप से स्थित हो गये।

उधर चुड़ाला कुम्भ वेश में अपने स्वामी शिखिध्वज को प्रबुद्ध कर आकाश मार्ग से गमन करती हुई पुनः अपने चुड़ाला के वेश में आकर अपनी नगरी में प्रविष्ट हुई तथा पुनः राज्य कार्य करने लगी। तीन दिन के बाद वह पुनः कुम्भ के वेश में राजा के पास पहुँची जहाँ राजा निर्विकल्प समाधि में स्थित थे। कुम्भ ने उन्हें जगाया तो शिखिध्वज ने उनसे पुनः आने का कारण पूछा। कुम्भ ने उनके आत्मज्ञान की प्रशंसा की तथा वे भी तृप्त हुए अपने विचार व्यक्त करने

लगे।

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज आत्मज्ञानी होने से अध्यात्म विषयक विचित्र कथाएँ कहते हुए छः घड़ी तक वन में बैठे रहे। फिर वन पर्वतों पर घूमते हुए दोनों ने आठ दिन व्यतीत किए।

कुछ दिनों के बाद कुम्भ के वेश में चुड़ाला ने उनके साथ रति सुख की भावना की। उसने शिखिध्वज से कहा कि अब मैं स्वर्ग जा रहा हूँ और सायं काल होते-होते निश्चय ही लौट आऊँगा। यह कहकर कुम्भ आकाश में चले गये तथा आँखों से ओझल हो गए। आँखों से ओझल होकर कुम्भ ने अपने शरीर का परित्याग करके पुनः चुड़ाला के रूप में आ गई तथा अपने नगर में पहुँच कर राज्य कार्य देख कर पुनः राजा शिखिध्वज के पास आ गई। वहाँ कुम्भ वेश में पहुँची चुड़ाला को उदास देखकर शिखिध्वज ने उनसे उदासी का कारण पूछा तो कुम्भ ने कहा जब मैं पुनः यहाँ आ रहा था तब मार्ग में दुर्वासा ऋषि मिले। उन्होंने मुझे शाप दिया कि तुम प्रत्येक रात्रि को सुन्दर रमणी के रूप में बदल जाया करोगे। इसी शाप के कारण आज मैं उदास हो गया हूँ।

सन्ध्या के समय कुम्भ स्त्री रूप में बदल गया तथा दूसरे दिन फिर उसका कुम्भ रूप हो गया। इस प्रकार दोनों साथ-साथ रहने लगे।

एक दिन चुड़ाला ने शिखिध्वज के साथ विवाह का प्रस्ताव किया। राजा ने भी इच्छा-अनिच्छा का त्याग करके इस विवाह प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। रात्रि के समय जब कुम्भ स्त्री रूप में आया तब उनका विवाह सम्पन्न हो गया तथा रात्रि प्रेम युक्त व्यवहारों में व्यतीत की। इस प्रकार

दिन में वे मित्र और रात्रि में पति-पत्नी बन जाते थे। थोड़े दिन बाद उसने पुनः चुड़ाला के रूप में आकर अपना सारा वृतान्त राजा से कह सुनाया। राजा शिखिध्वज ने अपनी प्राण प्रिया को सामने उपस्थित देखा।

(द) शिखिध्वज का पुनः राज्य सम्भालना

(सर्ग-110)

चुड़ाला ने कहा-प्रभो! मैंने ही इन वन में कुम्भ आदि के देह निर्माण द्वारा माया प्रपंच किया था वह तो केवल आपको प्रबुद्ध करने के लिए ही था। जब से आप मोह वश राज्य त्याग कर वन में आए तभी से मैं आपको ज्ञान सम्पन्न बनाने के लिए प्रयत्न कर रही थी। मैंने कुम्भ वेष में आपको प्रबुद्ध किया। वास्तव में कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं है। आप स्वयं ध्यान लगा कर देखिये। राजा ने उसी समय ध्यान लगाकर यह सारा वृतान्त देख लिया। तब चुड़ाला ने कहा-आप इच्छा-अनिच्छा से रहित हैं। अब आप मेरा मत सुनिये। इस समय राज्य शासन द्वारा अपनी अवशिष्ट आयु बिता कर कुछ काल के बाद हम विदेहयुक्त हो जायेंगे। इसलिए आप अपने नगर में लौट चलिए और राज सिंहासन पर बैठ कर राज-काज संभालिए। मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी।

शिखिध्वज ने कहा-प्रिये! तुमने जो कुछ कहा वह ठीक कहा। हमें राज्य के ग्रहण अथवा त्याग से क्या प्रयोजन है। हम ब्रह्म स्वरूप में स्थित हुए यथा प्राप्त स्थिति के अनुसार निवास करेंगे।

तदन्तर दोनों अपनी पुरी में पहुँचे तथा चुड़ाला के साथ दस हजार वर्षों तक राज्य करने के बाद राजा का देहावसान

हो गया तथा वे परमपद स्वरूप निर्वाण को प्राप्त हो गये।

अध्याय : 39

ज्ञानोपदेश

(सर्ग 111-122)

(अ) कच को ज्ञान प्राप्ति (सर्ग 111-113)

वशिष्ठ जी कहते हैं—श्री राम! यह शिखिध्वज की कथा मैंने तुमसे आद्योपान्त कह दी। श्री राम! राजा शिखिध्वज ने जिस प्रकार व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार तुम भी राज्य व्यवहार करो। शिखिध्वज की तरह ही वृहस्पति के पुत्र कच ने भी ज्ञान प्राप्त किया था वह भी सुनो।

वशिष्ठ जी बोले—श्री राम! देवताओं के आचार्य वृहस्पति के पुत्र श्री मान् कच ने राजा शिखिध्वज की तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था, वह तुम सुनो।

कच का अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसार सागर से तर जाने के लिए कटिबद्ध हो गया। वह अपने पिता से कहने लगा—भगवन्! मैं इस संसार रूपी जाल से कैसे बाहर निकल सकता हूँ, यह आप बताइये।

वृहस्पति बोले—पुत्र! तुम संसार सागर से किसी प्रकार के उद्वेग के बिना किये गये सर्व-त्याग से तत्काल ही प्राणी बाहर निकल सकते हो। पिता का यह वचन सुनकर कच सब कुछ परित्याग करके अकान्त वन में चला गया। आठ वर्ष बाद वृहस्पति को उसने वन में देखकर फिर प्रश्न किया कि मुझे अभी तक निर्मल शांति प्राप्त नहीं हुई है। तो वृहस्पति ने

कहा, 'सभी का परित्याग करो।' यह कह कर वृहस्पति आकाश में जाकर अदृश्य हो गये। कच ने सर्वस्व त्याग कर दिगम्बर स्वरूप धारण कर लिया। तीन वर्ष बाद फिर उसको पिता के दर्शन हुए तो उसने फिर कहा–पिता जी! मैंने दण्ड, कमण्डलु, कन्या आदि का भी त्याग कर दिया है किन्तु अपने आत्मपद में मेरी स्थिति नहीं हुई है। अब मैं क्या करूँ?

वृहस्पति बोले–पुत्र! चित्त ही सब कुछ है, अतः उसी का त्याग कर तुम अपने स्वरूप में स्थित हो जाओ। सर्वज्ञ लोग चित्त त्याग को ही सर्व त्याग कहते हैं। चित्त-तत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकार को ही चित्त जानते हैं। प्राणी का जो भीतरी अहंभाव है वही चित्त कहा जाता है। इस अहंकार रूप चित्त का त्याग तो फूलों के मर्दन से भी सुलभ है। जो वस्तु अज्ञान से उत्पन्न होती है उसका परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से विनाश हो जाता है। वास्तव में अहंकार कुछ है ही नहीं। अज्ञानियों के दृष्टि से यह उसी प्रकार असत् होता हुआ भी सत् सा प्रतीत होता है। अज्ञान से प्रतीत होने के कारण यह असत् नहीं है और वास्तव में है नहीं, इसलिए सत्य नहीं है। केवल परमात्मा ही सत्य वस्तु है। अज्ञान के कारण ही यह प्रतीत होता है, इसलिए मिथ्या है। अतः पुत्र तुम इस मिथ्या विश्वास को छोड़ दो। तुम केवल सच्चिदानन्दमय हो, तुम नित्य परमात्मा ही हो। तुम्हारा यह अहंभाव कुछ नहीं है।

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! वृहस्पति का इस प्रकार उपदेश पाकर कच जीवन्मुक्त हो गया। जिस प्रकार अहंकार रहित, अज्ञान मूलक जड़ चेतन की ग्रन्थि से रहित और परम शांत बुद्धि होकर कंच ब्रह्म में स्थित रहा, उसी प्रकार तुम भी निर्विकार होकर स्थित रहो। इस अहंकार को तुम असत्

समझो। तुम संकल्प रहित, सर्वव्यापी, मन से रहित सच्चिदानन्द घन स्वरूप हो।

निष्पाप राम! यह मायामय सम्पूर्ण जगत् अज्ञान से ही सत् सा दिखाई पड़ता है, और ज्ञान से सब ब्रह्म रूप ही है। यह माया परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से तुरन्त नष्ट हो जाती है। जैसे घट आदि के विनष्ट हो जाने पर घटादि का आकाश कभी नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहों के नष्ट हो जाने पर निर्लेप जीवात्मा का कभी नाश नहीं होता। वास्तव में तो कहीं, किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रकाशित हो रहा है।

(ब) सब कुछ ब्रह्म ही है (सर्ग-114)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! सृष्टि के आदि काल में परब्रह्म से यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। यह उस परब्रह्म में स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का निमित्त बनकर आज तक विद्यमान है। ब्रह्म में यह मन स्वाभाविक ही रहता है। जिस प्रकार किरणें सूर्य से भिन्न नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म से मन भिन्न नहीं है किन्तु अज्ञानी इसकी भिन्न कल्पना करता है जिससे उसे वे भिन्न प्रतीत होती है किन्तु ज्ञानी उनमें भेद नहीं मानता। उसको निर्विकल्प कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती। उसने प्राप्तव्य वस्तु परमात्मा को प्राप्त कर लिया इसलिए वह सांसारिक पदार्थों में कभी नहीं फँसता। यह मन ही अपनी विश्वाकार आकृति की भावना कर लेता है। यह जगत् की जिस रूप में कल्पना करता है, तत्क्षण ही संकल्पों से यह तद्रूप हो जाता है। यह

जगत् रूप जो विशाल आकार देखा जाता है वह सब मन का संकल्प ही है। यह संकल्प रूप होने के कारण सत्य नहीं है, मिथ्या है और असत्य इसलिए नहीं है कि यह प्रतीत होता है। 'यह जगत् परब्रह्म स्वरूप है' इस प्रकार की भावना करने पर यह जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। वास्तव में देखा जाए तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नहीं है।

(स) महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी

(सर्ग-115)

एक बार भृंगीश ऋषि भगवान् शंकर के पास गये और उनसे पूछा कि पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता तथा महात्यागी कैसे होता है?

भगवान शंकर ने कहा–महाभाग! अहंता, पाप और मात्सर्य से रहित जो मननशील पुरुष उद्वेग से रहित हो शास्त्र विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहीं पर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षी के सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्य का निष्काम भाव से आचरण करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। जो उद्वेग और हर्ष से रहित निर्मल समबुद्धि से शोकजनक परिस्थितियों में शोक नहीं करता और हर्ष जनक परिस्थिति में हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो आसक्ति रहित है और जिसका मन सम रहता है वह महाकर्ता कहा जाता है।

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी की अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्ध के अनुसार न्याय युक्त प्राप्त किए

हुए सारे पदार्थों का उपभोग करता है, वह महाभोक्ता कहाजाता है। जो पुरुष अहंकार से रहित और परमात्मा में स्थित होने के कारण न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मों का आचरण करता हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धि की खिन्नता से रहित होकर साक्षी के सदृश समस्त लोक व्यवहारों का किसी प्रकार की इच्छा के बिना अनुभव करता है, वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। जो सुख-दुःख को समान रूप से ग्रहण करता है, जो न्याय से प्राप्त अन्न को समान बुद्धि से खा लेता है-वह महाभोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, सुख, दुःख, जन्म और मृत्यु का जिसने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, सम्पूर्ण संशयों, वाणी, मन और शरीर की सी चेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निश्चयों का जिस पुरुष ने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण दृश्य रूप मन की कल्पना दिखाई दे रही है, उसका जिस पुरुष ने अच्छी तरह से त्याग कर दिया है, यह महात्यागी कहा जाता है।

निष्पाप राम! इस संसार में जो कुछ भी प्रतीत होता है वह निर्विकार परब्रह्म परमात्मा ही है। वह ब्रह्म से भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता, इसलिए तुम 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का अपने अंदर निश्चय करके स्थित रहो।

(द) चित्त का विलीन होना (सर्ग-116)

वशिष्ठ जी कहते हैं—श्री राम! वासना रहित अन्तःकरण को बलपूर्वक उत्पन्न हुए भी लोभ, मोह आदि दोष वैसे ही लिप्त नहीं कर सकते, जैसे कमल दल को जल लिप्त नहीं कर सकते। अहंकार नामक चित्त और पाप के विलीन हो जाने पर पुरुष सदा शांत प्रसन्न मुख रहता है। उस समय साधक की वासनाओं का समूह छिन्न-भिन्न सा होकर धीरे-धीरे बिल्कुल क्षीण होने लग जाता है। क्रोध और मोह का क्षय होने लगता है, काम और क्रोध चले जाते हैं। इन्द्रियाँ और दुःख विकसित नहीं होते। ये साधक के मन को लिप्त नहीं कर सकते। चित्त के विलीन हो जाने पर उस श्रेष्ठ साधक की देवतागण भी प्रशंसा करते हैं।

श्री राम! दुःख रूपी रत्नों की खानि और जन्म-मरण रूप संसार-सागर के पार होने की इच्छा वाले पुरुष को निरतिशयानन्दमय परमात्मा में नित्य, निरन्तर, समुचित विश्राम पाने के लिए ''मैं कौन हूँ'', ''यह जगत् क्या है'', ''परमात्म तत्त्व कैसा है'', ''इन तुच्छ भोगों में कौन सा फल मिलेगा?'' इन प्रश्नों पर विवेकपूर्वक विचार करना चाहिए। यही परम साधन है। इसलिए मनुष्य को उपर्युक्त साधन का आश्रय लेना चाहिये।

(य) मनु का इक्ष्वाकु को ज्ञानोपदेश (सर्ग 117-119)

वशिष्ठ जी कहते हैं—राम! तुम्हारे वंश के आदि पुरुष इक्ष्वाकु नामक राजा जिस प्रकार के विवेकपूर्वक विचार से मुक्त हो गये, उस विचार को तुम सुनो।

अपने राज्य का परिपालन करते हुए इक्ष्वाकु राजा किसी

समय एकान्त में जाकर अपने मन में स्वयं यह विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि-'बुढ़ापा, मृत्यु, क्षोभ, सुख, दु:ख तथा भ्रम से युक्त इस दृश्य प्रपंच का हेतु क्या है।' इस प्रकार विचार करते हुए भी वे जब जगत् के कारण को न समझ सके, तब उन्होंने एक दिन ब्रह्म लोक से आये हुए सभा में बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनु से पूछा-

इक्ष्वाकु ने कहा-भगवन्! 'यह सृष्टि कहाँ से आई, इसका स्वरूप कैसा है, तथा कब, किसने इसकी रचना की है?' आप कहिये।

मनु बोले-राजन्! तुम्हारे अन्दर सुन्दर विकास युक्त विवेक का उदय हुआ है, तभी तुमने यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न मिथ्या संसार जाल का उच्छेद करने वाला तथा सब प्रश्नों का सार है।

महीपते! यह जो कुछ जगत् दिखाई दे रहा है वह कुछ भी नहीं है। यह मृगजल की भाँति मिथ्या है। किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'सत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामों से कहा जाता है। उस परमात्मा रूप दर्पण में यह दृश्य रूप जगत् प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीति मात्र है। इसलिए संसार में न तो किसी का बन्धन है और न मोक्ष है। केवल एक मात्र सब विकारों से रहित ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म ही जगत् के अनेक रूपों में प्रतीत होता है। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए राजन्! तुम बन्ध और मोक्ष से रहित होकर निर्भय पद रूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाओ।

अज्ञान की उपाधि से युक्त जीव कर्मानुसार सुख-दु:ख भोगते हुए अनेक योनियों में भ्रमण करते रहते हैं। किन्तु वास्तव में सुख-दु:ख और मोह आदि विकार मन में ही होते

हैं, आत्म में नहीं। परमात्मा न तो शास्त्रों में स्वाध्याय द्वारा और न गुरु के द्वारा ही दिखाई देता है। वह तो अपनी स्वस्थ-श्रद्धा युक्त पवित्र और स्थिर बुद्धि से ही अपने आप दिखाई देता है। इसलिए रागद्वेष रहित बुद्धि से ही इन अपनी इन्द्रिय आदि का अवलोकन करना चाहिए। 'मैं ही देह हूँ' यह बुद्धि संसार में फँसाने वाली है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को इस प्रकार की बुद्धि को कभी नहीं अपनाना चाहिए। मैं आकाश से भी सूक्ष्मतर सच्चिदानन्दमय हूँ ऐसी जो नित्य अचला बुद्धि है, वह संसार बन्धन से छुड़ाने वाली है। माया के कार्य रूप जगत् का आकार भी परमात्मा का संकल्प होने से परमात्मा ही है। इसलिए उसी में अचल स्थित रहो।

वत्स! तुम संकल्परूपी कलंकों से रहित चित्त को परमात्मा में स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्तापन के अभिमान से रहित, शान्त और सुखपूर्वक ब्रह्म के स्वरूप में स्थित हुए राज्य का पालन करो। अहो! मोह में डाल देने वाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अंगों में भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्मा को यह जीव नहीं देख सकता। इसलिए अहंकार से रहित निर्मल सात्त्विक अन्तःकरण से 'सभी पदार्थ निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है'-ऐसी भावना करें। यह रमणीय है और यह रमणीय नहीं है-इस प्रकार की भावना ही तुम्हारे दुःख का कारण है। यह भावना जब सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्नि से जल जाती है, तब कहीं भी दुःख का नामोनिशान भी नहीं रह जाता। पुत्र! तुम विवेक विचार से समस्त कल्पनाओं से रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भुवनों को परमात्मा के स्वरूप से परिपूर्ण समझो तथा परमात्मा के आनन्द का अनुभव करते हुए

दीर्घकाल तक स्थिर रहो और समता और शान्ति से युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप हो जाओ।

(र) योग की सात भूमिकाएँ (सर्ग 120-122)

मनु महाराज ने कहा-राजन्! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनों की संगति से अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिए। यही योगी के योग की पहली भूमिका कही जाती है। इसका नाम 'श्रवण' भूमिका है।

सच्चिदानन्द ब्रह्म के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है।

संसार के संग से रहित होकर परमात्मा के ध्यान में नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है।

जिसमें वासना का अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कार से अज्ञान आदि निखिल प्रपंच की निवृत्ति करने वाली 'विलापनी' नाम की चौथी भूमिका है।

इस 'ब्रह्मवित्' पुरुष को संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। यह विशुद्ध चिन्मय 'आनन्द स्वरूपा' नाम की पाँचवी भूमिका है। इस भूमिका में जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये आधे जागे हुए पुरुष के सदृश रहता है।

छठी भूमिका में एक विज्ञानान्दघन परमात्मा का ही अनुभव होता है। संसार का अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य को संसार की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस योगी को जाग्रत अवस्था में भी संसार की प्रतीति नहीं होती। इसे 'स्वसंवेदन रूपा' शान्तिमय 'तुर्यावस्था' कहते हैं।

केवल विदेहमुक्ति रूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह

अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यता रूप है। इस तुर्यातीत सप्तम भूमिका में स्थित योगी को 'ब्रह्म विद्वरिष्ठ' कहते हैं। इसमें संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसा योगी मुर्दे की भाँति दूसरे का जगाये जाने पर भी नहीं जागता। वह जीता है तो भी थोड़े समय ही जीता है। मरने पर उसकी आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है तब उसको विदेहमुक्त कहते हैं। यह 'तुर्यातीत अवस्था' परममुक्ति रूप है।

इन सातों में जो पहले की तीन भूमिकाएँ हैं वे जगद्रूप ही हैं, और जो चौथी भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गई है; क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है। आनन्द के साथ एकात्मभाव हो जाने से पाँचवीं भूमिका अर्द्ध-सुषुप्त रूप है। तथा अन्य पदार्थों के ज्ञान से रहित एकमात्र स्वसंवेदन रूप छठी भूमिका 'तुर्य' शब्द से कही जाती है। 'तुर्यातीत' शब्द से कहलाने वाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अंतिम है। यह अवस्था मन और वाणी से परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्म रूप ही है।

राजन्! इस सप्तम भूमिका के अवलम्बन से सब दृश्यों को ब्रह्म में विलीन करके तुम यदि दृश्य के चिन्तन से रहित हो जाओगे तो निश्चय ही मुक्त हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिसकी बुद्धि भोगों और सुख दुःखों से लिपायमान नहीं होती, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। 'मैं जीवन-मरण, सत्-असत् सबसे रहित हूँ'-इस प्रकार जो मनुष्य आत्माराम होकर स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। मनुष्य व्यवहार करे चाहे न करे, गृहस्थ हो, चाहे अकेला विचरण करने वाला यदि हो, परन्तु 'मैं वास्तव में कुछ भी नहीं हूँ, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय करने से

सदा शोक से मुक्त ही रहता है। वासना रहित बुद्धि से जो कर्म किया जाता है, वह कर्म जले हुए बीज के सदृश रहता है। वह फिर अंकुर उत्पन्न नहीं करता, अर्थात् भावी जन्म को देने वाला नहीं होता। इन्द्रियों से ही जो कर्म किये जाते हैं उससे मनुष्य कर्ता नहीं होता, इसलिये वह भोक्ता भी नहीं होता। ज्ञान वृत्ति के एक बार उदय हो जाने पर वह दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है।

राजन्! व्यष्टि चेतन को जब तक विषयभोग की अभिलाषा बनी रहती है, तभी तक उसकी 'जीव' संज्ञा है। यह अभिलाषा भी अज्ञान के कारण ही है। जब यथार्थ ज्ञान से विषयभोग की अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब यह व्यष्टि चेतन जीवत्व रहित और निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यह जो वासना रूपी अविद्या है, वह अहंकार रूपी मोह के विनाश से विलीन हो जाती है और अविद्या का यह अभाव ही प्रसिद्ध मोक्ष है। ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने शरीर का किसी तीर्थ में त्याग करे दे या किसी चाण्डाल के घर में त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीर का त्याग न करे, या वर्तमान क्षण में ही त्याग कर दे, फिर भी वह ज्ञान प्राप्ति काल में पहले से ही अन्तःकरण से रहित और जीवन्मुक्त हो चुका है। अहंकार की भ्रान्ति बन्धन कारक है और ज्ञान से अहंकार का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रिय पुत्र! जो सांसारिक दोषों से सर्वथा रहित है, उन जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी सज्जनों की श्रद्धा भक्ति पूर्वक सेवा पूजा करने से जो परम पवित्र पद प्राप्त होता है, वह न तो यज्ञों और तीर्थों से प्राप्त होता है, और न तपस्याओं तथा दानों से ही।

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! इस प्रकार कह कर मनु भगवान् ब्रह्मलोक को चले गये और इक्ष्वाकु भी उस बोधरूप दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित हो गये।

अध्याय : 40

योग का अभ्यास

(सर्ग 123-126)

(अ) योग की भूमिकाओं का अभ्यास

(सर्ग 123-126)

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! जीव चौरासी लाख योनियों में घूमता हुआ अन्त में मनुष्य जन्म में भाग्योदय होने पर विवेकी बन जाता है। उसे संसार की असारता का ज्ञान होने लगता है तथा वैराग्य भावना जागने लगती है। तब वह सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और उन्हीं में प्रसन्न रहता है। वह यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा आदि पुण्य कर्मों का ही सेवन करता है। शास्त्र विपरीत कर्म से सदा डरता है और सांसारिक विषय भोगों की कभी अभिलाषा नहीं करता। ज्ञानदायक शास्त्रों को प्राप्त करके उनका विवेक-विचार पूर्वक स्वाध्याय करता है। इस प्रकार के विचार से सम्पन्न पुरुष 'शुभेच्छा' नामक भूमिका को प्राप्त होता है। इसी को 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं।

इसके बाद अधिकार की प्राप्ति होने पर वह 'विचार' नामक दूसरी योग भूमिका में प्रवेश करता है। उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा ध्यान और कर्मों में तत्पर रहने वाले पुरुषों में से जिन्होंने अध्यात्म शास्त्रों की प्रशस्त व्याख्या करने के कारण अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, उन

श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है। वह मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह को उसी प्रकार छोड़ देता है जैसे साँप केंचुली को। वह विवेक-विचार से ब्रह्म विषयक रहस्य को जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है, तपस्वियों के आश्रमों में निवास करता है, अध्यात्म शास्त्रों की कथाओं का मनन करता है, भोग वस्तुओं से वैराग्य करके चट्टान की शय्या पर सोता है। इससे उसे अध्यात्म विषयक यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस भूमिका का नाम 'विचारणा' है। इसी को 'मनन' भी कहते हैं।

तीसरी भूमिका में पहुँचकर विवेकी पुरुष दो प्रकार के असंग का अनुभव करता है। एक सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ। 'मैं न कर्ता हूँ, और न भोक्ता ही, मैं सांसारिक कर्मों के लिए बाध्य नहीं हूँ और न दूसरों के लिए बाधक हूँ।' इस प्रकार के निश्चय से विषय भोगों की आसक्ति से रहित होना ही 'सामान्य असंग' है। सुख या दुःख की प्राप्ति पूर्व कर्म के अनुसार निश्चित और ईश्वर के अधीन है। इसमें तेरा कर्तृत्व कैसा? ये विस्तृत विषय भोग अन्त में सन्ताप देने वाले होने के कारण महारोग हैं, तथा ये साँसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ है। संयोग के अन्त में वियोग निश्चित है और ये मन के सारे विकार बुद्धि की व्याधियाँ है। सब पदार्थों को ग्रास बनाने के लिए काल सदा तैयार रहता है।

इस प्रकार की सम्पूर्ण पदार्थों में मिथ्यात्व की भावना है वह भी 'सामान्य असंग' कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यास योग से जो नाम रूप की भावना से रहित होकर 'न मैं कर्ता हूँ न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्ध करता है'-यों शान्त और मौन रूप से स्थित रहता है वही श्रेष्ठ असंग कहलाता है। यही

तीसरी भूमिका है। इसी को 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इसमें स्थित पुरुष परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है।

श्री राम! रागादि दोषों वाले मूढ़ पुरुषों को सैंकड़ों जन्म के बाद जब तक महापुरुषों के संग से वैराग्य उत्पन्न न हो जाय तब तक उनका यह विस्तृत संसार रहता ही है। वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर प्रथम भूमिका का उदय प्राणी को अवश्य होता है और तदन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है। प्रथम आदि भूमिकाओं में पहुँच कर मरने वाले प्राणी का भूमिकाओं के अनुसार ही पूर्वजन्म का दुष्कृत्य नष्ट हो जाता है। तदन्तर वह योगी देवताओं के विमानों में, लोकपालों के नगरों में तथा सुमेरु पर्वत के वन कुंजों में अप्सराओं के साथ रमण करता है। उसके बाद पूर्व जन्मों के भोग समूहों का नाश हो जाने पर वे योगी लोग पृथ्वी पर पवित्र, गुणवान और लक्ष्मीवान सज्जनों के घर में जन्म लेते हैं तथा वे पूर्वजन्म के योग-साधना संस्कारों के अनुसार योग का ही साधन करते हैं। वे उस क्रम से आगे की भूमिका का अभ्यास करने लगते हैं।

श्री राम! ये पूर्वोक्त तीन भूमिकाएँ जाग्रत कही गई हैं। इनसे योग युक्त पुरुष में श्रेष्ठता प्राप्त होती है। चौथी भूमिका में पहुँचे योगी सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अनुभव करते हैं। उनका अद्वैत अचल हो जाता है। वे समस्त संसार को स्वप्न के समान अनुभव करते हैं। इसीलिए चौथी भूमिका को 'स्वप्न' कहते हैं।

पाँचवीं भूमिका में पहुँचा योगी केवल सत्स्वरूप ब्रह्म बनकर रहता है। वह समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्म में नित्य स्थित रहता है। अन्तर्मुख वृत्ति से रहता

है। वह तन्द्रा में स्थित के सदृश दिखाई देता है।

इसका वासना शून्य होकर अभ्यास करता हुआ योगी छठी भूमिका में चला जाता है। यहाँ वह द्वैत और अद्वैत की भावना से रहित हो जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त हुआ सा स्थित रहता है। इसको बाहरी ज्ञान नहीं रहता किन्तु दूसरों के चेष्टा करने पर ब्रह्म ज्ञान हो सकता है।

तदन्तर छठी भूमिका में स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिका में पहुँचता है। सातवीं योग-भूमिका विदेह मुक्तता कही गई है। यह शान्त स्वरूप वाणी से अगम्य और सभी भूमिकाओं की सीमा है।

शैव उसे 'शिव' कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और सांख्यवादी उसे प्रकृति और पुरुष का यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगों ने अपनी बुद्धि के अनुसार अनेक रूपों से सप्तम भूमिका की भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेश योग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया ही जाता है। (इस भूमिका में स्थित योगी को दूसरों के द्वारा चेष्टा करने पर भी संसार का ज्ञान नहीं होता।) श्री राम ये सातों भूमिकाएँ मैंने तुमसे कह दीं। इनके अभ्यास योग से मनुष्य सम्पूर्ण दुःखों से रहित हो जाता है।

(ब) इच्छा ही संसार है

श्री राम! 'यह मुझे मिल जाये' यह जो संकल्प रूप इच्छा है, बस, यही संसार है। एकमात्र विषयों के स्मरण का परित्याग कर देने से इच्छारूपी संसार का अंकुर उत्पन्न नहीं होता। विष के समान अनेक प्रकार का अनर्थ पैदा करने वाली, इस इच्छा को तनिक सी बढ़ते ही विषयों के विस्मरण

रूप शस्त्र से काट डालना चाहिए। इच्छा से युक्त जीवात्मा दीनता को कभी भी नहीं छोड़ सकता। इसका श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने अन्दर संकल्पों से रहित होकर मृतक की तरह स्थित रहे। 'यह मुझे मिल जाय' इस तीव्र इच्छा को ही उत्तम पुरुष 'संकल्प' कहते हैं। और जो संसार के पदार्थों की भावना से रहित होता है, उसी को 'संकल्प का त्याग' कहते हैं।

श्री राम! संकल्प को ही तुम स्मरण समझो। और विस्मरण (संकल्प के अभाव) को विद्वान् लोग कल्याणरूप समझते हैं। संकल्प में पहले के अनुभव किए हुए पदार्थों की तथा भविष्य में होने वाली पदार्थों की भी भावना की जाती है। संकल्प त्याग ही परम श्रेय का सम्पादक है। इसकी भावना लोग अपने हृदय में क्यों नहीं करते? संसार का संकल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उस संकल्प का अभाव ही मोक्ष है। संसार के स्मरण के अभाव को ही स्वाभाविक 'चित्तविनाश रूप योग' कहते हैं। श्री राम! शिव, सर्वव्यापी, शांतिमय, चिन्मय, अज और कल्याणरूप ब्रह्म के साथ जो जीव-ब्रह्म के एकत्व का निश्चय है, वही वास्तविक सर्व त्याग है।

श्री राम! अहंता ममता की भावना रखने वाला मनुष्य दुःख से कभी छुटकारा नहीं पाता; किन्तु अहंता ममता की भावना से रहित हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है।

अध्याय : 41

वाल्मीकि जी का भरद्वाज को उपदेश

(सर्ग 127-128)

(अ) परमात्मा के अनुभव से ही मोक्ष प्राप्ति

(सर्ग-127)

वशिष्ठ जी द्वारा राम को दिये गए ज्ञान के उपदेश का वर्णन महर्षि वाल्मीकि भरद्वाज के सामने कर रहे थे तो भरद्वाज ने वाल्मीकि से स्वयं के संसार सागर से पार होने की युक्ति पूछी, तो वाल्मीकि जी ने कहा-

शिष्य! श्री वशिष्ठ द्वारा कथित आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण राम-वृतान्त, मैंने तुमको सुना दिया, अब तुम अपनी बुद्धि से पहले विवेक-पूर्वक विचार कर पीछे उसका मनन करो। मैं भी इस विषय में तुमसे जो वर्णन करने योग्य रहस्य है, उसे कहता हूँ, सुनो।

भद्र! यह जो यहाँ संसार रूप अविद्या प्रपंच दीख रहा है, वह तनिक भी सत्य नहीं है, सर्वथा मिथ्या है। विवेकी पुरुष वास्तविक तत्त्व को विवेकपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं; किन्तु अविवेकी पुरुष वाद-विवाद करते रहते हैं। प्रिय मित्र! वास्तव में सच्चिदानन्द परमात्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है। अत: प्रपंच से तुम्हारा क्या प्रयोजन है? मैं तुमसे आगे जो वेदान्त शास्त्रों के रहस्य बतलाता हूँ, उनके अभ्यास से तुम अपने चित्त को परम विशुद्ध बना डालो।

मित्र! यह जो संसाररूपी प्रपंच दीख रहा है, इसके मूल में भी सत्ता का अभाव ही है और इसके अन्त में भी सत्ता का अभाव ही है। मध्यकाल में भी विचार करने पर इसकी कोई सत्ता न होने के कारण केवल प्रतीति मात्र ही है। अत: विवेकी पुरुष इस संसार में किसी तरह का विश्वास नहीं करते; क्योंकि अनादि वासना के दोष से ही यह असत् संसार दिखलाई देता है। इसका गन्धर्व नगर के समान मिथ्या स्वरूप है और अनेक प्रकार के भ्रमों से भरा है। तुम इस विषय वासनारूपी विष लता का आश्रय लेकर क्यों व्यर्थ मोह में हो? यह समस्त जगत् न तो आरम्भ में है और न अन्त में ही है इसलिए तुम यह भी समझ लो कि मध्य में भी यह है ही नहीं। इस जगत् का सारा वृतान्त स्वप्न-जैसा है।

अज्ञान मूलक ये सारे भेद जल में बुदबुदों की भाँति क्षण-क्षण में उत्पन्न होते रहते हैं, और अज्ञान का नाश होते ही एकमात्र ज्ञानरूप समुद्र में विलीन हो जाते हैं। इस अज्ञान समुद्र में अविद्या का रूप वायु से उत्पन्न सबसे बड़ा यह 'अहं' नाम का तरंग है। विषयों में चित्त के गिरने के जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतु भूत राग आदि दोष इस समुद्र के छोटे-छोटे कल्पित तरंग हैं, ममता ही इसमें आवर्त है; जो स्वत: ही इच्छानुसार प्रवृत्त होता रहता है। इस समुद्र में राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं। उन्हीं दो मगरों से मनुष्य पकड़ लिया जाता है और उसका निश्चय ही अनर्थ रूपी पाताल में प्रवेश हो जाता है। यह प्रवेश किसी से भी रोका नहीं जा सकता।

प्रसिद्ध परमात्मा का जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगों के लिए अज्ञान से आवृत रहता है। इसलिए जैसे साधारण मनुष्य को जल में स्थल और स्थल में जल का भ्रम हो जाता

है, वैसे ही मनुष्यों को अनात्म में आत्मा का और आत्मा में अनात्मा का भ्रम हो जाता है। वास्तव में न तो असत् वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और न सद् वस्तु का कभी अभाव होता है। केवल माया द्वारा रचित चित्र-विचित्र रचनाओं के ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। इसलिए प्रचंड बने हुए अज्ञान की इस व्यामोह शक्ति को विशुद्ध सत्त्व के बल से जीतकर विश्वास युक्त मन से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि साधनों का अनुष्ठान करो। इसके अनन्तर ध्यान समाधि के द्वारा अपने आप ही परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करो, जिनके द्वारा अज्ञान से आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात्रि दिन के रूप में परिणत हो जाय। केवल पुरुष प्रयत्न रूप कर्मों के महेश्वर की कृपा प्राप्त होने पर ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु परमपद रूपी परमात्मा की प्राप्ति कर लेते हैं।

भरद्वाज! तुम अपने विवेक से इस मोह का स्पष्ट रूप से त्याग कर दो। फिर तो तुम असाधारण परमात्मा के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लोगे। इसमें सन्देह नहीं है। पुत्र! कामना और आसक्ति होने पर शत्रु स्वरूप हुए जिस पुण्यकर्म से तुम्हें इस प्रकार का बन्धन प्राप्त हुआ है, कामना और आसक्ति से रहित होने पर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्य कर्म से ज्ञान के द्वारा तुम मोक्ष पा जाओगे, क्योंकि रागादि दोषों से रहित सज्जनों का यह सत्कर्मों का संवेग प्राणियों के पूर्व जन्म के पापों को नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापों को वैसे ही शान्त कर देता है जैसे कि वर्षा का जल समूह दावानल को।

मित्र! संसार चक्र के आवर्तरूपी भ्रम में यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्य कर्मों को छोड़कर केवल

ब्रह्म में आसक्त हो जाओ। ब्रह्म में प्रीति न होकर जब तक बाह्य विषयों में आसक्ति है, तभी तक विकल्प से उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखाई देता है। ब्रह्म में चित्त की स्थिरता होने पर केवल ब्रह्म ही दिखाई देता है। जो हर्ष और शोक से विचलित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते।

सखे! यह सारा जीव समूह हर्ष-विषाद आदि अवस्था रूप झूले पर निरन्तर आरुढ़ है। इसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि रूप छः झूलों में झुलाकर काल-क्रीड़ा करता है। अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो? इस तरह क्रीड़ा करने वाला काल ही अनेक उपायों से एक के पीछे एक अनेक सृष्टियों को उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्टकाल से छुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभंगुर विनाशशील शरीरों की तो बात ही क्या? इसलिए भरद्वाज! अनेक तरंगों से युक्त इस जगत् को क्षणभंगुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी शोक नहीं करता। इसलिए तुम अमंगल रूप शोक को छोड़कर कल्याणकारी वस्तुओं का विचार करो और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करो। जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओं के ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्त वाले हो गए हैं और जो वेदादि सत्शास्त्रों में विश्वासपूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषों के ऊपर परमात्मा का परम अनुग्रह होता है।

(ब) परमात्मा में लय का क्रम (सर्ग-128)

बाल्मीकि जी कहते हैं-भरद्वाज! मुक्ति देने वाले इस महान् ज्ञान को तुम सुनो। इसके केवल सुनने से ही तुम फिर

संसार सागर में नहीं डूबोगे। इसका अन्तःकरण में विचार करने से परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्राप्त होने पर पुरुष फिर शोक नहीं करता।

भरद्वाज! निषिद्ध कर्म, सकाम कर्म, तथा विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जनित सुख भोग से रहित शम, दम और श्रद्धा से युक्त पुरुष कोमल आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को जीत करके तब तक ॐकार का उच्चारण करता रहे, तब तक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय। तदन्तर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिए प्राणायाम करे और इसके बाद विषयों को इन्द्रियों से धीरे-धीरे खींच ले। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिस की जिस-जिस से उत्पत्ति हुई है, उस-उस को जानकर उन-उन के उपादन कारण में उन सबको विलीन कर दे। पहले अपने आपको चराचर विश्व में अनुभव करे। इसके बाद सारे विश्व को अपने आत्मा के अन्दर अनुभव करे; फिर विवेक के द्वारा इसका भी अभाव करके केवल आत्मा में ही स्थित रहे। तदन्तर प्रकृति सहित ब्रह्म के स्वरूप में आत्मभावना करे। इसके पश्चात् परम कारण रूप केवल निर्विशेष निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में आत्मभावना करे।

(स) देह इन्द्रिय आदि के लय का क्रम

अपने स्थूल देह के मांस आदि, जो पार्थिव भाग है उसका पृथ्वी में, रक्त आदि का जो जलीय भाग है उनका जल में, तथा तो तेजस भाग है उनका अग्नि में विवेक के द्वारा विलय कर दे। व्यष्टि प्राणवायु का महावायु में और आकाश अंश का आकाश में लय कर दे। श्रोत्रेन्द्रिय का दिशाओं में, और

त्वगिन्द्रिय का विद्युत में लय कर दे। चक्षुरिन्द्रिय का सूर्य में तथा रसनेन्द्रिय का जल के देवता वरुण में एवं घ्राणेन्द्रिय का अश्विनी कुमारों में लय कर दे। समष्टि प्राण का वायु में, वाणी का अग्नि में और हस्तेन्द्रिय का इन्द्र में लय कर दे। पादेन्द्रिय का विष्णु में तथा गुदा इन्द्रिय का मित्र में लय कर दे। उपस्थेन्द्रिय का कश्यप में लय करके मन का चन्द्रमा में लय कर दे। बुद्धि का ब्रह्मा में लय कर दे।

मित्र! इन्द्रियों के रूप में देवता ही स्थित हैं। इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश द्वारा लय करने का आदेश श्रुति वाक्य को प्रमाण मान कर ही दे रहा हूँ, मैंने अपने मन से किसी प्रकार की कल्पना करके इन अर्थों को तुम्हारे सामने प्रकट नहीं किया है। इस तरह अपनी देह को उसके कारण में विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे। इसके बाद पूर्वोक्त क्रम से परमात्मा में आत्मभावना करे। वही परमात्मा जगत् के व्यवहार में यज्ञ के रूप में स्थित है।

(द) पृथ्वी आदि भूतों के लय का क्रम

योगी को चाहिए कि वह पृथ्वी का जल में लय करके जल को फिर तेज में लीन कर दे। तेज को वायु में विलीन करके उस वायु को फिर आकाश में विलीन कर दे और आकाश का समस्त भूतों की उत्पत्ति के कारणभूत महाकाश में लय कर दे। योगी उस महाकाश में एकमात्र लिंग शरीर धारण किये हुए स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि–इन सबको पंडित लोग लिंग शरीर कहते हैं। तदन्तर वह योगी बाहर निकल कर वहाँ 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' यों चिन्तन करे। फिर वह बुद्धिमान योगी सूक्ष्म

और निराकार अव्याकृत प्रकृति में अपने लिंग शरीर को भी विलीन करके स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत् रहता है, वह अव्यक्त अव्याकृत (माया) नाम और रूप से रहित है। उसी को कोई प्रकृति, कोई माया तथा कोई परमाणु एवं कोई अविद्या कहते हैं।

उस अव्याकृत में प्रलय काल में सभी प्राणी पदार्थ लय को प्राप्त होकर अव्यक्त रूप से अवस्थित रहते हैं। जब तक दूसरी सृष्टि नहीं होती तब तक वे सभी प्राणी पदार्थ परस्पर के सम्बन्ध से शून्य तथा आस्वाद से रहित होकर उस अव्याकृत (प्रकृति) स्वरूप में ही स्थित रहते हैं। और प्रलय के अनन्तर सृष्टि काल में फिर उसी प्रकृति भूत अव्याकृत से सब उत्पन्न हो जाते हैं। सर्ग के आदि में प्रकृति के अनुलोम क्रम से सृष्टि होती है और प्रलय के आरम्भ में प्रतिलोम क्रम से प्रकृति में सारी सृष्टि विलीन हो जाती है इसलिए जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से रहित होकर अविनाशी तुरीय पद की प्राप्ति के लिए ब्रह्म का ध्यान करे। पूर्वोक्त प्रकार से लिंग शरीर को भी कारण में विलीन करके स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मा में प्रविष्ट हो जाए।

बाल्मीकि जी कहते हैं–भरद्वाज! मुमुक्षु पुरुषों को वही कर्म करना चाहिए, जिसमें कोई दोष नहीं हो, विशेष करके मुमुक्षु को काम्य और निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिए।

भरद्वाज! श्री रामचन्द्र जी की यह कथा मैंने तुम्हें कह सुनाई। इसी क्रम योग से तुम भी साधन करते हुए सुखी रहो। जो कोई मनुष्य वशिष्ठ जी और रामचन्द्र जी के इस संवाद को प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक सुनेगा, वह किसी अवस्था में रहते हुए भी एकमात्र श्रवण से ही मुक्त हो जायगा और परब्रह्म

परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध सम्पूर्ण

"इच्छा मात्र ही संसार है, और इच्छा का त्याग ही निर्वाण है।"

अध्याय : 42

7. निर्वाण प्रकरण (उत्तरार्द्ध) ज्ञानी और अज्ञानी के कर्त्तव्य

(सर्ग 1-37)

(अ) संकल्प से शून्य होकर कर्म करना (सर्ग 1-3)

वशिष्ठ जी ने कहा–रघुनन्दन! कल्पना का त्याग जीवित पुरुष के लिए ही संभव है। विद्वान् लोग अहंभाव को ही कल्पना कहते हैं तथा परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना ही कल्पना त्याग है। संकल्प शून्य होकर चुपचाप बैठे रहने से ही परमपद की प्राप्ति होती है। कर्म और उसके फलों को छोड़ कर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कार्य के लिए संकल्प शून्य होकर मनुष्य को चेष्टा करते रहना चाहिए। अपने कर्मों में यदि वासना रहित प्रवृत्ति का अभ्यास हो जाय तो यही उच्च कोटि का धैर्य है। जब तक यह शरीर विद्यमान है, तब तक कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। परन्तु जो अज्ञानी कर्म का आदर करते हैं, वे उसके मूल को नहीं छोड़ते। मन का जो वासनात्मक संकल्प है, वही अपने कर्म का मूल है। ज्ञान के बिना मानसिक संकल्प का उच्छेद नहीं हो सकता परन्तु जो तत्त्व ज्ञान के द्वारा मन के संकल्पों का निवारण कर देता है, वह संसार रूपी वृक्ष का मूलोच्छेद कर देता है।

रघुनन्दन! आत्मा के साथ कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह कर्तृव्य और भोक्तृत्व दोनों से रहित है। इस तत्त्व ज्ञान से कर्मों का नाश स्वतः सिद्ध हो जाता है। विषयों और वासनाओं से रहित, शान्त कृताकृत के अनुसंधान से हीन जो संकल्प रहित स्थिति है, उसी को कर्म त्याग कहते हैं। भूले हुए विषयों का पुनः स्मरण न होना कर्म त्याग है। जो कर्मेन्द्रियसंयम रूप त्याग करते हैं, वे मूढ़ पशु तुल्य है। मूल का उच्छेद किये बिना जो ऊपर से कर्म का त्याग किया जाता है, वह वृक्ष की जड़ न काट कर शाखा काटने के समान व्यर्थ है। वह पुनः सहस्रों शाखाओं में विस्तार को प्राप्त होकर केवल दुःख देने के लिए बढ़ता रहता है। प्रिय राम! संकल्प शून्यता रूप त्याग से ही वास्तव में कर्म त्याग सिद्ध होता है, दूसरे किसी क्रम से नहीं। जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुष के लिए घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है परन्तु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस पुरुष के लिए निर्जन वन भी जन समुदाय से भरा हुआ नगर है।

(ब) अहंकार त्याग से सर्वत्याग (सर्ग 4-20)

रघुनन्दन! चेतन आत्मा के स्वरूप का तत्त्वतः बोध हो जाने पर जब अहंता आदि के साथ ही सम्पूर्ण जगत् शान्त हो जाता है, तब सम्पूर्ण जगत् का त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। कर्मों का त्याग, त्याग नहीं है। 'जहाँ जगत् का भान ही नहीं है, वह एक मात्र शुद्ध आत्मा ही अहंता आदि विकारों से रहित एवं अविनाशी है, इस प्रकार का बोध ही वास्तविक त्याग कहा गया है।'

परमात्मा के यथार्थ ज्ञान के द्वारा अहंता के क्षय हो जाने

पर ममता का आधारभूत सारा संसार ही विनष्ट हो जाता है। फिर सर्वत्र परब्रह्म परमात्मा ही स्थित रहता है। ज्ञान का प्रकाश होते ही यह अज्ञान जन्य अन्धकार नष्ट हो जाता है। जो अपने अन्दर की मनोवृत्ति को जीत रहा है, या जीत चुका है, वही विवेक का पात्र है और उसे ही पुरुष कहते हैं; क्योंकि उसी ने पुरुषार्थ करके अपना जीवन सफल किया है। जब मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों की मार और रोगों की पीड़ाएँ भी सह लेता है, तब 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ', इतनी सी भावना मात्र को सह लेने में कौन-सा कष्ट है। संसार के जितने पदार्थ हैं, उन सबका कारण अहंकार ही है। अहंकार ही इस जगत् का बीज है किन्तु ज्ञानाग्नि के द्वारा जब यह बीज दग्ध हो जाता है, तब जगत् और बन्धन इत्यादि की कल्पना ही नहीं रह जाती।

अज्ञान की सबसे बड़ी गाँठ है, अहंभावना। यह मिथ्या, विषयभूत और असत् है। उसका जो भेदन है, उसी को तत्त्वज्ञ पुरुषों ने मोक्ष कहा है।

(स) ज्ञानी और ज्ञान बन्धु (सर्ग 21-22)

श्री राम! मनुष्य को सदा ज्ञानी ही होना चाहिए, ज्ञान बन्धु नहीं। मैं अज्ञानी को अच्छा समझता हूँ, परन्तु बन्धु को नहीं।

रघुनन्दन! जैसे शिल्पी जीविका के लिए ही शिल्प कला को सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य भोगोपार्जन के लिए शास्त्र को पढ़ता और व्याख्या करता है किन्तु स्वयं शास्त्र के कथनानुसार अनुष्ठान में लगने का प्रयत्न नहीं करता, वह 'ज्ञान बन्धु' कहलाता है। शास्त्रों के अभ्यास से जिसे शाब्दिक बोध तो प्राप्त हो गया है, परन्तु विनाश शील भोग-व्यवहारों

में उनसे वैराग्य आदि के रूप में उस बोध का कोई फल नहीं दिखाई देता, उसका वह बोध केवल शिल्प है। तत्त्व ज्ञान की कथा कहकर दूसरों को ठगने के लिए चातुर्यपूर्ण कला मात्र है। उस कला से केवल जीवन-निर्वाह मात्र करने वाला होने के कारण वह पुरुष 'ज्ञान बन्धु' कहलाता है। जो केवल भोजन और वस्त्र मात्र से सन्तुष्ट हो भोजन आदि की प्राप्ति को ही शास्त्राध्ययन का फल समझते हैं, वे शास्त्रों के अर्थ को शिल्प कला के रूप में धारण करने वाले हैं। ऐसे पुरुषों को 'ज्ञान बन्धु' जानना चाहिए।

तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्म ज्ञान को ही मानते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे-दूसरे ज्ञान हैं, वे ज्ञानाभास मात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा सार तत्त्व परब्रह्म परमात्मा का बोध नहीं होता। जो परमात्म ज्ञान को न पाकर अन्य प्रकार के ज्ञानलेश की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो, लौकिक सुख के लिए कष्ट साध्य चेष्टाएँ किया करते हैं, वे 'ज्ञान बन्धु' माने गये हैं। मनुष्य को चाहिए कि इस संसार में आहार की प्राप्ति के लिये शास्त्रानुकूल अनिंद्य कर्म करे। आहार भी उतना ही करे, जितने से प्राणों की रक्षा हो सके। प्राण रक्षा भी तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिए ही करे। तत्त्व ज्ञान की इच्छा सबके लिए अत्यन्त अवश्यक है, जिससे फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःखों की प्राप्ति न हो।

रघुनन्दन! जो तत्त्व ज्ञान के द्वारा ज्ञातव्य परब्रह्म परमात्मा में दृढ़ निष्ठा हो जाने के कारण पूर्वकृत कर्मों के फल स्वरूप सुख दुःखादि प्रारब्ध का, शब्द आदि जड़ विषयों का तथा चित्त का भी सद्रूप से अनुभव नहीं करता है, वह 'ज्ञानी' कहलाता है। जिस तत्त्वज्ञ के समस्त व्यवहार उस तत्त्वज्ञान के अनुरूप ही होते हैं, एवं जिसके चित्त की सम्पूर्ण वासनाओं

का अभाव हो चुका है, वह 'ज्ञानी' कहलाता है। जो स्वाभाविक रूप से परम शान्त है तथा जिसे आन्तरिक शांति का अनुभव होता है, वह 'ज्ञानी' कहलाता है। जो बोध मोक्ष का कारण है, पुनर्जन्म का कभी नहीं, उस का नाम ज्ञानी है। प्रारब्ध के अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाय, उसमें जो पुरुष कामना और संकल्प से रहित होकर प्रवृत्त होता है तथा जिसका हृदय ज्ञान के आलोक से प्रकाशित है, वह 'पण्डित' (ज्ञानी) कहलाता है।

(द) बन्धन और मोक्ष (सर्ग 22-24)

ये जो जगत् के विविध पदार्थ हैं, वे किसी कारण के बिना ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे वास्तव में है ही नहीं, तो भी विद्यमान की भाँति प्रतीत होते हैं। जो असत्य होते हुए भी भासित हो रहे हैं। उन पदार्थों की प्रतीति में एकमात्र अज्ञान ही कारण है। इस अज्ञान का ज्ञान-काल में नाश हो जाता है।

यह जीव जब इस जड़ के साथ अपना तादात्म्य मानकर इनको अपना स्वरूप समझ बैठता है यही इसका संसार बन्धन है। और जब यह अपने को चिन्मय समझता है, तब यह परमात्मा स्वरूप ही हो जाता है। यही इसका मोक्ष है। जो ज्ञानी परादृष्टि (तत्त्व ज्ञान) को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हें इस दृश्य प्रपंच के विद्यमान होते हुए भी इसका भान नहीं होता, वे सबको परब्रह्म समझते हैं। उनकी चेष्टा भी चेष्टा नहीं होती। वे दृश्य-दर्शन के अभिमान से बँधते नहीं। इसलिए सांसारिक कर्म बन्धन से रहित होते हैं। वे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मों के लिए संकल्प से रहित चेष्टाएँ करते हैं। वे कर्म की प्रशंसा नहीं करते। किन्तु अज्ञानी पुरुषों की इन्द्रियाँ

विषयों पर ऐसे गिरती है जैसे गिद्ध माँस के ऊपर टूट पड़ता है। इसलिए विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह इन सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करके समाहित चित्त हो उस परब्रह्म परमात्मा के चिन्तन में लग जाय।

रघुनन्दन! तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी–दोनों के कर्मों में वासना शून्यता के सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं होता (ज्ञानी वासना रहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासना युक्त होकर)। वीतराग तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म करे या न करे, उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। योगी भी चित्त का उपशमन होने पर ही शान्त हो पाते हैं अन्यथा नहीं। क्योंकि वासनाओं का मूल जो चित्त है वह बना रहने से उनकी भोग वासनाएँ पूर्णतः शांत नहीं होतीं।

(य) अहंभाव ही अविद्या है। (सर्ग 25-32)

अहं भाव का त्याग करना ही संसार सागर से पार होना है और उसी का नाम वासना क्षय है। इसके लिए अपने पुरुषार्थ के सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। अहंभाव ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्ष की प्राप्ति में रुकावट डालने वाली होती है। मूढ़ मनुष्य उस अविद्या के द्वारा ही जो मोक्ष का अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पागलों-सी चेष्टा है। अज्ञान से उत्पन्न अहंता ही अज्ञान ही सत्ता का पूर्ण परिचय देने वाली है; क्योंकि जो तत्त्व ज्ञानी शांत पुरुष है उसमें ममता या अहंता नहीं रहती।

अज्ञानी पुरुषों! मोक्ष की प्राप्ति के लिए भोगों के त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियों के निग्रह रूप पुरुषार्थ–इन तीन के सिवा चौथी किसी वस्तु का उपयोग नहीं है।

अतः अनात्म वस्तु का त्याग करके तुम लोग शीघ्र अपने आत्मा की शरण में आ जाओ।

वत्स राम! यदि सत्पुरुषों के समागम से विकास को प्राप्त हुई अपनी बुद्धि रूप पुरुषार्थ के द्वारा पुरुष को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तो फिर उसके अतिरिक्त उसकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। एक मात्र अहंता को छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं। उसकी भावना न करने से जब उस अहंता का शमन हो जाता है, तब दूसरा कोई मोक्ष पाना शेष नहीं रहता अर्थात् अहंता का नाश ही मोक्ष है।

(र) परलोक की चिकित्सा (सर्ग-33)

श्री राम! प्राणियों के लिए दो व्याधियाँ बड़ी भयंकर हैं- एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। इन्हीं दोनों से पीड़ित होकर सभी प्राणी भीषण दुःख पा रहे हैं। इनमें जो अज्ञानी जीव है, वे इस लोक में व्याधि ग्रस्त होने पर उसके निवारण के लिए भोग रूपी कुत्सित औषधों द्वारा जीवन पर्यन्त यथा शक्ति प्रयत्न करते हैं; परन्तु परलोक रूपी व्याधि के लिए वे कुछ भी चिकित्सा नहीं करते। तथा जो उत्तम पुरुष है, वे परलोक रूपी महाव्याधि की चिकित्सा के लिये अमृत तुल्य शम, सत्संग और आत्म विचार रूप उपायों द्वारा प्रयत्न करते हैं।

जो लोग परलोक रूपी व्याधि की चिकित्सा के लिये सदा सावधान रहते हैं, वे मोक्ष की उत्कट इच्छा उत्पन्न होने पर अपनी शम शक्ति द्वारा विजयी होते हैं। जो पुरुष इस लोक में ही नरक रूपी व्याधि की चिकित्सा नहीं कर लेता, वह रोग ग्रस्त होकर औषध रहित स्थान (नरक) में जाकर फिर क्या

करेगा? इसलिये अज्ञानियों! तुम इहलोक की चिकित्सा में ही अपने जीवन को न गँवा दो। इसी के साथ-साथ आत्मज्ञान रूपी औषधों द्वारा परलोक की भी चिकित्सा कर लो। अरे! यह आयु तो क्षण भंगुर है, अतः पूर्ण प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही परलोक रूपी महाव्याधि की चिकित्सा में जुट जाओ; क्योंकि परलोक रूपी व्याधि की चिकित्सा कर लेने पर इस लोक की व्याधि तत्काल ही अपने आप नष्ट हो जाती है।

यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के चमत्कार से भोग रूपी कीचड़ के समुद्र में फँसे हुए अपने आत्मा का उद्धार नहीं कर लेता तो फिर उसके उद्धार का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्मा को काबू में नहीं कर सका है, और विषय भोग रूपी दलदल में फँसा है, वही मूढ़ सम्पूर्ण आपत्तियों का पात्र है। जैसे बाल्यावस्था जीवन की प्रथम सीढ़ी मानी जाती है, वैसे ही भोगों का सर्वथा त्याग, जो रोगों से शांति प्रदान करने वाला है, मोक्ष का प्रथम सोपान है; परन्तु जो अज्ञानी है, उनकी जीवन रूपी नदियाँ करुण-क्रन्दनों से युक्त होने के कारण अत्यन्त भयावनी होती है।

रघुकुलभूषण! तुम ऐसा समझो कि सुख के प्राप्त होने पर दु:ख का और दु:ख के प्राप्त होने पर सुख का नाश हो जाता है; अत: वे दोनों ही नाशवान् हैं और जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी आत्मा है। बस, इस विषय में विशेष शास्त्रोपदेश करना व्यर्थ है। जिसके मन में इच्छाओं की परम्परा बनी हुई है, उसे सुख दु:खादि अवश्य ही प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये यदि उन सुखादि रोगों की भली-भाँति चिकित्सा करना अभिप्रेत है तो पहले इच्छा का ही परित्याग करना चाहिये।

(क) इच्छाएँ ही दुःख का कारण हैं (सर्ग 34-36)

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुकुलभूषण राम! जितने अनर्थ भूत सांसारिक पदार्थ हैं, वे सभी इच्छाओं को उत्पन्न करके चित्त को मोह में डाल देते हैं, परन्तु सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः नश्वर स्वभाव के ही हैं परन्तु ज्ञानी के लिए वह कुछ भी नहीं है किन्तु अज्ञानी के लिए यह सत्य सा प्रतीत होता है। जिसकी चेष्टा इच्छा शून्य तथा व्याकुलता रहित होती है, वही विश्रान्त मन वाला जीवन्मुक्त मुनि है। जीवन्मुक्त ज्ञानी को यह जगत् रसहीन और वासना रहित प्रतीत होता है। शास्त्रों का कहना है कि मन का इच्छा रहित हो जाना ही समाधि है; क्योंकि मन को जैसी शांति इच्छा का त्याग कर देने से प्राप्त होती है, वैसी सैकड़ों उपदेशों से भी उपलब्ध नहीं होती। इच्छा की उत्पत्ति से जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरक में भी नहीं मिलता और इच्छा की शांति से जैसा सुख मिलता है, वैसे सुख का अनुभव तो ब्रह्म लोक में भी नहीं होता। इसलिए समस्त शास्त्रों, तपस्याओं, यमों और नियमों का पर्यवसान इतने में ही है कि इच्छा मात्र को ही दुःखदायक चित्त कहते हैं और इस इच्छा की शांति ही मोक्ष कहलाता है। प्राणी के हृदय में जैसी-जैसी और जितनी-जितनी इच्छा उत्पन्न होती है, उतनी-उतनी ही उसके दुःखों के बीजों की मूँठ बढ़ती जाती है, तथा विवेक विचार द्वारा जैसे-जैसे उसकी इच्छा क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके दुःखों की चिन्ता रूपी विषूचिका शान्त होती जाती है। सांसारिक विषयों की इच्छा आसक्तिवश ज्यों-ज्यों घनीभूत होती जाती है, त्यों-त्यों दुःखों की चिन्ता रूपी विषैली तरंगें बढ़ती जाती हैं। यदि अपने पौरुष प्रयत्न के बल से इस इच्छा रूपी व्याधि

की चिकित्सा न की जा सकी तो मैं यह दृढ़तापूर्वक समझता हूँ कि इस व्याधि से छूटने के लिए दूसरी कोई औषध है ही नहीं। यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग न किया जा सके तो धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके ही उसका त्याग करना चाहिए। रहना चाहिए इच्छा त्याग के साधन में संलग्न ही; क्योंकि सन्मार्ग का पथिक दुःखभागी नहीं होता।

जो नराधम अपनी इच्छाओं को क्षीण करने का प्रयत्न नहीं करता, वह मानों दिन-पर-दिन अपने आपको अन्धकूप में फेंक रहा है। इच्छा ही दुःखों को जन्म देने वाली इस संसृति रूपी बेल का बीज है। यदि इसे आत्म रूपी अग्नि से भली-भाँति जला दिया जाय तो यह पुनः अंकुरित नहीं होती।

श्री राम! इच्छा मात्र ही संसार है और इच्छा का अभाव ही निर्वाण है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इच्छा उत्पन्न ही न हो। जिसे अपनी बुद्धि से इच्छा का विनाश करना दुस्साध्य प्रतीत होता हो, उसके लिए गुरु का उपदेश और शास्त्र आदि निश्चय ही निरर्थक हैं। इच्छा रहित हो जाना ही निर्वाण है और इच्छा युक्त होना ही बन्धन है; इसलिए यथा शक्ति इच्छा को जीतना चाहिए। जन्म, जरा और मृत्यु का बीज इच्छा ही है। इसे शम रूपी अग्नि से जला डालना चाहिए। जहाँ-जहाँ इच्छा का अभाव है, वहाँ-वहाँ मुक्ति निश्चित ही है।

(ख) आत्मज्ञान से ही इच्छा नाश (सर्ग-37)

रघुनन्दन! यदि आत्मा के अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो, तब तो इच्छापूर्वक उसे प्राप्त करने की चेष्टा की

जाय, परन्तु जब उसके सिवा दूसरी किसी वस्तु की सत्ता है ही नहीं, तब आत्मा से भिन्न किस पदार्थ की इच्छा कैसे की जाय? जहाँ निर्वाण है वहाँ दृश्य प्रपंच आदि नहीं रहते और जहाँ दृश्य-प्रपंच वर्तमान है, वहाँ निर्वाण का रहना असम्भव है। अधम प्राणियों! दृश्य, प्रपंच तो आत्म को बन्धन में डालने वाला है, अतः तुम लोग उसे भस्म क्यों नहीं कर डालते और स्पष्ट रूप से स्फुरित होती हुई परमार्थ-वस्तु का दर्शन क्यों नहीं करते।

श्री राम! जब-जब आत्म ज्ञान का उदय होता है, तब-तब इच्छा शांत हो जाती है। जैसे सूर्योदय होने पर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्म-ज्ञान हो जाने पर इच्छा आदि सभी विकार शान्त हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञान का उदय होता है, त्यों-त्यों द्वैत की शान्ति और वासना का विनाश होता जाता है। ऐसी स्थिति में भला इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों से वैराग्य हो जाने के कारण जिसकी किसी विषय में इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं; उस पुरुष की अविद्या शान्त हो जाती है और निर्मल मुक्ति का उदय हो जाता है। यदि किसी मनुष्य को तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति हो गई तो उसकी इच्छा शान्त हो जाती है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की तरह इच्छा और तत्त्व ज्ञान-ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते। इच्छाओं का अत्यन्त क्षीण हो जाना तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का लक्षण है।

अध्याय : 43

निर्वाण प्राप्ति के उपाय

(सर्ग 38-55)

(अ) ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि (सर्ग 38-43)

यह जगत्रूपी पदार्थ परस्पर अनिर्वचनीय अर्थों से भरा हुआ है। इसे तत्त्वज्ञानी जैसा समझता है, वैसा मूर्ख नहीं. जानते; और जैसा मूर्ख जानता है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझते अर्थात् अज्ञानी के लिए वह दुःखमय है और ज्ञानी के लिए आनन्दमय। जीवन्मुक्त ज्ञानी के लिए भ्रान्ति की शान्ति हो जाने पर जगत् का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। उसकी दृष्टि में तो अपने स्वरूप में स्थित एक-मात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान दीखता है। जो समस्त प्राणियों की रात्रि के समान है, उस परमात्मा में संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस संसार में प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी के लिए रात्रि के समान है। जैसे जन्मांध को रूप का अनुभव नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी को जगत् का अनुभव नहीं होता और यदि होता भी है तो वह भ्रमतुल्य एवं असद्रूप ही होता है।

(ब) समाधि की उपयोगिता (सर्ग 44-53)

वशिष्ठ जी कहते हैं-श्री राम! संसाररूपी वन से उत्पन्न हुआ जो परम वैराग्य है, वही उस समाधि रूप वृक्ष का बीज है। इसके अंकुर से अपने आप दो पत्ते निकलते हैं-एक है 'शास्त्र-चिन्तन' और दूसरा 'सत्पुरुषों का संग।' यह समृद्ध

होकर संन्यासी (अहंकार त्यागी) के लिए कल्पवृक्ष बन जाता है। यह ज्ञान का प्रदाता होता है। ऐसा ज्ञानी न तो प्राप्त वस्तु की उपेक्षा करता है और अप्राप्त की इच्छा, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियों में उसका अन्तःकरण चन्द्रमा की भाँति सौम्य और शीतल हो जाता है। उसकी कोई एषणा नहीं रहती। वह ब्रह्मभाव रूप फल को ग्रहण करता है, उसी का आनन्द लेता है उसी का अनुभव करता है और उसी से परितृप्त रहता है। वह परमपद में विश्राम पाता है। जिस पुरुष की दृश्य पदार्थों में आत्यंतिकी विरक्ति देखी जाती है, वही तत्त्वज्ञानी है। लोकैषणा, दारैषणा तथा धनैषणा का जो परित्याग कर चुका है, उस ज्ञानी का ध्यान इच्छा न रहते हुए भी अपने आप होता रहता है।

रघुवीर! विषयों से जो आत्यंतिक विरक्ति है, वही समाधि कहलाती है। जिसने उसका सम्पादन कर लिया, वह निश्चय ही मनुष्य रूप में परब्रह्म है, उसे हमारा प्रणाम है।

इस निर्वाण की प्राप्ति के लिए तीन उपाय हैं-एक शास्त्र चिन्तन, दूसरा तत्त्वज्ञानियों की संगति और तीसरा ध्यान इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अज्ञानी के अज्ञान के कारण जगद् भ्रम बढ़ता जाता है, वैसे ही तत्त्व ज्ञानी के प्रभाव से यह भ्रम नष्ट हो जाता है। विषयों से जो दृढ़ वैराग्य है, वही ध्यान कहलाता है और वही जब भलीभाँति परिपक्व हो जाता है, तब वज्र के समान सुदृढ़ अर्थात् वज्र ध्यान हो जाता है। यह भोगों से वैराग्य है, जो यही अंकुरित होने पर ध्यान कहा जाता है और पीठबन्ध से सुबद्ध होने पर उसी की समाधि संज्ञा होती है। जो दृश्य-प्रपंच के स्वाद से मुक्त हो गया है और जिसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उस मुनि की

तो अविराम निर्विकल्प समाधि लगी रहती है। जब भोग अच्छे नहीं लगते तब सम्यक् ज्ञान का उदय होता है और जिसे विषय भोग रुचिकर नहीं लगते, वह ज्ञानी कहा जाता है।

जिस ज्ञानी को अपने स्वभाव में विश्राम प्राप्त हो चुका है उसका स्वभाव भोगी कैसे हो सकता है? क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है। फिर उस स्वभाव के क्षीण हो जाने पर भोगिता कहाँ से और कैसे प्राप्त हो सकती है। श्री राम! साधक को चाहिए कि वह पहले वेदान्त श्रवण करे, फिर स्वाध्याय करे, तत्पश्चात् प्रणव आदि का जप करे, तदन्तर समाधि में लीन हो। समाधि से विरक्त होने पर वह थका हुआ साधक पुनः पूर्ववत् श्रवण पाठ और जप का ही आश्रय ले।

राघव! बोध के बिना न तो अर्थों की उपलब्धि हो सकती है और न पदार्थों के अभाव की सिद्धि ही होती है–ऐसी आन्तरिक अनुभूति का जो विषय है, उसे परमपद कहते हैं। इससे विवेक उत्पन्न होता है जो वासनायुक्त अज्ञानी जीव को ज्ञान प्राप्त कराता है और धीरे-धीरे इस संसार सागर से उद्धार कर देता है। वह ज्ञान रूप अन्तरात्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है। वेद सम्मत जो प्रणव है, वह इसी का बोधक शुभ नाम है। नर, नाग, सुर, असुर–सभी इसी को प्रसन्न करते हैं। चिन्मय होने के कारण यही सर्वत्र विचरण करता है, जागता है और देखता है। यही चिदात्मा विवेक दूत को उद्बुद्ध करके उसके द्वारा चित्त रूपी पिशाच को मारकर जीव को अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति तक पहुँचा देता है। इस संसार समुद्र को पार करने के लिए विवेक ही महान् जहाज

है। पूर्ण वैराग्य से जिसका मन सर्वथा शान्त हो गया है और जिसने अपने मन को पूर्णतया निरुद्ध कर लिया है, ऐसा पुरुष सदा वज्र तुल्य समाधि में ही स्थित रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी दूसरी स्थिति नहीं होती।

(स) परमात्मा बीज रूप नहीं है (सर्ग 54-55)

श्री राम! जहाँ बीज है, वहाँ वट वृक्ष की विशाल शाखा हो सकती है; क्योंकि वह सहकारी कारणों से उत्पन्न होती है और फैलती है; परन्तु जब पूर्ण भूतों का प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज शेष रह जाता है, और उसका सहकारी कारण भी क्या रह जाता है, जिसके सहयोग से जगत् की उत्पत्ति हो। जो शान्त परब्रह्म है, उसमें आकार की कल्पना ही क्या हो सकती है? उसमें तो परमाणुत्व का भी योग नहीं होता, फिर बीजत्व कैसे आ सकता है? इस प्रकार विचार करने पर बीजभूत कारण का होना जब सर्वथा असंभव है, तब जगत् की सत्ता किस प्रकार, किस साधन से, किस निमित्त से, कहाँ और क्या हो सकती है; इसलिए जो ब्रह्मरूप परमतत्त्व है वही अपने स्वरूपभूत संकल्प से यह जगत् बनकर स्थित है। यहाँ न तो कई वस्तु उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है। जैसे आकाश में अवकाश और जल में द्रवत्व है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्ममयी शुद्ध सृष्टि भिन्न-सी स्थित प्रतीत होती है।

रघुनन्दन! उत्पत्ति-विनाश, ग्रहण त्याग, स्थूल सूक्ष्म, चर-अचर आदि सभी पदार्थ सृष्टि के आरम्भ काल में उत्पन्न हुए थे, क्योंकि इनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं था। चेतन का प्रथम संकल्प ही कल्प के आदि से प्रलय पर्यन्त पदार्थों के

स्वभाव का व्यवस्थापक है। पदार्थों की रचना दृष्टियों में ही प्रकट है। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। चेतन आकाश में विद्यमान चैतन्य रूप बीज की सत्ता ही उसके सृष्टि रूपता को प्राप्त हो गई है अर्थात् सृष्टि की सत्ता चेतन सत्ता से पृथक नहीं है। सब प्रकार के भेद-ज्ञान का निवारण हो जाने पर पुरुष में जो एक शुद्ध ज्ञान का उदय होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है; इसी से वह मुक्त कहा जाता है। अत्यन्त स्वच्छ चेतन आकाश में जो चैतन्य का निरन्तर प्रकाश होता है, उसी को 'जगत्' नाम से कहा जाता है। इसलिए उसमें बन्धन और मोक्ष की दृष्टियाँ कैसे रह सकती है?

कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ यह ब्रह्म व्याप्त न हो। यह जगत् अनेक रूप नहीं है, बल्कि आकाश में शून्यत्व तथा समुद्र में द्रवत्व के समान ब्रह्म से अभिन्न ही है।

चिन्मय आकाश परब्रह्म परमात्मा में सर्व और सदा सब कुछ, स्थान-संकोच के बिना भली-भाँति विद्यमान है।

अध्याय : 44

वशिष्ठ जी की समाधि

(सर्ग 56-96)

(अ) असंख्य ब्रह्माण्ड (सर्ग 56-)

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! एक समय की बात है मैं परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण पूर्ण काम हो गया था। इसलिए मैंने दीर्घकालीन विश्राम के लिए एकान्त स्थान में रहने की अभिलाषा की। मैंने आकाश के एक कोने में संकल्प से ही कुटी बनाकर निवास करने की सोची। ऐसा सोचकर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थान में पहुँच गया व वहाँ एक कुटी का निर्माण किया। उसमें प्रविष्ट होकर मैंने पद्मासन लगाकर शान्त चित्त हो मौन धारण कर सौ वर्ष तक समाधि लगाने का तय कर लिया। इसके बाद मैं निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गया।

जब मैं समाधि से विरत हुआ तो मुझे एक मधुर ध्वनि सुनाई दी। उसे जानने के लिए फिर मैंने समाधि लगाई तथा देहाकाश को वहीं स्थापित करके मैं संकल्प रूप चित्ताकाश बन गया। इसके बाद क्रमश: इसका भी त्याग करके मैं बुद्धि तत्त्व के स्थान पर पहुँच गया, फिर उसे छोड़कर चेतनाकाशमय अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँच गया। फिर तो चैतन्यमय महाकाश के साथ एक होकर मैं असीम और सर्वव्यापी बन गया। तब वहाँ मुझे झुण्ड के झुण्ड त्रैलोक्य, सैंकड़ों संसार तथा लाखों या असंख्य ब्रह्माण्ड दिखाई देने

लगे। वे नाना प्रकार के आचार-विचारों से सम्पन्न थे, परन्तु एक-दूसरे के लिए शून्य रूप ही थे। कब से उनकी सृष्टि हुई थी, वह किसी को ज्ञात नहीं था। वे सब के सब अज्ञान रूप दोष से युक्त प्रत्यगात्मा में अनादिकाल से ही कल्पित थे। सब लोक गीली मिट्टी द्वारा बने हुए खिलौनों के समान जान पड़ते थे जो सूर्य की किरणों से सूखकर कड़े हो गये हों।

रघुनन्दन! तदन्तर पूर्वोक्त शब्द के कारण का विचार करता हुआ मैं इधर-उधर भ्रमण करता रहा। इसके बाद वीणा की ध्वनि के समान वह शब्द मेरे कानों में पड़ा। जब मैंने उस स्थान पर दृष्टि डाली तो मुझे एक स्त्री दिखाई दी, जो दूर नहीं थी। वह स्त्री मेरा अनुसरण करने को उद्यत थी किन्तु मैं उसकी अवहेलना करके आगे बढ़ गया। फिर लोक समूहों से युक्त माया दिखाई दी। उसका भी अनादर करके मैं आगे बढ़ गया। वहाँ समाधि काल में ऐसे लाखों जगत् भी अनुभव में आये जिनमें चन्द्रमण्डल भी उष्ण थे और सूर्य भी शीतलता की मूर्ति थे।

श्री राम! कोई जगत् पाताल में गिर रहे थे, कितने ही आकाश में उड़ रहे थे और बहुतेरे सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रान्तिपूर्ण पदों में प्रतिष्ठित थे। इस तरह चैतन्य समुद्र के चंचल बुदबुदों के रूप में दिखाई देने वाले उन असंख्य लोकों में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मैंने नहीं देखी हो।

श्री राम! महाप्रलय काल में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थों का विनाश हो जाने पर ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक के सभी जीव जगत् जब मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, तब पुनः जिस प्रकार इस जगत् का अनुभव होता है, वह बताता हूँ, सुनो।

महाप्रलय के पश्चात् जो ब्रह्म शेष रहता है, वह शब्दादि व्यवहार से वर्णन करने योग्य नहीं होता। उसे मुनिजन परमार्थ-चैतन्यघन कहते हैं। यह जगत् उससे भिन्न नहीं है। केवल अज्ञान ही यहाँ जगत् और परमात्मा में भेद की प्रतीति कराता है।

(ब) विद्याधरी का मोक्ष की इच्छा करना

श्री राम! तदन्तर मैंने उस सुन्दरी से उसका परिचय पूछा तो उस सुन्दरी विद्याधरी ने कहा-मुने! बड़े कष्ट में हूँ और संकट में छुटकारा पाने के हेतु प्रार्थना करने के लिए आई हूँ। अत: आप करुणावश मुझसे बिना किसी हिचक के मेरा समाचार पूछ सकते हैं। मैं और मेरे पति यहीं एक वज्र शिला के भीतर रहते हैं। हमें इस प्रकार रहते हुए असंख्य वर्ष बीत चुके हैं किन्तु अभी तक हम दोनों एकमात्र दोष (कामना) के कारण मोक्ष नहीं पा रहे हैं। उसी तरह परस्पर ममता बाँधे हम दीर्घ काल से यहीं रहते हैं।

मुनीश्वर! उस पाषाण के संकट में केवल हमीं दोनों नहीं बँधे हैं, हमारा सारा परिवार भी वहीं बंधा बड़ा है। उसमें बँधे हुए मेरे पति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए हैं और प्राचीन काल के वृद्ध पुरुष हैं। वे बचपन से ही ब्रह्मचारी हैं। वेदाध्ययन में तत्पर रहते हैं और छात्रों को पढ़ाते हैं, किन्तु आलसी हैं। एकान्त स्थान में अकेले ही बैठे रहते हैं। मैं उन्हीं की भार्या हूँ किन्तु मुझमें एक व्यसन है। मैं उन पतिदेव के बिना एक दिन भी देह धारण करने में समर्थ नहीं हूँ। मेरे पतिदेव ने मुझे मानसिक संकल्प से प्रकट किया। मन से उत्पन्न होने के कारण मैं उनकी मानसी भार्या हुई। मेरा दिनों दिन भोगों में

अनुराग बढ़ता गया। मेरे पतिदेव तपस्या में ही लीन रहते हैं। उन्होंने किसी तरह की अपेक्षा लेकर मेरे साथ अब तक विवाह नहीं किया। इसलिए यौवन सम्पन्न होने के कारण मैं व्यसन की आग में जल रही हूँ। मेरे नवीन यौवन के इस प्रकार बहुत से दिन बीत गये।

मुने! दीर्घकाल के बाद मेरा यह अनुराग विराग के रूप में परिणत हो गया। अब मैं सोचती हूँ कि मेरा पति बूढ़ा होने के कारण एकान्तवास का रसिक, नीरस और स्नेहशून्य हो गया। वह मेरी ओर से सदा मौन ही रहता है। अत: मैं समझती हूँ कि मेरे जीवन का कोई फल नहीं है, इसलिए अब इसे रखने से क्या लाभ। बचपन से ही विधवा हो जाना अच्छा है, मर जाना भी अच्छा है अथवा रोगों का आक्रमण तथा दूसरी-दूसरी विपत्तियों का टूट पड़ना भी अच्छा है, किन्तु जिसका स्वभाव मन के अनुकूल न हो ऐसे पति का मिलना अच्छा नहीं। उसी स्त्री का जीवन सफल है जिसका पति सदा उसके अनुकूल चलता हो; वही धन सम्पत्ति सार्थक है, जिसका साधु पुरुष उपयोग करते हैं और वही बुद्धि, वही साधुता उत्तम है जो मधुर और उदार है। जिन स्त्रियों के पति प्रतिकूल स्वभाव वाले हों उनके लिए नन्दन वन की भूमियाँ भी मरुभूमि के समान दु:खद हो जाती हैं। संसार के सारे पदार्थ स्त्रियों द्वारा स्वेच्छानुसार त्याग दिये जाते हैं, परन्तु वे किसी भी दशा में पति को नहीं त्याग सकतीं।

मुनिवर! अब मुझे समस्त पदार्थों से वैराग्य हो गया है, इसलिए मैं इस समय आपके उपदेश से अपनी मुक्ति चाहती हूँ। मेरे पतिदेव भी अब मोक्ष पाने लिए दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं। ब्रह्मन्! आपको हमारी यह प्रार्थना सफल करना

चाहिए; क्योंकि महापुरुषों के पास आये हुए कोई भी याचक कभी विफल मनोरथ नहीं होते। इसलिए आपके शरण में आई हूँ मुझ अबला का आप तिरस्कार न करे। तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर मुझे और मेरे पति को कृतार्थ करें। [यहाँ विद्याधारी मूल प्रकृति एवं वह ब्राह्मण चेतन्य 'पुरुष' का प्रतीक है तथा वज्र शिला ही वह माया है जिसने इन दोनों को बाँध रखा है। वह चेतन्य पुरुष स्वयं ब्रह्मा है। माया चित्त शक्ति है।]

(स) वशिष्ठ जी की दूसरे लोक के ब्रह्मा से वार्ता

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! तदन्तर अबाध चेष्टा वाली वह विद्याधारी उस शिला के भीतर स्थित हुई सृष्टि में वह प्रविष्ट हुई। फिर मैं भी उसके साथ संकल्प रूप होकर वहाँ जा पहुँचा। वह नारी उस जगत् के ब्रह्मलोक में पहुँच कर ब्रह्माजी के सामने बैठ गई और बोली–मुनि श्रेष्ठ! ये ही मेरे पति हैं, जो मेरा पालन करते हैं। इन्होंने पूर्वकाल में मेरे साथ विवाह करने के लिए अपने मन के द्वारा मुझे उत्पन्न किया था। ये पुरातन पुरुष हैं और मैं भी अब जरावस्था को आ पहुँची हूँ। इन्होंने आज तक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसलिए मैं विरक्त हो गई हूँ। इनको भी वैराग्य हो गया है। वे परमपद को प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए आप मुझको और इनको भी तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर उस परब्रह्म परमात्मा के पथ में लगा दीजिये। मुझसे ऐसा कहकर वह उन ब्रह्माजी को जगाने के लिये इस प्रकार बोली–'नाथ! ये मुनिनाथ वशिष्ठ जी आज इस घर में पधारे हैं। ये मुनि दूसरे ब्रह्माण्डरूपी घर में रहने वाले ब्रह्माजी के पुत्र हैं।'

श्री राम! विद्याधरी के ऐसा कहने पर वे परम बुद्धिमान्

ब्रह्मा जी समाधि से जाग उठे। उन्होंने मेरा स्वागत किया तथा बैठने को आसन दिया। फिर मैंने उन ब्रह्मा जी से कहा कि यह स्त्री कह रही थी कि आपने इसे अपनी पत्नी बनाने के लिए ही उत्पन्न किया था फिर आपने इसे विवाह क्यों नहीं किया? अब यह ज्ञानोपदेश द्वारा बोध प्राप्ति के लिये कहती है। आपने इसे वैराग्य के लिये क्यों कहा?

दूसरे जगत् के ब्रह्मा जी बोले–मुने! वह शान्त, अजर, अजन्मा परब्रह्म है, उसी को चेतन अथवा चित्तत्त्व कहते हैं। उस परमात्मा ने अपने चैतन्य से मुझे प्रकट किया है। मेरा व्यावहारिक नाम स्वयंभू है। यह कुमारी स्त्री के रूप में जो सामने खड़ी है, वासना की अधिष्ठात्री देवी ही है। यह न तो मेरी गृहिणी ही है और न गृहिणी बनाने के निमित्त मैंने इसका सत्कार ही किया है। अपनी वासना के आवेश वश इसके मन में यह भाव उत्पन्न हो गया कि 'मैं ब्रह्मा जी की पत्नी हूँ'। इस भावना को लेकर यह स्वयं ही अत्यन्त दुःख उठा रही है। और वह भी व्यर्थ। इस सारे जगत् के भीतर वासना बनकर बैठी हुई है। मुनिश्रेष्ठ! अब मैं केवल स्थिति को प्राप्त करना चाहता हूँ इसलिए इस महाप्रलय काल में अब मैंने इसे त्याग देने का निर्णय किया है। अब मैं चित्ताकाश रूपता को त्याग कर आदि-चेतनाकाश रूप महाकाश होने जा रहाहूँ, तब यहाँ महाप्रलय का आना और वासना का विनाश अवश्यंभावी है। आज यहाँ चारों युगों का विनाश उपस्थित है। अन्तिम कल्प, अन्तिम मन्वन्तर तथा अन्तिम कलियुग की समाप्ति का समय आ गया है। इसलिए आज ही प्रजा, मनु, इन्द्र तथा देवताओं का यह अन्तकाल आ पहुँचा है। आज ही यह कल्प का अन्त, महाकल्पों का अन्त, मेरी वासना का अन्त और मेरे

देहाकाश का भी अन्त होने वाला है। [यह प्रलय की स्थिति का वर्णन है।]

ब्रह्मन्! इसलिए यह वासना क्षीण होने को उद्यत है। आत्म साक्षात्कार के लिए किये गये धारणाभ्यास रूप योग से इसने अन्य ब्रह्माण्ड में जाकर वहाँ आपके जगत् का दर्शन किया है। जहाँ धर्म आदि चारों वर्गों के अनुष्ठान म लगी स्वतंत्र पूजा निवास करती है। इस जगत् में कोई भी कार्य न ही उत्पन्न होते हैं और न ही नष्ट होते हैं। केवल चित्ति ही द्रव्य काल और क्रिया के रूप में प्रकाशित हो तप रही है। ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन और बुद्धि आदि हैं, सबके सब चित्ति रूपी शिला के पुतले हैं। इनका न कभी उदय होता है न अस्त ही। यह चित्त शक्ति ही शिला का आकार धारण करके स्थित है। यह सारा जगत् समुदाय इस चित्त शक्ति का अभिन्न अंग ही है। मुनिवर वशिष्ठ! अब आप यहाँ से अपने जगत् को जाइये। मेरे जो कल्पित बुद्धि आदि जागतिक पदार्थ हैं, वे प्रलय को प्राप्त हो परम अव्यय तत्त्व में मिल जायें, क्योंकि इस समय हम परब्रह्म परमात्मा पद को प्राप्त हो रहे हैं।

रघुनन्दन! ऐसा कहकर वे भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोक वासियों के साथ पद्मासन लगा कर बैठ गये और फिर कभी न टूटने वाली समाधि में स्थित हो गये। उन्हीं की भाँति विद्याधरी भी ध्यानमग्न हो शान्त हो गई। इसका कोई भी अंश शेष नहीं रह गया। ब्रह्माजी के विरस होते ही सृष्टि की सारी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी तथा महाप्रलय का दृश्य उपस्थित होने लगा। तब मैं वहाँ से बहुत दूर चला गया। वहाँ से मैंने दसों दिशाओं में उदित हो तपते हुए बारहसूर्यों के

समुदाय को देखा। सम्पूर्ण दिशाओं में फैली हुई आग से गाँवों और नगरों का सब कुछ स्वाहा हो गया था। वहाँ कोई रोने वाला भी नहीं रह गया था।

(द) रुद्र की काल रात्रि

वशिष्ठ जी कहते हैं–रघुनन्दन! इस प्रलयाग्नि के बाद मैंने दखा, भगवान् रुद्र मत्त से होकर अकाण्ड तांडव में प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूर तक फैली थी। उनका शरीर आकाश के समान ही व्यापक दिखाई देता था। इसके बाद मैंने देखा उनके शरीर से छाया–सी निकल रही है जो तांडव नृत्य में उनका अनुकरण एवं अनुसरण करने वाली है। यह वही काल रात्रि थी जिसके विषय में साधु पुरुषों ने यह निर्णय लिया है कि 'ये भगवती काली है'।

श्री राम! मैंने जिस चिन्मय परमाकाश स्वरूप परमात्मा का वर्णन किया है, वही श्रुतियों में शिव कहा गया है और वही प्रलय काल में रुद्र होकर नृत्य करता है। जो चित्घन परमात्मा का स्पन्द है, वही भगवान् शिव की स्पन्द (स्फुरण) है। वही हम लोगों के समाने वासनावश नृत्य के रूप में प्रकाशित होता है। यह परमात्मा का सहज विलास ही समझना चाहिए।

(य) शिव और शक्ति का स्वरूप

श्री राम! जो भैरव या रुद्र हैं, उन्हीं को चेतनाकाश स्वरूप शिव कहते हैं। उनकी जो मनोमयी स्पन्द शक्ति है उसे काली समझो। यह शिव से भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति–शक्ति एक है, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता एक ही है उसी प्रकार स्पन्द शक्ति के द्वारा शिव का ही प्रतिपादन

होता है। स्पन्दन या शक्ति के द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं।

शिव को ब्रह्म ही समझना चाहिए। उस शान्त स्वरूप शिव का वर्णन बड़े-बड़े वाणी विशारद विद्वान् भी नहीं कर सकते। मायामयी जो स्पन्दन शक्ति है, वहीं ब्रह्म स्वरूप शिव की इच्छा कही जाती है। जैसे साकार पुरुष की इच्छा काल्पनिक नगर का निर्माण करती है, उसी प्रकार शिव की वह इच्छा इस दृश्याभास रूप जगत् का विस्तार करती है। इस प्रकार शिव की इच्छा ही कार्य करती है, वही इस दृश्य जगत् का निर्माण करती है। यही चिदाभास के द्वारा उद्दीप्त होकर जीव-चैतन्य अथवा चित्ति शक्ति कही जाती है। वही जीने की इच्छा वाले प्राणियों का जीवन है। वह स्वयं ही जगत् रूप में परिणत होने के कारण समस्त सृष्टि की प्रकृति (उपादान) है। वही क्रिया भी कहलाती है। दुष्टों पर क्रोध करने के कारण वह 'चण्डिका' कही गई है। उसी को उत्पला, जया, सिद्धा, जयन्ती, शुष्का, विजया, अपराजिता, दुर्गा, उमा, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, गौरी आदि कहा जाता है। वह महादेव जी के आधे शरीर में संयुक्त है (अतएव भगवान् शिव को अर्द्धनारीश्वर कहते हैं)।

शिव और शिवा दोनों ही आकाश रूप हैं अत: उनका शरीर काला दिखाई देता है। (इसलिए उन्हें काल भैरव और काली कहते हैं)।

स्पन्दन (स्फुरण) मात्र ही जिसका एक स्वरूप है, वह भगवती काली 'क्रिया शक्ति' है। वास्तव में वह अनादि, अनन्त, चित्तिशक्ति है। वह आकाश रूपिणी है।

(र) काल-रात्रि का शिव में लीन होना

श्री राम! जो तत्त्वज्ञ नहीं हैं, उसकी दृष्टि में यह चित्तिशक्ति ही क्रिया रूप है। यह निर्विकार है तथा स्वभाव से ही नृत्य करती है। शिव की इच्छा शिव रूप से भिन्न नहीं है, अतएव शिव रूप ही है। जब वह परम कारण रूप शिव का स्पर्श करती है तो धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भाव को प्राप्त होने लगती है। वह अपने आकार को छोड़कर व्योमाकार हो शिव के ही स्वरूप में वैसे ही प्रविष्ट होने लगती है जैसे नदी अपने वेग को शान्त करके महासागर में मिल जाता है। इस प्रकार जैसे ही वह महाकाली शिव में लीन हुई वे शिव स्वरूप परमात्मा एकाकी शिव रूप में ही शेष रह गये तथा सर्व संहारकारी रुद्र सारे उपद्रवों की शान्ति होने पर अकेले शान्त भाव से स्थित हुए।

श्री राम! यह शिवा परमेश्वर शिव की इच्छा रूपा प्रकृति कही गई है। वही जगन्माया के नाम से विख्यात है। वह परमेश्वर शिव की स्वाभाविक स्पंद शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृति से परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हीं का स्वरूप है। वे शिव रूप धारी शान्त परमात्मा निर्मल एवं परम शान्तिमान् है। स्पन्दन (स्फुरण) मात्र ही जिसका स्वरूप है, वह परमेश्वर की इच्छारूपा चित्ति-शक्ति भ्रमरुपिणी प्रकृति है। वह तभी तक जगत् में भ्रमण करती है जब तक कि नित्य, निर्विकार, अजर, अनादि, अनन्त परमात्मा शिव का साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह प्रकृति एकमात्र धर्मिणी है। अतः उसे चित्तिशक्ति ही समझना चाहिए। यह चित्ति देवी जब शिव का स्पर्श करती है, तब पूर्णतः शिव स्वरूप ही हो जाती है। जैसे नदी समुद्र का स्पर्श करते ही अपने नाम और रूप को त्याग

कर उसके भीतर समा जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुष का स्पर्श करते ही उसके भीतर एकता को प्राप्त हो अपनी प्रकृति रूपता का परित्याग कर देती है। उस समय प्रकृति चित्ति-निर्वाण रूप परमपद को प्राप्त हो तद्रूप बन जाती है।

रघुनन्दन! यह चित्ति शक्ति तभी तक मोह वश इन व्याकुल सृष्टि परम्पराओं और उनकी जन्म आदि दशाओं में भ्रमण करती रहती है, जब तक कि ब्रह्म परमात्मा का दर्शन नहीं कर लेती। उनका दर्शन कर लेने पर वह तत्काल उन्हीं में समा जाती है।

(क) रुद्रदेव का चिदाकाश रूप में स्थित होना

श्री राम! जब मैं खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था, तब मुझे दिखाई दिया कि वे भगवान् रुद्र ब्रह्माण्ड को अपना ग्रास बनाकर उस मस्त आकाश में चिदाकाश रूप होकर अकेले ही रह गये। तदन्तर वे एक मुहूर्त में बादल के समान हल्के और छोटे हो गये। जिन्हें मैंने विशाल रूप में देखा था, वे रुद्र मुझे काँच के टुकड़े की एक कणिका के समान दिखाई दिये। इसके बाद मैंने आकाश से दिव्य दृष्टि द्वारा देखा, वे परमाणु के बराबर हो गये थे। परमाणुरूप होने के बाद वे अदृश्य हो गये। इस प्रकार भरे-पूरे जगत् से लेकर रुद्र शरीर तक वह सारा महान् आरम्भ मेरे देखते-देखते शरद्काल के मेघ खण्ड की भाँति विलीन हो गया।

श्री राम! जब भगवान् रुद्र ने इस प्रकार आवरणों सहित समस्त ब्रह्माण्ड को उदरस्थ कर लिया, तब दृश्य रूपी मल से रहित केवल चेतनाकाश-रूप शान्त परब्रह्म परमात्मा ही शेष रह गया। उसका न कहीं आदि है न अन्त। चिन्मय आकाश

मात्र ही उसका स्वरूप है। रघुनन्दन! इस प्रकार उस महान् विभ्रमरूप ब्रह्माण्ड एवं उसके महाप्रलय का दृश्य देखा था।

(ख) वशिष्ठ का अपनी कुटी में लौटना

रघुनन्दन! इस प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्य देखकर मैं पहले के समाधि-स्थान आकाश कुटीर के प्रदेश की ओर लौट आया। वहाँ आने पर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहीं भी स्थित दिखाई नहीं दिया। वहाँ अपने-सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्ध पुरुष को देख रहा हूँ, जो अकेला है। वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और अभीष्ट परमपद को प्राप्त हो चुका था। उसने पद्मासन बाँध रखा था। वह परम शान्त था और समाधि में चित्त के स्थिर हो जाने से उसका शरीर हिलता-डुलता नहीं था। उस कुटी में जब मैंने अपना शरीर नहीं देखा और सामने उस मुनि को देखा, तब मैंने अपने शुद्ध चित्त के द्वारा वहाँ यों विचार किया।

जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा है जो मेरी ही तरह सोच-विचार कर एकान्त महाकाश में विश्राम लेने की इच्छा से इस दिगन्त में आ पहुँचे हैं। इन्हें यह कुटी दिखाई दी। इन्होंने मेरे शवरूप में पड़े हुए शरीर को यहाँ से हटाकर स्वयं इस कुटिया में आसन जमा लिया है। मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया। अब इस आतिवाहिक देह से ही मैं अपने सप्तर्षि लोक को चलूं। ज्यों ही मैं वहाँ से चलने को हुआ, त्यों ही मेरे पूर्व संकल्प का क्षय हो जाने से वह कुटी अदृश्य हो गई। फिर तो समाधि में स्थित हुए वे सिद्ध बाबा निराधार होकर नीचे की ओर गिरने लगे। मैं भी उनके साथ अपने आतिवाहिक शरीर से भूतल की ओर चला। गिरते समय

उनका पैर पृथ्वी से जा लगा। मैंने उस सिद्ध पुरुष को जगाया। जागने पर उन्होंने जीवन की असारता का वर्णन करते हुए कहा।

इस संसार से कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। यहाँ आयु ही उत्पात-वायु है, मित्र ही बड़े भारी शत्रु हैं, बन्धु ही बन्धन है; और धन ही बड़ी भारी मौत है, सुख ही अत्यन्त दु:ख है, सम्पत्तियाँ ही भारी विपत्तियाँ है, भोग ही संसार के भारी रोग हैं तथा रति ही भारी अरति (दु:ख) है। सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ है, यहाँ का सुख केवल दु:ख देने के लिए है, और जीवन भी मृत्यु की धरोहर है। अहो! यह माया का विस्तार कितना दु:खद है। विषय सेवन रूपी जो भोग है, उन्हें सर्पों का फन ही समझना चाहिए, क्योंकि वे थोड़ा-सा ही स्पर्श होने पर डस ही लेते हैं। सम्पत्तियाँ और युवती स्त्रियाँ क्षणभंगुर हैं। कौन विवेकी पुरुष उनसे आसक्त होगा? जो आरम्भ में रमणीय प्रतीत होने वाले किन्तु अन्त में अत्यन्त नीरस सिद्ध होने वाले विषय भोगों में रमते हैं, वे नरकों में ही गिरते हैं। धन-राग-द्वेषादि द्वन्द्व दोषों से आक्रान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी कठिन होता है तथा प्राप्त हो जाने पर भी वे स्थिर नहीं रहते अत: वे अधम पुरुषों के लिए ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भ में मधुर लगती हैं, परन्तु अन्त में दु:ख ही देने वाली है, वह लक्ष्मी जगत् को मोह में ही डालती है। उसका विलास क्षण भर के लिए ही होता है। जरा अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष के केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं, उसकी और सब वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं, परन्तु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है, वह नित्य नई ही बनी रहती है। हाथ की अंजली में रखे

हुए जल की भाँति यह जीवन शीघ्र ही स्खलित हो जाता है। इस जगत् में जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थों में मैंने अरमणीयता देखी है, स्थिर वस्तुओं में भी अस्थिरता का दर्शन किया है और सत्य दीखने वाले पदार्थों में भी मुझे असत्यता दिखाई दी है। इसलिए मैं यहाँ से विरक्त हो उठा हूँ। मन के वासनाशून्य हो जाने पर जब परमात्मा में विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और स्वर्ग के भी किन्हीं भोगों में नहीं मिल सकता।

मुने! इस तरह दीर्घकाल तक विचार करने पर अब अहंकार शून्य हो अपनी बुद्धि के द्वारा स्वर्ग और अपवर्ग से भी मुक्ति प्राप्त करली है। इस कारण मैं भी आप की ही भाँति चिरकाल तक एकान्त में विश्राम करने के लिए आकाश के इस स्थान पर आया और यहाँ मुझे आपकी कुटी दिखाई दी। आप पुनः यहाँ पधारेंगे और आपकी ही यह कुटी है यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी। यह सब तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। उस समय तो मैंने यही सोचा था कि यह कोई सिद्ध पुरुष था जो अपना शरीर त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त हो गया है। भगवन्! यह मेरा वृतान्त है और यह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। अब आप जैसा उचित समझें करें।

रघुनन्दन! तत्पश्चात् हम दोनों आकाश में उड़े तथा एक दूसरे को प्रणाम कर अपने-अपने स्थानों को गये। मैं भी वहाँ चलकर इन्द्रपुरी, सिद्ध लोकों, तथा लोकपालों की पुरियों में भ्रमण करता रहा। तुम लोगों के बीच उपदेश आदि व्यवहार की सिद्धि के लिए स्थूल आकार से युक्त भी दिखाई देता हूँ।

राघव! मनुष्य तो वही है जो मोक्ष के लिए प्रयत्नशील है। श्री राम! चित्त का सर्वथा शान्त एवं शिथिल होना मोक्ष है

तथा उसका संतप्त होना ही बन्धन है। अहो! यह संसार कितना मूढ़ है। यह मानव समुदाय स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है। इसलिए एक दूसरे की स्त्री और धन का अपहरण करने के लिए लोलुप हो रहा है। जब वह मुमुक्षु होकर शास्त्रों पर विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि (तत्त्व साक्षात्कार) प्राप्त करके सदा के लिए सुखी हो जाता है।

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! 'मैं चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म हूँ' इस आत्मानुभव को जो स्वयं ही कुतर्कों द्वारा खण्डित करते हैं, वे आत्म हत्यारे हैं। उन्हें विपत्तियों के महासागर में डूबना पड़ता है।

अध्याय : 45

ज्ञानी का आचरण व व्यवहार

(सर्ग 97-159)

(अ) परमपद के विषय में विभिन्न मत

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! 'यह जगत् परमात्मा का स्वप्न है, इसलिए चिन्मय है, ब्रह्माकाश रूप है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस दृष्टि से सबको सत्य जगत् का ही अनुभव होता है, असत्य का नहीं। पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृति से 'महत्तत्व' आदि के क्रम से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, ऐसी दृष्टि रखने वाले आचार्य महानुभावों के मत को भी सत्य ही मानना चाहिए, क्योंकि इस भाव का चिन्तन करने से ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य ब्रह्म का विवर्त है-ब्रह्म ही इस दृश्य जगत् के रूप में भासित हो रहा है।' ऐसी बातें कहने वाले महापुरुषों का मत भी सत्य ही है, क्योंकि इस तरह आलोचना करने पर इसी रूप में समस्त पदार्थों का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग सम्पूर्ण जगत् को परमाणुओं का समूहरूप मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है, क्योंकि उन्हें जिस-जिस पदार्थ के विषय में जैसा-जैसा अनुभव हुआ उस-उस अनुभव के अनुसार की गई उनकी कल्पना भी ठीक ही है। इस लोक या परलोक में जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं न असत्।

वास्तविक तत्त्व इन दोनों से विलक्षण एवं अनिर्वचनीय

है। इस तरह का जो प्रौढ़ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'बाह्य-पृथ्वी आदि चार भूतों का समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्मा की सत्ता नहीं है। ऐसे कहने वाले जो नास्तिक हैं, परन्तु वे भी अपनी दृष्टि से ठीक ही कहते हैं, क्योंकि वे इन्द्रियातीत आत्मा को अपनी स्थूल देह में ही ढूँढ़ते हैं, परन्तु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो प्रत्येक पदार्थ को क्षण भंगुर बताते हैं, उनका यह मत भी युक्तिसंगत ही है, क्योंकि सभी पदार्थ का निरन्तर परिवर्तन एवं उलट-फेर देखने में आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियों से युक्त है, इसलिए उसके विषय में जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है।

'जैसे घड़े के भीतर बन्द हुआ गौरैया घड़े का मुँह खोल देने पर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देह के भीतर बन्द और देह के बराबर आकार वाला जीव कर्मक्षय हो जाने पर उड़कर परलोक में चला जाता है। इस मत के मानने वाले लोगों की कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी प्रकार मलेच्छों का यह मत है कि जीव देह के बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वर ने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाड़ा जाता है वह वहीं रहता है। ईश्वर कालान्तर में उसके विषय में विचार करते हैं, तब उन्हीं की इच्छा से उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरक में डाला जाता है। आत्म सिद्धि के लिए की गई मलेच्छों की यह कल्पना उनके भाव के अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशों में वह दूषित नहीं मानी जाती है। अपने-अपने मत के अनुसार साधन करने पर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकों के मत में

'जैसे यह लोक है नैसे परलोक भी है। अतः पारलौकिक लाभ के लिए किये गये तीर्थ-स्थान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं है।' ऐसे जो उनकी भक्ति भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिए। जो अपने जिस निश्चय में दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह यदि बालोचित्त चपलता या मूढ़ता के कारण उस निश्चय से हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तु के विषय से विचार कर ले, विचार के बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसी को ग्रहण करे।

जिनके मत में चेतन से शरीरों की कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष वन्दनीय है; परन्तु जिनके मत में शरीर से चेतन की उत्पत्ति होती है, उन नराधमों से बात नहीं करनी चाहिए। ऐसे लोग दुःख से कैसे छूट सकते हैं।

(ब) सब चिन्मात्र रूप हैं

वशिष्ठ जी कहते हैं-रघुनन्दन! चिन्मात्र ही पुरुष है, वही इस प्रकार नाना रूपों में अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्मा के सिवा दूसरी किस वस्तु की सत्ता यहाँ संभव हो सकती है? हमारे पितामह आदि के शरीर मर गये, किन्तु उनका चैतन्य तो नहीं मरा है। यदि वह भी मर जाता तो मृत आत्मा वाले उनका तथा हम लोगों का फिर जन्म नहीं होता। किन्तु पुरुष आविनाशी चिन्मय ही है। वह आकाश के समान नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता। मैं नष्ट होता हूँ, या मरता हूँ इस तरह का जो शोक है, वह सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये न तो मरण दुःखस्वरूप है और न जीवित रहना सुख रूप। यह सब कुछ नहीं है। केवल अनन्त परमात्मा ही इस

तरह स्फुरित हो रहा है।

(स) ज्ञानी का आचरण

श्री राम! ज्ञानी पुरुष यदि जंगल में रहता हो तो वहाँ पत्थर भी उसके मित्र हो जाते हैं, वन के वृक्ष, बन्धु-बान्धव और वन्य मृगों के बच्चे उसके स्वजन बन जाते हैं, विशाल राज्य में रहने पर वह जन समुदाय से भरा स्थान भी उसके लिए शून्य-सा हो जाता है। विपत्तियाँ बड़ी भारी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं। उसके लिए असमाधि भी समाधि है। वाणी का व्यवहार भी मौन है और कर्म भी अकर्म ही है। वह जाग्रत अवस्था में रहकर भी सुषुप्ति में स्थित है। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमान से शून्य होने के कारण मृत के ही तुल्य है। वह समस्त आचार-व्यवहार का पालन करता है, तो भी कभी कर्तृव्य के अभिमान से रहित होने के कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अत्यन्त विरक्त है। करुणा रहित होकर भी सबके प्रति स्नेह रखता है। निर्दय होकर भी अत्यन्त करुणा से भरा हुआ है और स्वयं तृष्णा से शून्य होकर भी पराये हित के लिए तृष्णा रखता है। वह प्राप्त हुई वस्तु का न तो अभिनन्दन करता है और अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा ही। वह हर्ष और विषाद् में नहीं पड़ता। शास्त्र विहित शुभ कर्म से भिन्न दूसरा कोई निषिद्ध कर्म उसे किंचित मात्र भी अच्छा नहीं लगता।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसी से अकस्मात् विरक्त ही होता है। वह धन के लिए याचक होकर नहीं घूमता है और भीतर से वीतराग होकर भी ऊपर से राग युक्त सा जान पड़ता है।

उन तत्त्वज्ञानी महात्माओं का भाव अपने गुणों को छिपाये रखने में ही होता है, दूसरों के सामने प्रदर्शन करने में नहीं, क्योंकि वे वासना शून्य, द्वैत हीन एवं अभिमान से रहित होते हैं। वह बाहर से समस्त शिष्टाचारों के पालन में संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त रहता है।

श्री राम! तत्त्वज्ञान का जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभव से ही जानने योग्य है, उसे दूसरे को दिखाया नहीं जा सकता। तत्त्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता। लोग मुझे जानें और मेरी पूजा करें, ऐसी इच्छा अहंकारियों को होती है। रघुनन्दन! आकाश में गमन आदि जो क्रिया फल है, वे तो मंत्र और औषध के प्रभाव से अज्ञानियों के लिए भी सिद्ध हो जाते हैं। यह आकाश-गमन आदि फल कुछ भी नहीं है-अत्यन्त तुच्छ है। जिसके लिए सारा संसार ही तुच्छ हो गया, उस ज्ञानी महात्मा के लिए एकमात्र परमात्मा से भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है?

(द) इस ग्रन्थ की विशेषंता

श्री राम! शम, दम, आदि साधन से सम्पन्न पुरुष को चाहिए कि वह उद्वेग छोड़कर प्रतिदिन गुरु सुश्रूषा आदि नियम पूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्र का विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनों के लिए हितकार और कल्याणकारी है। इस शास्त्र के सिवा कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन आज तक न तो हुआ और न आगे होगा ही। इसलिए परम बोध की प्राप्ति के लिए इसी का बारंबार विचार एवं मनन करना चाहिए। इस शास्त्र का भलीभाँति विचार करके स्थित हुए पुरुष को स्वयं ही उत्तम परमात्मतत्त्व

का बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान एवं शाप की भाँति यह विलम्ब से अपना फल प्रकट नहीं करता। जो आज ही मरणरूपी आपत्ति से बचने का उपाय नहीं करता, वह मूढ़ रुग्णावस्था में, जब मौत सिर पर सवार हो जाएगी, तब क्या करेगा? जगत् के सभी पदार्थ तभी तक मनोहर प्रतीत होते हैं, जब तक कि उनके स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं किया जाता। विचार करने पर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती।

(य) चिदाकाश का स्वरूप

रघुनन्दन! जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिसमें सबका प्रादुर्भाव होता है, जो सर्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है तथा जो नित्य सर्वमय है, उस परब्रह्म परमात्मा को ही चेतनाकाश या चिदाकाश कहते हैं। स्वर्ग में, भूतल में, बाहर-भीतर तथा दूसरों में जो सम नामक ज्योति स्वरूप परम तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वह चिदाकाश कहलाता है। सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्रा की निवृत्ति होने पर जिससे विश्व प्रकट होता है और जिसकी विक्षेप शक्ति के शान्त होने पर उसका लय हो जाता है, उस परब्रह्म परमात्मा को चिदाकाश कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से युक्त यह इस तरह दृष्टिगोचर होने वाला सारा विश्व जैसा है, उसी रूप में चेतनाकाशमय ही है। अत: इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करते हुए भी अन्त:करण को वासना शून्य रखकर तत्त्वज्ञान द्वारा शुद्ध-बुद्ध एकमात्र सच्चिदानन्दघन रूप हो सुषुप्ति की भाँति स्थित रहना चाहिए वासना शून्य शान्तचित्त हो जीवित रहते हुए भी पाषाण के समान मौन धारण कर परमात्मा में निमग्न रहते हुए ही बोलना चलना और खाना-पीना चाहिए।

आकाश यद्यपि जगत् के सम्पूर्ण दोषों से परिपूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है। मैं समझता हूँ इस आकाश को तत्त्वज्ञानी पुरुष की भाँति सर्वार्थ शून्यता का सुख प्राप्त है। धूप, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, संध्या, विमान, गरुड़, पर्वत देवता और असुर–इन सबके क्षोभ आकाश में ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर वह अपने स्वभाव (निर्विकारता एवं शान्ति) का कभी त्याग नहीं करता। अहो! जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत एवं विचित्र दिखाई देती है। यह जो त्रिभुवन रूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया–ये दो दम्पत्ति चिरकाल से रहते और इसकी रक्षा करते हैं। मालूम होता है आकाश, वृक्ष आदि की अधिक उन्नति को रोकता है–उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता। यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् है और महान् में उसकी महिमा से ही कर्तृव्य का उदय हो जाता है।

जहाँ लाखों जगत् उत्पन्न और विलीन होते हैं, उस आकाश को शून्य कहा जाता है। शून्यतावादी के इस प्रौढ़ पाँडित्य को धिक्कार है। समस्त प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही स्थित रहते हैं और आकाश में ही विलीन होते हैं। इसलिए शास्त्र सिद्ध ईश्वर का लक्षण आकाश में घटित होने के कारण वह ईश्वर रूप ही है। जिसमें इस जगत् रूपी भ्रम का उदय और अस्त होता है, जो असीम होने के कारण समस्त वस्तुओं को अपने शरीर में धारण करता है और त्रिलोकी रूप मणियों का सुविस्तृत आधार है, वह महाकाश चित्तस्वरूप है और परब्रह्म ही है ऐसा मेरा विश्वास है।

(र) ज्ञान से ही संसार भ्रम का विनाश

ब्रह्मा आदि जो स्वयंभू अपने-आप उत्पन्न होने वाले हैं, वे सृष्टि के आदि में स्वयं ही प्रकट होते हैं, क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्र स्वरूप होते हैं, अत: उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टि में न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञान स्वरूप शरीर वाले वे सदा सर्वात्मारूप से स्थित रहते हैं। सृष्टि के आरम्भ काल में जैसे परब्रह्म स्वरूप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं; किन्तु जो अज्ञानी हैं,वे अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। वे इस दृश्य-मय द्वैत प्रपंच को सत्य समझ कर ही पहले मृत्यु को प्राप्त हुए थे। अत: अब उनका कर्म सहित पुन: जन्म दिखाई देता है।

नित्य ब्रह्म स्व-स्वभाव में ही स्थित है। जिसे वह परमात्म स्वरूप ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। जब तक परमात्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, तभी तक माया संसार भ्रम को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। पाँडित्य वही है, जिससे पुन: इस संसार चक्र में पतन नहीं होता। इसलिए विशुद्ध ज्ञान से भरपूर उस पांडित्य की प्राप्ति के लिए अविराम प्रयत्न करना चाहिए। इसके सिवा अन्य किसी उपाय से तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

जो परमधाम रूपी गन्तव्य स्थान के मार्ग के ज्ञाता है तथा जिन्हें आत्मज्ञान का पूर्ण बोध है, ऐसे पंडित जिस गति को प्राप्त होते हैं, उनके सामने इन्द्र का ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तृण के समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोक में कहीं भी ऐसा सुख अथवा ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है, जो पांडित्य से बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जाने से माला में सर्प की

भ्रान्ति तुरन्त मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपंच क्षणमात्र में ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म का जो प्रतिभास है, वही यह जगत् कहा जाता है। जैसे हम लोगों का यह जगत् है, वैसे ही आकाश में अन्य प्राणियों के लाखों जगत् हैं; परंतु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोवर, सागर और कूप में पृथक-पृथक निवास करने वाले मेढ़कों को अपने-अपने निवास स्थान का ही अनुभव रहता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरे के दृश्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही घर में सैंकड़ों मनुष्यों के सैंकड़ों स्वप्न नगर होते हैं; उसी प्रकार आकाश में बहुत से जगत् भासित होते हैं; परन्तु अज्ञानियों के अनुभव में आने से ही उन आकाशीय जगतों की सत्ता है और ज्ञानियों के अनुभव का विषय न होने से वे असत् हैं।

एकमात्र गुरु और शास्त्र के सेवन रूपी अभ्यास से बोध में विश्राम प्राप्त होने पर जब द्वैत और अद्वैत की दृष्टि शान्त हो जाती है, तब चित्त निर्वाण कहलाता है। जो अभिमान और मोह से रहित है, जिन्होंने संग-दोष-आसक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म ज्ञान में लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से निवृत्त हो गई हैं, तथा दो सुख-दुःख संज्ञक द्वन्द्वों में विमुक्त है, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्मा के उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं। (यही श्लोक गीता 15/5 में ज्यों का त्यों हैं।)

अध्याय : 46

वशिष्ठ के उपदेश की समाप्ति

(सर्ग 160–216)

(अ) आत्मा का उद्धार

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है। यदि आत्मा द्वारा आत्मा की रक्षा न की जाय तो फिर उसकी रक्षा का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीव की बाल्यावस्था को ज्ञानहीन होने के कारण पशुता–सी और वृद्धावस्था को मृत्यु तुल्य ही समझना चाहिए। यदि विवेक सम्पन्न हो तो युवावस्था ही उसका जीवन है। इस संसार को प्राप्त होकर सत्-शास्त्र चिन्तन एवं सत्पुरुषों के संग द्वारा अज्ञान रूपी कीचड़ से आत्मा का उद्धार करना चाहिये।

वेदान्तियों, जैनियों, सांख्यवादियों, बौद्धों व्यास आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा वैष्णव आदि आगमों ने भलीभाँति से प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूप में भी हमारा प्रतिपाद्य ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से विभिन्न नामों द्वारा उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है। ब्रह्म की ऐसी ही महिमा है, क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मक है।

(ब) ब्रह्म का सृष्टि रूप

रघुनन्दन! सृष्टियाँ ब्रह्म रूपी समुद्र की तरंग हैं। उनमें

चैतन्य ही जल है। जीवन्मुक्तों के अनुभव में आने वाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियों के दुःखमय जगत् से भिन्न है। वह सच्चिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें द्वैत और एकत्व आदि के दुःखमय भेद किस निमित्त से रह सकते हैं? दृश्य का अत्यन्ताभाव जो बोध है, उसी को परमपद कहा गया है। वही ब्रह्म है और 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है, तथा वह कुछ भी नहीं है।

रघुनन्दन! ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को इसी रूप में जानता है। सम्यक् ज्ञान से परम निर्वाण रूप मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। उसमें ज्यों का त्यों स्थित हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलय को प्राप्त हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है न एकत्व; न कुछ है न कोई है। वह समस्त सद्-असद् भावों की सीमा का अन्त कहा जाता है। जहाँ समस्त विक्षेपों का अभाव हो जाता है तथा जो निरतिशयनान्दरूप से स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्मा को ही परमपद समझना चाहिए।

वह परमात्मा जब तक अज्ञात रहता है, तभी तक अविद्या रूप मल की स्थिति है। इसका यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त चिन्मय परमाकाश रूप है, उस परमात्मा में मल कहाँ से हो सकता है। उस परमात्मा का जैसा प्रलय रूपी निमेष है, वैसा ही सृष्टि रूप उन्मेष भी है। इन्हीं का नाम जगत् है। उसने आँखें खोलीं तो संसार की सृष्टि हो गई और आँखें बन्द की तो जगत् का प्रलय हो गया। जिसका मन जिसमें रम पाता है, उसने उसी को सत् समझा है।

(स) श्री राम का आत्मबोध

श्री राम कहते हैं–ब्रह्मन्! मैं चिदाकाश हूँ। आप चिदाकाश हैं। चित्त चिदाकाश है। जगत् चिदाकाश है और चिदाकाश स्वयं चिदाकाश है। गुरुदेव! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं और ब्रह्माकाश भाव में ही स्थित हैं। मैं आपको चिदाकाश सदृश्य ज्ञेय पूर्णानन्द, ब्रह्म से अभिन्न जानकर प्रणाम करता हूँ। यह जगत् परमाकाश रूप ही है। उस ब्रह्म में मल की आशंका ही व्यर्थ है–वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दघन है। यह सत्स्वरूप ब्रह्म केवल अपने अनुभव से ही जानने योग्य है, बड़े-बड़े महापुरुषों की वाणी भी इसका यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। यह परम ज्ञेय ब्रह्म तुरीय रूप से उपलब्ध होता है, वह अत्यन्त दुर्बोध हो गया है। गुरु और शास्त्र से तुरीय पद का ज्ञान होना कठिन है। शास्त्रों से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(द) मुक्ति का कारण

वशिष्ठ जी कहते हैं–श्री राम! समस्त पदों से परे जो परम बोध है, यह अश्रद्धालु मनुष्य न तो शास्त्र से, न गुरु के उपदेश वाक्य से, न दान से, न ईश्वर के पूजन से ही प्राप्त होता है। ये ब्रह्म प्राप्ति के कारण नहीं है किन्तु परमात्मा में विश्राम प्राप्त कराने में पूर्णतः कारण बन जाते हैं। शास्त्र का बारम्बार अभ्यास करने से श्रद्धालु का चित्त विशुद्ध हो जाता है, तब वह परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। सत् शास्त्र से अविद्या का सात्विक भाग उन्नत बनाया जाता है और उस सात्विक भाग से इसका तामसिक भाग क्षीण हो जाता है। महा वाक्य के श्रवण और उसके अधिकारी पुरुष के योग से ही

आत्मज्ञान का अपरोक्ष अनुभव होता है। वही श्रवण काल सफल है जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है जिससे समता प्राप्त होती है वही समता सफल है जिसके जाग्रत होने पर जाग्रत में भी सुषुप्ति की भाँति परमात्मा के स्वरूप में निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। इस प्रकार यह सब कुछ सत्-शास्त्र एवं सद्गुरु के उपदेश आदि से प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूरा प्रयत्न करके सत्-शास्त्र आदि का अभ्यास करना चाहिए। संसार सागर से पार होने में न तो वनवास कारण है, न अपने देश में ही रहना कारण है, न कष्टसाध्य तपस्या ही कारण है। कर्म का परित्याग करना अथवा कर्मों का आश्रम लेना भी संसार की निवृत्ति में कारण नहीं है।

सत्कर्मों के आचरणों से जो ख्याति लाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फल समूह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार बन्धन से छुटकारा दिलाने में कारण नहीं है। संसार सागर से उद्धार पाने के लिए तो एकमात्र अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति ही कारण है। जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह भवसागर से पार हो जाता है। जिसका मन आसक्ति से रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मों का अनुष्ठान और अशुभ कर्मों का त्याग करता हुआ फिर संसार बन्धन में नहीं आता। जिसकी बुद्धि खोटे विषयों में आसक्त है, जिसने अपने मन को विषयों में खुला छोड़कर रखा है, वह शठ संसार समुद्र में डूबता ही है। जिसकी बुद्धि ने विषयों में रसानुभव किया है, उसकी वह बुद्धि दुःख पर दुःख देने वाली है।

शहद के घड़े में घुसी मक्खी की तरह उसे न तो वहाँ से हटाया जा सकता है और न मारा ही जा सकता है।

काकतालीय संयोग से कदाचित् मोक्ष की सिद्धि के लिए अपने चित्त की स्वयं ही परमात्म साक्षात्कार होने पर तत्त्व की उपलब्धि करके निर्मलता को प्राप्त हुआ चित्त निर्द्वन्द्व, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

रघुनन्दन! 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा समझकर नि:शंक भाव से एकाकी रहो।

(य) सिद्धों द्वारा गुणगान

बाल्मीकि जी कहते हैं–भरद्वाज! निर्वाण सम्बन्धी उपदेश की समाप्ति होने पर मुनीश्वर वशिष्ठ जी ने जब क्रमश: प्राप्त हुआ अन्तिम वाक्य का विराम कर दिया तब समस्त सभासद् तथा आकाशचारी देवता भी मुनि के वचनों के श्रवण से शान्त एवं विशुद्ध मनोवृत्ति से युक्त होकर निर्विकल्प समाधि के समान ब्रह्म की सत्ता को प्राप्त हो गये। तब गगन गुफा में वास करने वाले सिद्धों के मुख से शीघ्र ही ऐसा साधुवाद निकला जो आकाश में गूँज उठा। सिद्धों के साधुवाद के साथ ही देवताओं की दुंदुभियाँ बजने लगीं, जिनकी प्रतिध्वनि से समस्त पर्वत व्याप्त हो गये। दिशाओं की ओर से फूलों की वर्षा होने लगी। जब यह कोलाहल शान्त हुआ तो सिद्धों के ये वचन कानों में सुनाई देने लगे।

सिद्ध बोले–कल्प पर्यन्त सिद्ध पुरुषों की अनेकानेक सभाओं में मोक्ष के उपायों की सहस्रों बार व्याख्याएँ हुईं और सुनी गयीं, परन्तु उनमें जो मोक्ष के उपाय बताये गये हैं वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनि के इस वाक्य-विलास से–इस महारामायण के श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवण से तिर्यग् योनि के जीव, स्त्रियाँ, बालक और सर्प भी परमानन्द को प्राप्त हुए हैं, इसमें

संशय नहीं है। हम लोग अपने कानों की अंजलि से इस ज्ञानामृत का पान करके परम उत्कृष्ट बोध-श्री को प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियाँ पूर्ण तथा नवीन हो गई हैं।

सिद्धों की यह बात सुनकर सभी सभासदों ने प्रशंसापूर्वक साष्टाँग प्रणाम करके वशिष्ठ जी का पूजन किया। राजा दशरथ ने भी उनका पूजन किया तथा कहा कि आप अपनी अभीष्ट इच्छा के अनुसार मुझे अपनी आज्ञा के पालन में नियुक्त करें।

इसके बाद राम ने गुरु के चरणों में मस्तक रखकर वन्दना की तथा फूल चढ़ाये। इसके बाद शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा उनके अन्य सखाओं ने भी मुनीश्वर को प्रणाम किया।

वशिष्ठ जी ने कहा–कमलनयन श्री राम! तुम रघुकुल के चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे हो। बताओ, अब अपनी इच्छा के अनुसार और क्या सुनना चाहते हो? यह स्पष्ट रूप से कहो।

(र) श्री राम का अनुभव वर्णन

श्री राम ने कहा–प्रभो! मैं आपके कृपा प्रसाद से परम निर्मल हूँ। मैं अपने आप में विश्राम सुख का अनुभव करता हूँ। बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से परे हूँ। मन की भी मुझ तक पहुँच होनी कठिन है। मैं सर्वथा निर्विकार हूँ। जैसे आकाश को मुट्ठियों में नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बाँध नहीं सकती हैं। मैं देहातीत और सर्वत्र समभाव से स्थित हूँ। मैं हर्ष, विषाद् और आशा से रहित, स्थिर, एक तथा समता पूर्ण दृष्टि से सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होने के कारण सर्वत्र निःशंक होकर विचरता हूँ। प्रभो! मैं सर्वोपरि

सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। मुझमें विषय सुख की बिल्कुल इच्छा नहीं है। मुझे अपनी इच्छा के अनुसार आज्ञा पालन के कार्य में नियुक्त कीजिए।

वशिष्ठ जी ने कहा-रघुनन्दन! तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मा में विश्राम प्राप्त है। वत्स! बड़े सौभाग्य की बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोध के द्वारा रघुकुल की भूत, भविष्य और वर्तमान की परम्परा को पवित्र कर दिया है। अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्र की याचना पूर्ण करके पिता के साथ इस पृथ्वी का पालन करते हुए सुख से रहो।

तत्पश्चात् श्री राम बोले मुने! मैं ऐसे परमानन्द में सदा निमग्न हूँ, जिसके प्राप्त होने पर किसी को कभी खेद नहीं हो सकता। मैं चिरसुखी हूँ। सदा उदित हूँ एवं सनातन पुरुषार्थ स्वरूप हूँ।

(क) ग्रन्थ की महिमा

बाल्मीकि जी कहते हैं-मेरे शिष्य शिरोमणि परम बुद्धिमान् भरद्वाज! इसी प्रकार तुम भी इसी कमनीय तथा निर्मल ब्रह्मात्म दृष्टि का अवलम्बन करके वीतराग संदेहशून्य शान्त चित्त जीवन्मुक्त होकर सुख से रहो। तुम्हारी बुद्धि तो स्वाभाविक ही आसक्ति के बन्धन से मुक्त है, परन्तु आज इस मोक्षसंहिता को सुनकर तुम वास्तव में मुक्ततर हो गये-सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त हो गये। इस पवित्र तथा ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करने वाले मोक्षोपायों का यदि कोई बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। फिर तुम जैसे महात्मा पुरुष के लिए तो कहना ही क्या है? तृष्णा रूपी चर्ममयी रस्सी से दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अज्ञानी के हृदय में जो

देह और इन्द्रिय के प्रति ममतारूप ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गई हैं, वे सब इस मोक्ष शास्त्र की कथाओं पर विचार करते रहने से सर्वथा खुलकर एक रसता को प्राप्त हो जाती है।

जो इस शास्त्र का दूसरों को उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होंगे। जो इस पुस्तक का पारायण करेंगे, अथवा जो इस पुस्तक को लिखेंगे तथा जो उत्तम तीर्थ क्षेत्र में व्याख्यान कुशल वक्ता की इसकी कथा कहने के लिए नियुक्त करेंगे, वे यदि सकामभाव वाले होंगे तो राजसूय यज्ञ के फल से युक्त हो बारम्बार स्वर्गलोक में जाएँगे और यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुल में जन्म तथा सद्‌गुरु के मुखारविन्द से सत्-शास्त्र के श्रवण का सुयोग पाकर तीसरे जन्म में उसी प्रकार मोक्ष पा लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष धन सम्पत्ति को प्राप्त कर लेते हैं। पूर्व काल में अचिंत्य रूप वाले ब्रह्मा जी ने मेरे द्वारा रचित इस ग्रन्थ पर पूर्ण विचार करके यह बात कही थी कि, 'इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्म का निर्वचन होने के कारण यह मोक्षमयी उत्तम संहिता है।' भरद्वाज! मैंने तुम्हें इस बोध प्रदान करने वाले शास्त्र का श्रवण कराया है। इसे सुनकर जीते जी ही समस्त बन्धनों से मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्म के फल से युक्त अक्षय संपत्ति प्राप्त करके सदा के लिए पूर्ण परमानन्द में निमग्न हो जाओ।

(ख) उपसंहार

श्री बाल्मीकि जी ने राजा अरिष्टनेमि को कहा-राजन्! वशिष्ठ जी का श्री राम को दिया गया सदुपदेश मैंने तुमसे कहा-इस ग्रन्थ में बताए हुए तत्त्वमार्ग से चलकर तुम निश्चय ही उस परमपद को प्राप्त कर लोगे।

राजा अरिष्टनेमि ने कहा–भगवन्! आपको यह दृष्टि संसार-बन्धन का विनाश करने वाली है, जिसके पढ़ते ही मैं संसार सागर से पार हो गया।

'देवदूत बोला–देवांगने! ऐसा कहकर आश्चर्य से चकित नेत्र वाले राजा अरिष्टनेमि मुझसे स्नेह युक्त मधुर वाणी से बोले–देवदूत! आपको नमस्कार है। प्रभो! आपका भला हो, सत्पुरुषों की मैत्री सात पग साथ चलने से ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है। उसे आपने सत्य कर दिखाया। अब आप देवराज के भवन लौट जाइये। आपका कल्याण हो। मैं इस मोक्ष शास्त्र की कथा के श्रवण से परम संतुष्ट एवं आनन्दमग्न हो गया हूँ मैंने जो कुछ सुना है उसका चिन्तन करता हुआ अब यहीं रहूँगा। मेरी सारी चिन्ता दूर हो चुकी है।

भद्रे! राजा अरिष्टनेमि के ऐसा कहने पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जिसे मैंने पहले कभी नहीं हुआ था, वह ज्ञान का सारभूत तत्त्व मुझे सुनने को मिला है। उसी से मेरा अन्तःकरण इस समय अत्यन्त आनन्दमग्न हो गया। बाल्मीकि जी से विदा ले मैं यहाँ तुम्हारे निकट मानो उपदेश देने के लिए ही चला आया था। अब मैं इन्द्रभवन को जाऊँगा।

अग्निवेश्य ने कहा–वत्स कारुण्य! तदन्तर वह सुरुचि नामक अप्सरा देवदूत के मुख से सुने हुए उसी तत्त्वज्ञान का चिन्तन करने लगी। बेटा! क्या तुमने वशिष्ठ जी का उपदेशरूप यह महारामायण शास्त्र सुना? मोक्ष का साधन कर्म है या कर्म त्याग, ऐसा जो तुम्हारा संदेह था, क्या वह दूर हो गया? उस समस्त उपदेश पर पूर्णतः विचार और निश्चय करके तुम जैसा चाहो, वैसा करो।

कारुण्य बोला–भगवन्! इस समय तत्त्वज्ञान होने से मेरी

स्मृति, वाणी और दृष्टि-सत्ता सभी निर्विषय हो गये हैं। अब मुझे न कर्म करने से कोई प्रयोजन है और न कर्म त्याग से। क्योंकि मैं कृतार्थ हो गया तथापि लोक संग्रह के लिए न्यायत: प्राप्त कर्म करता रहूँगा। हठात् कर्म छोड़ देने के लिए भी क्या आग्रह है।

अगस्ति बोले-सुतीक्ष्ण! ऐसा कहकर अग्निवेश्य का विद्वान् पुत्र कारुण्य वर्ण और आश्रम के अनुसार प्राप्त हुए कर्म का अनुष्ठान करने लगा। अत: सुतीक्ष्ण! मोक्ष का साधन ज्ञान है या कर्म-ऐसा संशय नहीं करना चाहिए। संशय करने से जीव परम पुरुषार्थ रूपी स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, संशयात्मा का विनाश हो जाता है।

सुतीक्ष्ण बोले-भगवन्! आपकी कृपा से मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया। मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई। जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य स्फुरित होता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है। आपके प्रसाद से ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर मैं कृतार्थ हो गया। गुरुदेव! आपको नमस्कार है। 'यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म में ही लीन होता और ब्रह्म से ही जीवन धारण करता है।' उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध समाप्त

योग-वाशिष्ठ सम्पूर्ण